वर्ष-12, अंक 47
जनवरी-मार्च 2026

ISSN 2347-6605

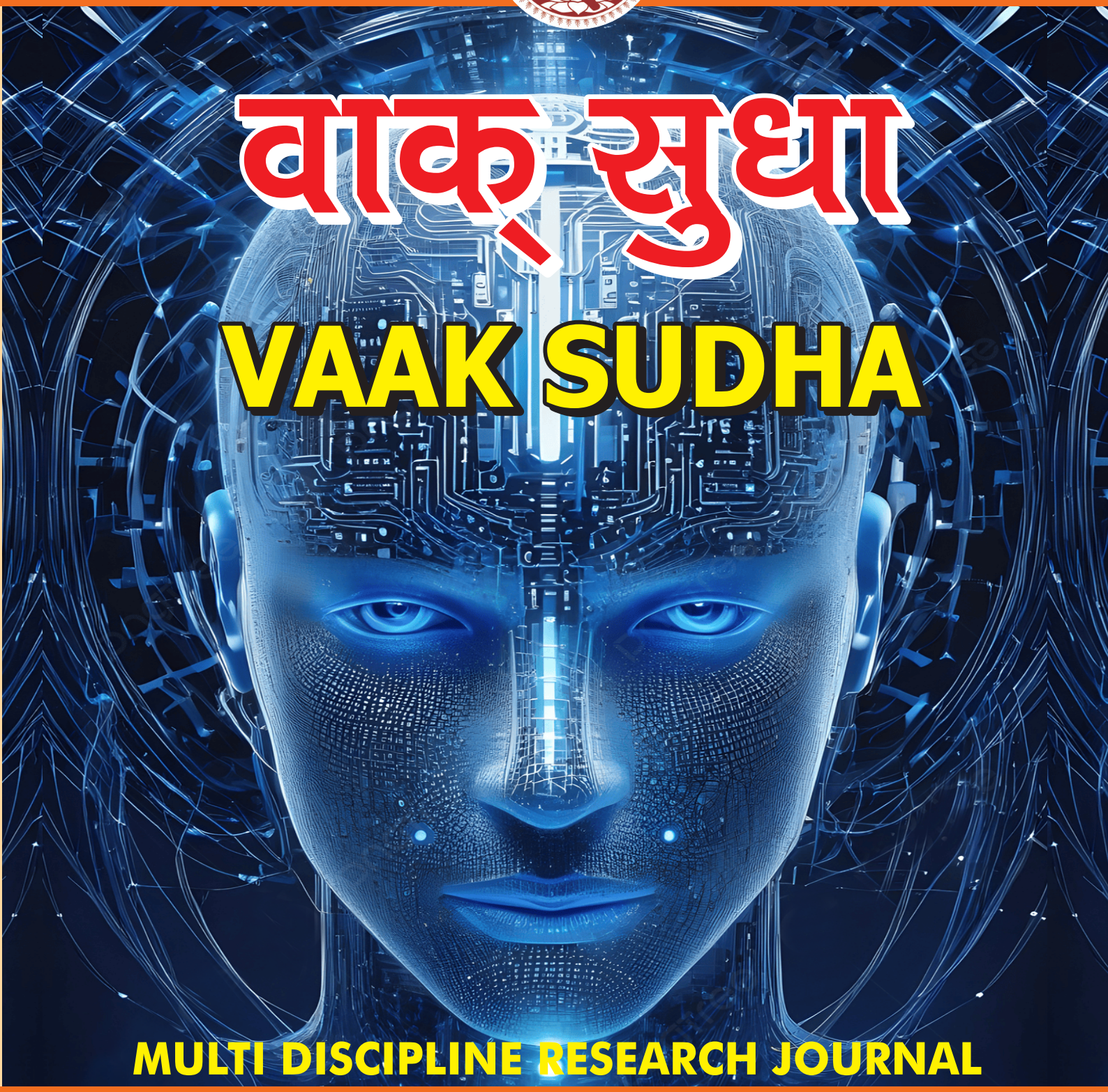

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

MULTI DISCIPLINE RESEARCH JOURNAL

AN INTERNATIONAL REFEREED QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

A SCHOLARLY PEER REVIEWED JOURNAL

Website : http://vsirj.com

वर्ष : 12 • अंक : 47 • जनवरी-मार्च 2026 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *vii*

आधुनिक राष्ट्र के निर्माण में संत साहित्य का अवदान 1
डॉ. कुमारी अनीता

प्रौढ़ शिक्षा के विकास में बौद्ध शिक्षा की भूमिका : एक समग्र विश्लेषण 6
परवेज

राजेश जोशी की कविता में बाजार का विस्तार और मानवीय मूल्य 12
डॉ. मंजू

हिंदी प्रदेश के लोकगीतों में स्त्री अभिव्यक्ति 19
हेमन्त कुमार दोशी

गजल संग्रह दरिया की बातें पत्थर से : एक साहित्यिक अनुशीलन 24
धनंजय

सूरदास के काव्य में नारी 28
सोमवती माहौर

मानव अधिकारों के संरक्षण में सर्वोच्च न्यायालय के महत्वपूर्ण निर्णय 34
जितेन्द्र भारती

श्री कृपालु जी महाराज की राधा विषयक अवधारणा .. 41
डॉ. सुनीता शर्मा

विरोधी मार्गों के मिलनबिंदु का चिंतक - आचार्य विष्णुकांत शास्त्रिबी 43
पीयूष पाण्डेय

भक्त-कवियों की सांस्कृतिक चेतना 48
गौरव वर्मा

दलित साहित्य में प्रामाणिक अनुभव और उसकी सार्थकता का पुनर्मूल्यांकन 53
प्रिंस गुप्ता

कुबेरनाथ राय कृत 'प्रिया नीलकण्ठी' निबन्ध संग्रह का अध्ययन 58
तलत जेबा

प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता 65
रंजन कुमार पंडित / डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार ब्रजेश

फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य में वर्णित मिथिला की लोक-परम्पराएँ : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन 68
शिखा मिश्रा

हिंदी बाल नाटकों के रंग की संवेदना 74
डॉ. संजय कुमार सेठ

प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा में स्त्री 79
प्राची ठाकुर

'जमीन पक रही है' काव्य- संग्रह (केदारनाथ सिंह) में लोक-पक्ष का पुनर्मूल्यांकन 84
चंचला कुमारी

सतरंगे पंखों वाली (काव्य-संग्रह) में हाशिए के समाज का यथार्थ 88
दीक्षा सिंह

''कितनी नावों में कितनी बार'' (काव्य-संग्रह) के नये सन्दर्भ 93
खुशी

स्वयं प्रकाश की कहानियों का समाजशास्त्र 97
डॉ. राजकुमार राजन

मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक में सांकेतिक परिप्रेक्ष्य 102
मुद्रा मिश्रा

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ का तुलनात्मक अध्ययन 108
विश्वजीत वर्मा

लोक नाटक : एक स्वछंदता और जीवन शैली 115
डॉ. रेनू कुकरेती

'हरी घास पर क्षण भर' काव्य संग्रह में प्रकृति 118
मुस्कान कुमारी पटेल

भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति : चरित्र-सृष्टि और नाट्य-संवेदन 121
डॉ. प्रमिला

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्यशासन का स्वरूप : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 124
हिमानी

संस्कृत व्याकरण परम्परा का क्रमिक विकास : एक समीक्षात्मक अध्ययन 127
गौरव रतूड़ी

अष्टावक्र गीता की वर्तमान में प्रासंगिकता 132
गौरव

भट्टिकाव्य का व्याकरणात्मक विश्लेषण 140
पवित्रा बालाजी

आर्यशूरकृतजातकमालायाः निर्वाचितजातकत्रयेषु मैत्रीकरुणयोर्माहात्म्यविचारः 145
डॉ. स्वपन-मालः
जैन दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा ... 152
शिवानी
संस्कृत लौकिक साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वरूप.... 156
सुजल शर्मा
ज्योतिषशास्त्रे दशाफलविमर्शः..... 162
प्रो. परमानन्द भारद्वाजः
रामायण और महाभारत में वर्णित राजधर्म की मूल अवधारणा का चिंतन 168
तनिष कुमार देवड़ा
संजीव के उपन्यास 'मुझे पहचानो' में स्त्री जीवन और सामाजिक परम्पराएँ..... 174
डॉ० मोहित
भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण के महत्व 176
Dr. Binita Oraon
भारतीय ज्ञान परम्परा और अथर्ववेद 179
डॉ. धनेश कुमार सुमन
कृष्णभक्त मुसलमान कवयित्रियाँ : एक अध्ययन... 184
हेमंत कुमार

सम्पादकीय

आज का समय आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) के विस्फोटक विकास का समय है। 2025-26 में एआई ने सिर्फ टेक्नोलॉजी का चेहरा मात्र ही नहीं बदला बल्कि नौकरियां, अर्थव्यवस्था, शिक्षा और सामाजिक संरचना को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है। कहने का आशय यह है कि विश्व का कोई भी हिस्सा एआई से बचा नहीं है। टेक्नोलॉजी के माध्यम से विश्व इतनी तेजी से बदल रहा है जिस पर गंभीर शोध की आवश्यकता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए 16 से 21 फरवरी तक दिल्ली में हुए एआई इंपैक्ट समिट 2026 ने भारत का नाम वैश्विक स्तर पर पहुंचा दिया। भारत एआई का कितना बड़ा बाजार है इसका अनुमान ऑल्टमैन के संबोधन से पता चलता है जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत में चैट जीपीटी का उपयोग 10 करोड़ से ज्यादा हो रहा है। वहीं वैश्विक स्तर पर 80 करोड़ से ज्यादा लोग इसका इस्तेमाल करते हैं। इस समिट में आम लोगों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया, भारत मंडपम् में कुल तेरह देशों के मंडप लगे हुए थे। जिसमें आस्ट्रेलिया, जापान, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड, स्विट्जरलैंड, कजाकिस्तान आदि देश शामिल थे।

गत वर्ष सितंबर में यूरोपीय देश अल्बानिया में पहली बार आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस मंत्री की नियुक्ति की घोषणा की गई। इस वर्चुअल मंत्री का नाम रखा गया 'डिएला' जिसका अल्बानिया भाषा में अर्थ होता है ''सूर्य''। पारंपरिक परिधान पहने स्क्रीन पर संसद को संबोधित करती 'डिएला' को एक ऐसा पारदर्शी और भ्रष्टाचार मुक्त प्रणाली के प्रतीक रूप में पेश किया गया था, जिसके पास ना कोई भावनाएं थीं और न कोई पक्षपात करने की कोई मानवीय कमजोरी। लेकिन इस तकनीकी चमत्कार ने कानून और मानवीय संकट को एक अलग तरह से प्रस्तुत किया है।

अपने देश में यह एक तथ्य है कि कोई भी काम बिना विघ्न, बाधा के संपन्न नहीं होता तो इसलिए समिट में भी विघ्न बाधाएं हुईं। पहले दिन भीड़ ज्यादा होने के कारण कई लोगों को दिक्कतों का सामना करना पड़ा। विदेशी प्रतिभागियों को भी बहुत परेशान हुई और इन मुद्दों पर सरकार और अपने मंत्री महोदय ने भी माफी मांगी। अगले दिन गलगोटिया विश्वविद्यालय में एक ऐसा रोबोट दिखाया और उसमें इंटरव्यू देकर वहां के प्रोफेसर नेहा सिंह ने उसे देश में निर्मित बताते हुए विश्वविद्यालय की शान में ऐसे ऐसे कसीदे किए जिससे देश-विदेश में वाहवाही होने लगी। बाद में पता चला कि वह जो रोबोट है उसे कोई भी खरीद सकता है। मात्र कुछ रुपए में ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर भी उपलब्ध है। गलगोटिया विश्वविद्यालय ने सरकार की किरकिरी कराई फिर सरकार ने उसको वहां से हटाने का आदेश दे दिया। दूसरी तरफ अगले दिन युवा कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता जो मूलत: कांग्रेस के गुंडे लोग थे जो शीर्ष नेतृत्व के कहने पर अपना शर्ट खोलकर वहां पहुंच गए और फिर जो खबरों का खेल चला वह सब आपके सामने है। देश की प्रतिष्ठा, देश के सम्मान और देश के संप्रभुता पर हमला किया गया। जबकि हर जगह देश की प्रशंसा हो रही थी। दुनिया यह मान चुका था कि अमेरिका और चीन के बाद तीसरे नंबर भारत है।

फ्रांस के राष्ट्रपति ने यहां तक कहा कि 10 साल पहले तक मुंबई में सड़क किनारे बैठा रेड्डी-पटरी वाला न पैसा दे सकता था न ले सकता था। आज सब जगह यूपीआई है। इस समिट के दौरान देश के तीन एआई मॉडल को लांच किया गया, जिसके नाम हैं—सर्वम्, ज्ञानी, और भारतजेन। इन मॉडल्स का फोकस भारत की भाषाओं के प्रयोग पर था इसलिए इसकी चर्चा इस सम्पादकीय में और पत्रिका के मुख पृष्ठ पर किया गया है।

– डॉ. रूपेश कुमार चौहान

डॉ. कुमारी अनीता

आधुनिक राष्ट्र के निर्माण में संत साहित्य का अवदान

भारतवर्ष विश्व के मानचित्र पर अपना एक विशेष स्थान रखता है। वैदिक काल से लेकर आज तक इसका एक गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस देश को ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, भक्तों, संतों, त्यागियों एवं वीतरागियों की एक सुदीर्ध परंपरा प्राप्त है। इनमें से अधिकांश का जीवन राष्ट्रोपयोगी रहा है। वैदिक ऋषियों की तरह ही संतों ने भी अपनी भक्ति, ज्ञान, साधना, साहित्य, चिन्तन, लेखन एवं वक्तव्यों से भारत को समय-समय पर समृद्ध किया। संत साहित्यकारों ने अपने अलौकिक ज्ञान, अपनी ईश्वरानुरक्ति, अपने उत्कृष्ट त्याग भावना, यथासमय समाज को त्याग, अहिंसा, परोपकार, धैर्य प्रभृति गुणों से आप्लावित किया है। संत साहित्यकारों ने सम्पूर्ण भारत को प्रशंसनीय साहित्यों के द्वारा एक भव्य राष्ट्र निर्माण में जो योगदान दिया है उसका दिक्दर्शन इस संक्षिप्त आलेख में मैंने उकेरने का लघु प्रयास किया है।

''चिंतन एवं अनुभूति मानव जीवन तथा समाज के दो पक्ष दो स्तम्भ हैं। इनमें से एक का संबंध आध्यात्मिक उपलब्धियों से और द्वितीय का संबंध सामाजिक जीवन की उपलब्धियों से है। संत साहित्य का संबंध इन दोनों से है। संतों की अभिव्यक्ति का आधार है उनकी अनुभूति। यह अनुभूति बहुमुखी है। कभी वह वह राष्ट्र की अनुभूति है, कभी जीवन की, कभी दार्शनिक जीवन की, कभी ब्रह्मानुभूति की।''[1] जीवन को निकट से देखकर उसे पहचान कर उसके गूढ़ तत्व की ओर उन्होंने जनता का ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी दृष्टि में जीवन की कितनी महत्ता, कितनी उपयोगिता थी, यह निम्नलिखित साखी से स्पष्ट हो जाता है–

कबीर काहा गरवियो, इस जीवन की आस।
टेसू फूले चारि दिन, खोखर भए पलास॥

फूल खिलता और फिर झर जाता है। इसी तरह मानव जीवन भी बहुत अल्प समय के लिए है। अत: गर्व नहीं करना चाहिए।

संत शिरोमणि कबीर की ही तरह अन्य कवियों के स्वर में भी जीवन संबंधी इसी तरह के उद्गार भरे हुए हैं। सुन्दर दास की दृष्टि में मानव जीवन दुर्लभ है। वे कहते हैं-

बेर-बेर नहि पाइए सुन्दर मानुष देह।[2]

''जीवन में सौम्यता, सुष्ठुता तथा सुव्यवस्था प्रदान करने के लिए संतों ने अनेक प्रकार के व्रतों या संयमों को धारण करने के उपदेश दिये हैं। ये व्रत जहाँ एक ओर धर्म के क्षेत्र में मानव को मुक्ति दिलाने में सहायक हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक जीवन में इनकी बड़ी महत्ता है।''[3]

सभी संतों ने एक स्वर में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, संतोष तथा दया पर अत्यधिक जोर दिया है। जीवन को सुखी और सार्थक बनाने के लिए एवं व्यवस्थित समाज को संरचना के लिए कुछ नियमों का पालन करना अत्यावश्यक हो जाता है। आज के संतों—महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शिवानन्द, ज्योतिमर्यानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि ने भी इन गुणों को अपनाने के लिए बार-बार कहा है।

सत्य के महत्व को सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है और इस पर सर्वसाधारण को चलने के लिए आह्वान किया है ताकि उनका जीवन सफल हो। सत्य ईश्वर का पर्याय है। सत्य जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। सत्य से बढ़कर

दूसरा धर्म नहीं है।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप॥[4]

इसी तरह संत दादू ने भी अपना भाव व्यक्त किया है-

साँची नाव अलाह का, साई सति करिजाणि।
निहचल करि ले बंदगी, दादू सा वर वाणि॥[5]

''संत कवि गरीब दास के मत में सत्य ही ब्रह्म है, अत: समस्त जंजाल का परित्याग करके सत्य का परिपालन करना चाहिए।''[6]

इन संतों की वाणी में सत्य के संबंध में जिस मत का प्रतिपादन हुआ है, वह धार्मिक जीवन तथा सामाजिक जीवन में समान रूप से उपयोगी, वांछनीय तथा महत्वपूर्ण है। हमारे युगपुरुषों ने सदैव सत्य का समर्थन किया और नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करते हुए भी सत्य के पथ पर अडिग रहे। सामाजिकता की दृष्टि से इसका और महत्व है। आज भी इसी सत्य और अहिंसा का प्रचार सर्वत्र चल रहा है जिसका अनुकरण कर देश, समाज और संपूर्ण मानव जाति लाभान्वित हो सकती है।

हिंसा के संबंध में भी प्राय: सभी संत कवियों ने अपने उद्‌गार प्रकट किए हैं। ''संतों का अहिंसावाद बहुत अंशों में बौद्ध धर्म से प्रभावित है और इस शताब्दी में उसने महात्मा गाँधी को अहिंसा दर्शन स्थापित करने की प्रेरणा दी।''[7]

''संत कबीर ने मांसाहर करने वाले मानव को प्रत्यक्ष राक्षस कहा है। उनका कथन है कि ऐसे प्राणी जो मांसाहार में प्रवृत्त हैं, नरक की यातनाओं का उपभोग करते हैं।''[8]

इसी प्रकार के भाव दादू ने भी प्रकट किया है-

सब सूरति सुबहान की मुल्ला, मुग्धन मारि।[9]

मानव अपने मन पर, विषयों पर तथा इन्द्रियों पर अंकुश नहीं रखता इन्हें मारने की चेष्टा नहीं करता, वह दूसरे जीवों को मारता है। ऐसे प्राणी ईश्वर साक्षात्कार कभी नहीं कर सकते।

संत मलूक दास का कथन है-

हरि डॉरि ना तोड़िए, लागे छूरा बान
दास मलूका यों कहे, अपना सा जीवन जान॥[10]

अर्थात् अपने जैसा ही दूसरे जीवों को समझना चाहिए। जीव हत्या से स्वयं को छुरा, वाण लगने का खतरा रहता है।

संत धरनी दास ने हिंसा करनेवालों पर करारा चोट करते हुए कहा है-

मांस अहारी जभरा सो पुनि कथे गियान।
माँगि है घूँघट करे, धरनी देखि लजान॥[11]

वह प्राणी धन्य है जो दूसरे के कष्टों तथा दुखों को अपना समझता है। तथा दूसरों की विपत्तियों में सहायक होता है। वह महान् आत्मा पूजनीय है जो संसार में रह कर भी भगवान् की उपासना करता है। ऐसे पुरुष के समक्ष सारा ज्ञान नतमस्तक है।

इसी तरह संत साहित्य में अस्तेय पर भी अत्यधिक जोर दिया गया है। अस्तेय के अनुसार बिना दूसरे की वस्तु पर अधिकार किए, धर्मानुसार जो कुछ प्राप्ति हो वही अर्जन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में चोरी, अत्याचार और अन्याय से अपने को सर्वथा अलग रखना चाहिए।

कबीर आप ठगाइए और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख उपजै, और ठगे दुख होय॥[12]

नाजायज ढंग से दूसरे को धोखा देकर या मूर्ख बनाकर धन का उपार्जन करना सर्वथा निन्दनीय है। दूसरे को ठगने का परिणाम सर्वदा दुखदायी होता है, पर स्वयं कुछ हानि उठाकर भी सत्पथ से विचलित न हो तो बहुत बड़ी आत्मिक शान्ति की प्राप्ति होती है। संत मत के अनुसार जो संसार इतना नश्वर है, जो जीवन इतना क्षणिक है, उसके लिए इतनी योजना तथा संकलन की क्या आवश्यकता है?

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

मनुष्य मरणशील प्राणी है। मृत्यु को अंगीकार करना ही होगा, ऐसी स्थिति में पड़कर मानव जीवन की सार्थकता को नष्ट करना मूर्खता ही तो है।

''इसी प्रकार हिन्दी के संत कवियों ने 'संतोष' के संबंध में भी उदार दृष्टिकोण रखा है। उनके अनुसार संतोषी मानव का मन सदा सुखमय बना रहता है।''[13] जिसका मन संतुष्ट है उसे कभी दरिद्र नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के संत कवियों ने संतोष को जीवन के लिए आवश्यक तथा वरदान माना है।

गो धन, गज धन, बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥[14]

संतों ने संतोष को सामाजिक जीवन के लिए नितान्त आवश्यक माना है। वह व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता जो संतोष जैसी वृत्ति से अपरिचित है। इसी तरह धृति अर्थात् धैर्य के संबंध में भी संत कवियों ने यथेष्ट प्रकाश डाला है। संत मतानुसार जैसे सागर अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करता, वैसे ही धैर्य से परिस्थितियों में समानचित्त रहता है।[15] साधनात्मक

जीवन में धैर्य की बड़ी अनिवार्यता है। इस सत्य को कबीर ने सरल सीधी भाषा में व्यक्त किया है।

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा रितु आये फल देय॥[16]

इसी प्रकार संत दूलन दास ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है-

दूलन धीरज खंभ कहिं, जिकिरि बडेरा लाई।
सूरत डॉरी पोढि करि, पाँच पचीस भुलाई॥[17]

हठयोग या राजयोग की साधना में धैर्य की बड़ी आवश्यकता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण की सीमाओं को अधिकारपूर्वक पार करता हुआ मानव या साधक समाधि की भूमिका में पदार्पण करता है। इनमें से एक की उपेक्षा कर यदि साधक अधैर्यपूर्वक साधना में अनुरक्त हो जाए तो साधना में कभी सफल नहीं हो सकता। संत मलूक दास ने भी कहा है-

धीरज हिरदे मां धारी संतो,
धीरे-धीरे सूरज उगवे, धीरे-धीरे अस्तुमं पावै।[18]

संत मत में पग-पग पर इस प्रवृत्ति को धारण करने का उपदेश दिया गया है जो सब काल और सब परिस्थिति के लिए मंगलकारी है।

इसी प्रकार, 'दम' की महत्ता पर भी संत साहित्य में काफी लिखा गया है। 'दम' का तात्पर्य है - ''मन को इन्द्रियाँ के वशीभूत नहीं होने देना। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि इन्द्रियों विषय की ओर दौड़ती हैं और इस परिस्थिति में मन भी इन्द्रियों का साथ देता है। इस प्रकार वह मानव की बुद्धि का विनाश कर देता है।''[19] महाभारत में भी कहा गया है कि मन का दमन करने से ही तेज बढ़ता है, मानव तेजस्वी होता है, पाप नष्ट होते हैं और मन ब्रह्मकार होता है।''[20]

गीता और महाभारत की इसी परंपरा में संत कवियों ने भी मनोनिग्रह पर अत्यधिक बल दिया है। कबीर का कथन है-

मन को मारुं पटकि के, टूक-टूक होई जाय।
विष की क्यारी बोई के लुनत क्यों पछिताय।[21]

कबीर ने मन को वश में करने की युक्ति बताई है, अन्यथा इसका परिणाम निस्संदेह दुखदायी होगा जिसके लिए स्वयं पछताना होगा। आगे कबीर कहते हैं-

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौर।
सहजे हीरा ऊपजै, जो मन आवै ठौर॥[22]

मन सभी शक्तियों से प्रबल है, पर वह दमन करने योग्य है और साधकों ने इसका दमन किया है। दमन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के लिए भी अत्यावश्यक है। सामाजिक जीवन में मन के दमन से मानव अनेक विपत्तियों तथा कष्टों से बच जाता है। इसका उल्लेख संतों ने साहित्य में बारंबार किया है।

''संतमत प्रत्येक स्थिति में मन के संतुलन को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करता है।''[23] कहा जाता है कि संत भगवान् के रूप होते हैं, इनके द्वारा देश, समाज और व्यक्ति की भलाई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य होती है। इनके उपदेश प्रेरणादायक होते हैं और मार्गदर्शक का काम करते हैं। संत साहित्य के अन्तर्गत सूर, तुलसी, कबीर, नानक, मीरा, दादू, मलूक दास, सहजोबाई, दयाबाई इत्यादि की रचनाएँ आ जाती हैं।

भक्ति और नैतिकता की प्रधानता इन सबों की रचनाओं में पाई जाती है।

दीनदयाल सदा सुख भंजन
तासो मन को लगाना
साधो यह जग भरम भुलाना।
रामनाम का सुमिरन छोड़ा,
माया हाथ बिकाना,
नानक यह जग भरम भुलाना॥[24]

सिक्ख संप्रदाय के माननीय गुरु संत नानक ने अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओं द्वारा साम्प्रदायिकता मिटाने, देशभक्ति का प्रचार करने और आध्यात्मिक उत्थान हेतु अथक प्रयत्न किया है। इनके द्वारा दिये गए उपदेश ''गुरु ग्रंथ साहिब'' नाम से विख्यात ग्रंथ में संकलित हैं जो सिक्खों के लिए गुरु रूप में माननीय है।

हरि बिनु तेरो कौन सहाई।
ताके मातु पिता सुत वनिता
तू काहू को नाही।
तन छूटे कछु संग न जाई
जहाँ की तहाँ रहि जाई
नानक कहत जगत सब मिथ्या।[25]

जीवन की निस्सारता की ओर ध्यान खींचते हुए गुरु नानक ने भक्ति पर जोर दिया है। आज भी नानक के पदों का पाठ गुरुद्वाराओं में नियमित रूप से किया जाता है।

उसी प्रकार संतकाल के अन्य कवि—मलूक दास, सहजोबाई आदि ने भी अपने उद्‌गारों के द्वारा संत साहित्य के भंडार को भरा है। इसी परंपरा में संत तुलसी दास, संत सूरदास

का नाम भी आता है। जिन्होंने अमूल्य कृतियों द्वारा संत साहित्य को सम्मानित किया। तुलसीकृत रामायण और सूर-रचित सूर सागर हिन्दू जाति के अतिप्रिय धार्मिक ग्रंथ हैं। रामायण के प्रति जनसाधारण का जो प्रेम और महत्व है वह सर्वविदित है। इसमें भी भक्ति और नीतिमूलक पदों का बाहुल्य है जो निस्संदेह देश, समाज और व्यक्ति के लिए उपयोगी है।

तुलसी इस संसार में भाँति-भाँति के लोग।
सबसे हिलमिल चलिए, नदी-नाव संयोग।[26]

उपर्युक्त पंक्तियाँ एकता की भावना को मजबूत करने के लिए प्रकाश स्तंभ है।

जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।[27]

उपर्युक्त पद में सद्गुण अपनाने की ओर इंगित किया गया है जो कि सुख-सम्पत्ति लाने में सहायक है। इसके विपरीत कुमति रहने पर एक न एक दिन विपत्ति का आना अनिवार्य है।

संत सूरदास ने भी कृष्णभक्ति का प्रचार कर लोगों में भक्ति तथा सद्ज्ञान का संचार किया।

अब हम नाच्यो बहुत गोपाल।
काम-क्रोध की पहन चोलना, कंठ विषय को माल॥[28]

''प्रेम की प्रधानता संभी संतों ने मानी है। भगवान् के प्रेम में वे सभी आनन्द विभोर दिखते हैं।

पोथि पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥[29]

उन संतों की प्रबल आकांक्षा रहती है कि भगवत् प्रेम के इस अलौकिक सुख का आस्वादन सब लोग करें।

सुख सागर में आय के मत जा रे प्यासा।
अजहुँ समझ नर बावरे, जनि करत निरासा॥[30]

संत मलूक दास ने इसी प्रकार भक्ति भाव से परिपूर्ण रचनाएँ की हैं-

दीन बन्धु, दीनानाथ, मेरी सुधि लीजै।
भाई नहिं, बन्धु नहिं
कुटुम्ब अरु मीत नहिं,
कहते हैं मलूक दास, छाड़ि दे पराई आस,
दीन बन्धु दीनानाथ, मेरी सुधि लीजै॥[31]

संत साहित्य का अवलोकन करने पर सम्पूर्ण भारत में अनेक संतों के विषय में ज्ञानवर्द्धक जानकारी मिलती है। संत नागा निरंकारी का नाम भी उत्तर भारत में श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनके अनुसार कर्म-योग से ऊपर उठने का एक मात्र उपाय परमात्मा का भजन है। पुण्य कार्य बढ़ा देने तथा परमात्मा का निरंतर भजन करने से पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। उन्होंने अपने एक पद में कहा है-

पड़ी मेरी नइया विकट मझधार।
यह भारी अथाह भवसागर,
तुम प्रभु करो सहार।
खुले कपाट यांत्रिका हिय के,
जहूँ देखूँ निर्विकार।
नागा लहै सुनो भाई संतों,
सत्य नाम करतार।''

(ब्रह्मवाणी)[32]

इसी तरह दक्षिण भारत में भी अनेक संत हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से संत साहित्य के भंडार को सुशोभित किया। इनमें संत राम दास, शंकर, संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, विट्ठल दास, नामदेव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ''आंध्र प्रदेश के गाँव-गाँव और शहर-शहर में श्रीराम जी के मंदिर दिखाई पड़ते हैं। राम नवमी के शुभ अवसर पर ऐसा कोई भी राम मंदिर मिलना कठिन है जहाँ उसी प्रान्त के प्रसिद्ध भक्त कवि श्री रामदास के कीर्तन का गायन या भजन न होता हो।''[33]

''राम दास चरित'' नामक ग्रंथ से रामदास के जीवन के संबंध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उक्त ग्रंथ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि संत कबीर दास जी दक्षिण की यात्रा करते समय श्री राम दास जी के गाँव में पहुँचे और उन्हें राम मंत्र देकर रामभक्ति में दीक्षित किया।''[34]

श्री रामदास जी के लगभग एक सौ कीर्तन देखने को मिलते हैं। उनके कीर्तन पांडित्य प्रदर्शन से रहित, सरल, स्पष्ट तथा भक्तिपूर्ण हैं। संगीत उनकी भक्ति-साधना का केवल एक उपकरण मात्र था।

कबीर की तरह रामदास ने भी भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मान्यता देते हुए कहा है—''जन्म-मरण के चक्र से छूटने का एकमात्र उपाय श्रीराम-भक्ति ही है।'' वे पत्नी, पुत्र, संपत्ति और शरीर में प्रगाढ़ आसक्ति रखने वाले लोगों को चेतावनी देते हैं कि शरीर को छोड़कर जीव के एकाकी प्रस्थान करते समय इनमें से कोई भी उसका साथ नहीं देगा। उनकी दृष्टि में यह समस्त राममय है और प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में आत्मा रूप में श्रीराम का निवास है। इसलिए वे मानव-सेवा पर अधिक बल

देते हैं।[35]

इस तरह संत एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, संत नामदेव आदि संतों ने भी दक्षिण भारत में भक्ति भावना का प्रचार कर मानवता की सेवा की। आज भी दक्षिण में इन संतों की पूजा-अर्चना भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के साथ की जाती है और उनके द्वारा रचित संत साहित्य को लोग प्रेम पूर्वक पढ़ते हैं।

''संत वाणी परम अनुभूतिमयी होती है। मन लगाकर परमेश्वर का भजन करने से हृदय निर्मल होने पर सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है और परम शान्ति मिलती है।''[36]

''संत साहित्य ने हिन्दू समाज के दलित वर्ग में स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की। अछूतोद्धार की भावना, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, धार्मिक आडम्बरों के प्रति उपेक्षा, भक्ति का लौकिक दृष्टिकोण आदि बातें संतों की ही देन मानी जा सकती है।''[37]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत साहित्य ने जनता और समाज का यथेष्ट उपकार किया। उसकी उपयोगिता उस काल में भी थी और आज भी है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. कल्याण का धर्मांक नामक विशेषांक
2. संत वाणी संग्रह, पृष्ठ 111
3. कल्याण का धर्मांक, फरवरी 66, पृष्ठ 534
4. कल्याण का धर्मांक, संतवाणी- पृष्ठ 49
5. कल्याण का धर्मांक, संतवाणी संग्रह, पृष्ठ 94
6. कल्याण का धर्मांक, संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 203
7. कल्याण का धर्मांक, फरवरी 62, पृष्ठ 536
8. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 61
9. संतवाणी संग्रह, भाग-1, साखी संख्या 3, पृष्ठ 92
10. संतवाणी संग्रह, भाग-1, साखी संख्या 2, पृष्ठ 104
11. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 116
12. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 11
13. कल्याण का धर्मांक, फरवरी 66, पृष्ठ 539
14. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 191
15. महाभारत, शांतिपर्व।
16. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 51
17. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 137
18. शब्द संग्रह-पद 20. कल्याण धर्मांक फरवरी 66, पृष्ठ 540
19. गीता, अध्याय 2/67
20. कल्याण का धर्मांक, फरवरी 66, पृष्ठ 540
21. संतवाणी संग्रह, भाग-1 पृष्ठ 55
22. संतवाणी संग्रह, भाग-1 पृष्ठ 56
23. डॉ प्रताप सिंह चौहान कबीर साधना और साहित्य पृष्ठ 259
24. आकाशवाणी, पटना (विविध भारती) दिनांक 19-1-89
25. आकाशवाणी, पटना (विविध भारती) दिनांक 30-8-89
26. तुलसी दास रामचरितमानस
27. तुलसी दास, रामचरितमानस
28. सूरदास, सूर सागर
29. कबीर दास कबीर के दोहे
30. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर - पृष्ठ 226
31. आकाशवाणी, पटना, 4-11-84
32. कल्याण, नवम्बर 1972, पृष्ठ 1243
33. कल्याण, जून 1978, पृष्ठ 788
34. कल्याण, जून 1978, पृष्ठ 788
35. कल्याण, जून 1978, पृष्ठ 789
36. कल्याण, नवम्बर 1972, पृष्ठ 1243
37. कल्याण. नवम्बर 1972, पृष्ठ 1243

प्रौढ़ शिक्षा के विकास में बौद्ध शिक्षा की भूमिका : एक समग्र विश्लेषण

परवेज*

प्रस्तावना

प्रौढ़ शिक्षा (एडल्ट एजुकेशन) के क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिसमें मैल्कम शेफर्ड नोल्स, जैक मेजिरो और पाउलो फ्रेइरे जैसे विद्वान् इस क्षेत्र में बहुत ही अद्‌भुत कार्य कर चुके हैं। लेकिन इसके बावजूद भी यह क्षेत्र अभी भी अनेक समस्याओं से जूझता हुआ दिखाई देता है। जैसे भारत में प्रौढ़ शिक्षा को साक्षरता और परिणाम-आधारित बनाया गया है, जिससे सारा ध्यान केवल शिक्षा पर केंद्रित कर दिया जाता है। इस वजह से विचारों पर ध्यान केंद्रित नहीं हुआ है, जिससे विचारों में बिखराव नजर आता है। इस पद्धति में अक्सर मानव के जीवन में भावनात्मक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पहलुओं को अनदेखा कर दिया जाता है, जिससे प्रौढ़ व्यक्ति अपने को पूर्ण विकसित नहीं कर पाता है।

शोध अध्ययन यह भी दर्शाता है कि सचेतनता (माइंडफुलनेस), एकाग्रता, नैतिक अनुशासन और सामुदायिक अधिगम, स्व-आधारित अधिगम (सल्फ बेस लर्निंग), प्रौढ़ शिक्षा, सबके लिए शिक्षा (एजुकेशन फॉर आल), कौशल-आधारित शिक्षा (स्किल बेस एजुकेशन) और सामुदायिक कार्यक्रमों आदि में शामिल आधुनिक शिक्षा प्रणाली के अनिवार्य घटक हैं। वास्तव में, ये सभी प्रणालियाँ बौद्ध शिक्षा के अंग हैं, जिन्हें आज की प्रौढ़ शिक्षा में अपनाकर हम इसे और अधिक विकसित व कारगर बना सकते हैं और इससे मनुष्य का व्यक्तिगत विकास भी सुनिश्चित होगा।

इन सभी समस्याओं को देखते हुए यह शोध-पत्र बौद्ध शिक्षा पर आधारित एक समग्र प्रौढ़ शिक्षा मॉडल प्रस्तुत करता है। यह प्रज्ञा, शील, समाधि, चार आर्य सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद और बोधिसत्त्व के आदर्शों पर आधारित बौद्ध सिद्धांतों से निर्मित है।

यह मॉडल अधिगम को चित्त, भावना, नैतिकता, इच्छा-शक्ति और आध्यात्मिकता जैसे पाँच मूल आयामों से जोड़ता है और शिक्षार्थी को दु:ख-निवारण तथा आत्म-विकास की दिशा में उन्मुख करता है। यह अधिगम केवल जानकारी प्राप्त करने तक सीमित नहीं रखता, बल्कि इसे ऐसे ज्ञान की ओर ले जाता है, और व्यक्ति अपने दु:ख का अंत करके समाज और संसार के प्रति करुणा विकसित करने में मदद करता है।

बौद्ध-आधारित यह समग्र दृष्टिकोण 21वीं सदी की प्रौढ़ शिक्षा के लिए एक सशक्त, सतत और मुक्तिदायक विकल्प प्रस्तुत करता है, जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों स्तरों पर अधिक मानवीय और व्यापक परिवर्तन की संभावनाएँ उत्पन्न करता है।

मुख्य शब्द

प्रौढ़ शिक्षा, बौद्ध शिक्षा, सचेतनता, विपश्यना, प्रज्ञा, शील और समाधि, प्रतीत्यसमुत्पाद, बोधिसत्त्व आदर्श।

परिचय

भारत में पारम्परिक शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया गया है। सामान्यत: तीन से पाँच वर्ष की आयु में बच्चों का विद्यालय में दाखिला कराया जाता है और वे कक्षा-दर-कक्षा औपचारिक शिक्षा ग्रहण करते हुए आगे बढ़ते हैं। किंतु यह वास्तविकता है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसी पारंपरिक, सतत और पूर्णकालिक शिक्षा प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता। सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक अथवा भौगोलिक कारणों से बड़ी संख्या में लोग विद्यालयी शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।

इसी शैक्षिक असमानता की खाई को पाटने के उद्देश्य से प्रौढ़ शिक्षा की अवधारणा विकसित हुई। प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य उन व्यक्तियों को पुनः शिक्षित करना है, जो किसी कारणवश औपचारिक विद्यालयी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, ताकि वे मुख्यधारा से जुड़ सकें, साक्षर बन सकें और सामाजिक-आर्थिक रूप से सशक्त हो सकें।

यूनेस्को के अनुसार 15 वर्ष या उससे अधिक आयु का व्यक्ति प्रौढ़ माना जाता है और उसे प्रौढ़ शिक्षा की श्रेणी में रखा जाता है। इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP 2020) तथा उल्लास (Understanding Lifelong Learning for All in Society) मिशन में भी प्रौढ़ शिक्षार्थी की आयु 15 वर्ष से अधिक निर्धारित की गई है।

भारत में प्रौढ़ शिक्षा को प्रायः केवल साक्षरता तक सीमित कर दिया गया है, जबकि इसका क्षेत्रफल इससे कहीं अधिक विस्तृत है। प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता केवल उन व्यक्तियों को ही नहीं होती जो निरक्षर हैं, बल्कि उन साक्षर व्यक्तियों को भी होती है जिन्होंने समय, अवसर या परिस्थितियों के अभाव में वह ज्ञान, कौशल या क्षमता अर्जित नहीं कर पाई, जिसकी उन्हें बाद के जीवन में आवश्यकता पड़ती है। अतः प्रौढ़ शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने छूटे हुए अधिगम को पुनः प्राप्त कर सकता है और बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश के अनुरूप स्वयं को विकसित कर सकता है।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली को दैनिक जिंदगी के सिद्धांतों के आधार पर विकसित किया गया था। यह शिक्षार्थी के नैतिक, मानसिक और शारीरिक विकास पर जोर देता है, 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व में, बौद्ध शिक्षा मूल रूप से भगवान बुद्ध द्वारा प्रदान की गई थी। इस प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता इसकी मठ और विहार की प्रकृति और समावेशिता है, क्योंकि इसने ऐसे समय में सभी जातियों के छात्रों का स्वागत किया जब भारत में जाति व्यवस्था गहराई से जमी हुई थी। बौद्ध शिक्षा प्रणाली का प्राथमिक लक्ष्य शिक्षार्थी के व्यक्तित्व के समग्र और सर्वांगीण विकास को बढ़ावा देना है, जिसमें बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक और मानसिक विकास शामिल है।

बौद्ध धर्म शिक्षा को जीवनभर चलने वाली सतत प्रक्रिया मानता है। यह केवल बाल्यावस्था या आरंभिक शिक्षा तक सीमित नहीं है, बल्कि आजीवन अधिगम (Lifelong Learning) और स्व-विकास (Self-Development) को प्रौढ़ शिक्षा का मूल आधार मानता है। बुद्ध के उपदेश इस विचार पर केंद्रित हैं कि मनुष्य किसी भी आयु में ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और अपने दृष्टिकोण, नैतिक मूल्यों तथा जीवन-शैली को परिवर्तित कर सकता है।

सिद्धार्थ गौतम से महात्मा बुद्ध बनने की यात्रा भी इसी सिद्धांत को पुष्टि करती है। उन्होंने 29 वर्ष की आयु में संसार के दुख और क्लेश से मुक्ति की खोज में गृह त्याग किया और ज्ञान की तलाश में वन की ओर प्रस्थान किया। दीर्घ साधना के पश्चात 35 वर्ष की आयु में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई, जिसे निर्वाण कहा जाता है। निर्वाण प्राप्त कर वे अर्हत बने और उसके उपरांत उन्होंने अपना ज्ञान सभी के कल्याण हेतु समाज में प्रसारित किया।

बुद्ध के प्रमुख शिष्य भी प्रौढ़ आयु के थे अधिकतर 15 वर्ष से ऊपर और उन्होंने ज्ञान को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना। बुद्ध ने ज्ञान को किसी विशेष वर्ग, आयु या पृष्ठभूमि तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे सार्वभौमिक मानवीय अधिकार के रूप में प्रस्तुत किया। उनके उपदेशों में बार-बार यही संदेश मिलता है कि सही ज्ञान मनुष्य को दुःख से मुक्ति, नैतिक शक्ति, आत्म-बोध और अंततः निर्वाण की ओर ले जा सकता है।

बौद्ध धर्म प्रौढ़ शिक्षा को केवल साक्षरता या कौशल अर्जन की प्रक्रिया नहीं मानता, बल्कि इसे आत्म-परिवर्तन, आंतरिक जागरण और विश्व-कल्याण की दिशा में अग्रसर करने वाली व्यापक और समग्र शिक्षा मानता है।

बौद्ध शिक्षा और आजीवन अधिगम (Lifelong Learning)

आजीवन अधिगम को सामान्यतः आधुनिक समय के विद्वानों की अवधारणा माना जाता है, किंतु वास्तव में यह विचार प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है। विशेषतः बौद्ध धर्म में आजीवन अधिगम को अत्यधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि यहाँ ज्ञान को किसी निश्चित आयु तक सीमित नहीं माना जाता, बल्कि इसे जीवन भर चलने वाली निरंतर प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाता है।

बौद्ध शिक्षा की अवधारणा केवल सूचना या ज्ञान-संग्रह तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका उद्देश्य व्यक्ति की अंतःचेतना का रूपांतरण करना है। इसके माध्यम से नैतिक मूल्यों, करुणा और विवेक का विकास किया जाता है, जिससे व्यक्ति अर्हत्व की ओर अग्रसर हो सके। अर्हत्व का मार्ग किसी एक चरण पर समाप्त होने वाला नहीं, बल्कि यह आत्म-अनुशासन, प्रज्ञा और करुणा से युक्त आजीवन चलने वाली साधना-पद्धति है।

बुद्ध द्वारा संघ और विहार की स्थापना भारतीय गुरुकुल परंपरा से प्रेरित थी, किंतु संघ ने शिक्षा को ऐसा व्यापक और समावेशी स्वरूप प्रदान किया, जो उस समय की पारंपरिक गुरुकुल व्यवस्था भी पूर्णत: नहीं दे पाई थी। संघ केवल धार्मिक शिक्षण तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह एक सुव्यवस्थित शैक्षणिक संस्था के रूप में विकसित हुआ, जिसने ज्ञान के प्रसार को समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाया।

बौद्ध संघ और विहारों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थान जैसे नालंदा, विक्रमशिला और तक्षशिला प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की गौरवशाली उपलब्धियाँ माने जाते हैं। इन संस्थानों के द्वार सभी के लिए खुले थे; यहाँ जाति, वर्ग, जन्म अथवा सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। विशेष रूप से महिलाओं को भी ज्ञान-प्राप्ति का अधिकार प्रदान किया गया, जो उस युग की सामाजिक संरचना के संदर्भ में एक क्रांतिकारी पहल थी।

बुद्ध ने शिक्षा को केवल शास्त्र-अध्ययन या बौद्धिक अभ्यास तक सीमित नहीं रखा, बल्कि ज्ञान को जीवन-परिवर्तन का माध्यम माना। इसी उद्देश्य से उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति के लिए त्रिशिक्षा शील, समाधि और प्रज्ञा का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया। यह पाठ्यक्रम व्यक्ति के नैतिक आचरण, मानसिक एकाग्रता और विवेकशील दृष्टि के समन्वित विकास पर आधारित था, जिससे शिक्षा केवल सूचना का संकलन न रहकर आत्म-उद्धार और सामाजिक कल्याण का साधन बन सके।

प्रशिक्षण	संस्कृत/पाली	मुख्य क्षेत्र	लक्ष्य
नैतिकता	शील (Sila)	आचरण, वाणी और कर्म।	मन के लिए एक स्थिर, अहिंसक आधार बनाना।
एकाग्रता	समाधि (Samadhi)	ध्यान (Meditation) और एकाग्रता ।	मन को अनुशासित करना और बिखरे विचारों पर नियंत्रण पाना।
बुद्धिमत्ता	प्रज्ञा (Prajna)	अंतर्दृष्टि, अनित्यता को समझना।	वास्तविकता को वैसे ही देखना जैसी वह है और अज्ञानता को मिटाना।

शील (नैतिक अनुशासन)

शील बौद्ध शिक्षा का वह आधार है जो नैतिक मूल्यों और सदाचरण पर बल देता है। यह ऐसी शिक्षा की संकल्पना प्रस्तुत करता है, जो केवल सैद्धांतिक न होकर शिक्षार्थी के आचार और विचार में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई दे। जब कोई शिक्षार्थी शिक्षा की प्रक्रिया में प्रवेश करता है, तो सर्वप्रथम उसे अहिंसा, सत्य, करुणा और नैतिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों से परिचित कराया जाना चाहिए। शील के अभ्यास के माध्यम से व्यक्ति आत्म-संयम, सामाजिक संवेदनशीलता और व्यक्तिगत विकास की दिशा में अग्रसर होता है।

समाधि (मानसिक एकाग्रता)

समाधि का संबंध मन की एकाग्रता और आत्म-नियंत्रण से है। इसके अभ्यास द्वारा शिक्षार्थी अपने विचारों पर नियंत्रण प्राप्त करता है और अपने मन को अनुशासित बनाता है। समाधि मानसिक चंचलता को कम कर शिक्षण प्रक्रिया को सहज और प्रभावी बनाती है। जब मन एकाग्र होता है, तब शिक्षा केवल बोझ नहीं रहती, बल्कि एक स्वाभाविक और आनंददायक अनुभव बन जाती है।

प्रज्ञा (विवेक और बोध)

प्रज्ञा वह बौद्धिक और नैतिक क्षमता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति सत्य और असत्य के बीच भेद कर सकता है तथा जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान खोज सकता है। बौद्ध दृष्टि में प्रज्ञा केवल स्मरण-शक्ति पर आधारित नहीं होती, बल्कि इसमें भूलना भी उतना ही आवश्यक माना गया है। अज्ञान, पूर्वाग्रह और मानवता-विरोधी प्रवृत्तियों को त्यागे बिना सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब व्यक्ति हानिकारक कर्मों और नकारात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग करता है, तभी उसमें वह गहन समझ विकसित होती है, जिसे प्रज्ञा कहा जाता है।

बौद्ध धर्म में स्व-आधारित अधिगम (Self base Learning)

स्व-आधारित अधिगम को प्राय: कोरोना काल की उपज या आधुनिक डिजिटल शिक्षा की देन माना जाता है, किंतु वास्तव में इसकी जड़ें प्राचीन शिक्षा-परंपराओं में जुड़ी हैं। विशेषत: बौद्ध धर्म में स्व-आधारित अधिगम को शिक्षा का केंद्रीय आधार माना गया है। गौतम बुद्ध का प्रसिद्ध उपदेश ''अप्प दीपो भव''अर्थात् अपने दीपक स्वयं बनो केवल एक नैतिक कथन नहीं, बल्कि स्व-अधिगम की संपूर्ण शिक्षण-दृष्टि

को अभिव्यक्त करता है। यह वाक्य व्यक्ति को आत्मनिर्भर, आत्म-जागरूक और अनुभव-आधारित सीखने के लिए प्रेरित करता है।

बौद्ध दृष्टि में अधिगम का मूल स्रोत व्यक्ति स्वयं है। यदि शिक्षार्थी में सीखने की प्रबल इच्छा और आत्म-अनुशासन हो, तो वह स्वयं अपने ज्ञान-विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात अपने शिष्यों को अंध-आस्था से बचने की स्पष्ट शिक्षा दी। उन्होंने कहा कि उनके उपदेशों को केवल गुरु-वचन मानकर स्वीकार न किया जाए, बल्कि उन्हें स्वयं अध्ययन, चिंतन और अनुभव के माध्यम से परखा जाए। जब व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाए कि ये वचन सत्य और उपयोगी हैं, तभी उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए।

केसमुत्ति सुत्त या कालाम सुत्त तिपिटक के अंगुत्तर निकाय में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जहाँ बुद्ध ने तर्क, अनुभव और विवेक के आधार पर ज्ञान को स्वीकार करने की बात कही है। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में ज्ञान का प्रसार एकतरफा नहीं, बल्कि संवादात्मक और आत्म-अनुभव पर आधारित प्रक्रिया है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्राप्त ज्ञान को केवल स्वयं तक सीमित रखने के बजाय, उसे लोक-कल्याण के लिए विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का आह्वान किया।

स्व-आधारित अधिगम बौद्ध शिक्षा का एक मूलभूत सिद्धांत है, जो आज के आधुनिक युग में और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। डिजिटल शिक्षण, प्रौढ़ शिक्षा और आजीवन अधिगम के संदर्भ में यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि बिना आत्म-प्रेरणा, आत्म-अवलोकन और स्व-अधिगम के वास्तविक शिक्षा संभव नहीं है।

सबके लिए शिक्षा (Education for All)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) में सबके लिए शिक्षा (Education for All) की अवधारणा को विशेष महत्व दिया गया है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बच्चा हो, युवा हो अथवा प्रौढ़ समान, समावेशी और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सके। यह नीति शिक्षा को मानव के मौलिक अधिकारों के एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करती है और सामाजिक न्याय तथा समान अवसर की स्थापना पर बल देती है।

इसके विपरीत, प्राचीन काल की गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा का अधिकार सीमित वर्गों तक ही सिमटा हुआ था। सामान्यत: उच्च वर्ग या विशेष सामाजिक समूहों को ही शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था। किंतु बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही शिक्षा की इस संकीर्ण अवधारणा को एक व्यापक और मानवीय स्वरूप प्राप्त हुआ। बुद्ध ने जाति, लिंग और आर्थिक स्थिति जैसी सामाजिक बाधाओं को तोड़ते हुए सर्वशिक्षा का संदेश दिया। उन्होंने अपने संघ और विहारों के द्वार समाज के सभी वर्गों के लिए खोल दिए और शिक्षा को सार्वभौमिक बनाया।

बौद्ध संघ में प्रवेश के लिए जन्म या सामाजिक स्थिति को नहीं, बल्कि नैतिक आचरण और अनुशासन को आधार बनाया गया। यद्यपि समाज-हित और संघ की शुद्धता बनाए रखने के लिए कुछ सीमाएँ निर्धारित की गईं जैसे गंभीर रूप से बीमार व्यक्तियों, चोरों अथवा आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों को संघ में प्रवेश से वंचित रखा गया फिर भी समग्र रूप से बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था समावेशी, समानतावादी और मानव-केंद्रित थी।

NEP 2020 की सबके लिए शिक्षा की अवधारणा और बौद्ध शिक्षा-दृष्टि के बीच एक वैचारिक साम्य दिखाई देता है, जहाँ शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन, समानता और मानवीय गरिमा के सशक्त माध्यम के रूप में देखा गया है।

कौशल आधारित शिक्षा (Skills Base Education)

वर्तमान समय में भारत विश्व का सबसे अधिक युवा आबादी वाला देश है, इसके बावजूद वह अभी विकसित देशों की श्रेणी में सम्मिलित नहीं हो सका है। इसका एक प्रमुख कारण युवाओं में कौशल-आधारित शिक्षा का अभाव है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में साक्षरता पर तो अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है, किंतु कौशल विकास को लंबे समय तक उपेक्षित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप देश में बेरोजगारी की समस्या निरंतर बढ़ती चली गई। शिक्षा और रोजगार के बीच बढ़ती यह खाई आज एक गंभीर सामाजिक-आर्थिक चुनौती के रूप में सामने है।

जब हम प्राचीन बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि उस काल में कौशल-आधारित शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया था। नालंदा, विक्रमशिला और तक्षशिला जैसे प्रख्यात बौद्ध शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रमों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ शिक्षा केवल धार्मिक या दार्शनिक ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसे समकालीन जीवन और रोजगार से सीधे जोड़ा गया था। विद्यार्थियों को ऐसे व्यावहारिक कौशल सिखाए जाते थे, जो उस समय की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप थे।

बौद्ध साहित्य में भी कौशल शिक्षा के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। विनयपिटक के महावग्ग में कताई, बुनाई, सिलाई जैसे कौशलों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें भिक्षुओं को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से सिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त, बौद्ध विश्वविद्यालयों में वास्तुकला, अंकगणित, चित्रकला, कृषि, वाणिज्य, कुटीर उद्योग तथा पशुपालन जैसे व्यावसायिक और जीवनोपयोगी कौशलों का प्रशिक्षण दिया जाता था, जो उस समय आजीविका के प्रमुख साधन थे।

चिकित्सा विज्ञान को भी बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसका स्पष्ट प्रमाण प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक से मिलता है, जो राजा बिम्बिसार के राजवैद्य होने के साथ-साथ भगवान बुद्ध के निजी चिकित्सक भी थे। उनकी चिकित्सा-कुशलता के कारण उन्हें ''औषधि-राज'' की उपाधि प्रदान की गई थी। जीवक तक्षशिला विश्वविद्यालय से शिक्षित थे, जो उस समय चिकित्सा शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र माना जाता था। चिकित्सा विज्ञान की पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने में लगभग सात वर्ष लगते थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में व्यावसायिक शिक्षा को कितनी गंभीरता और व्यवस्थित रूप से प्रदान किया जाता था।

बौद्ध शिक्षा का पाठ्यक्रम शिक्षार्थी-केन्द्रित रहा है, न कि शिक्षक-केन्द्रित, जो प्रौढ़ शिक्षा के आधुनिक सिद्धांतों से पूर्णतः मेल खाता है। इसमें द्वि-पक्षीय अधिगम को विशेष महत्व दिया गया है, जहाँ सीखने की प्रक्रिया केवल ज्ञान के हस्तांतरण तक सीमित न होकर संवाद, अनुभव और आत्म-अवलोकन पर आधारित थी। यह दृष्टिकोण प्रौढ़ शिक्षार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि वे अपने जीवन-अनुभवों के माध्यम से सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी करते हैं।

बौद्ध शिक्षा में कक्षा-केन्द्रित शिक्षण को अधिक महत्व नहीं दिया गया है, बल्कि यह जीवन के नैतिक मूल्यों और प्राकृतिक वातावरण के अनुभवों पर आधारित है। अधिगम प्रकृति, समाज और दैनिक व्यवहार के माध्यम से सम्पन्न होता था। यह अनुभव-आधारित शिक्षण पद्धति आजीवन अधिगम की मूल भावना को साकार करती है, जहाँ शिक्षा किसी एक चरण पर समाप्त न होकर जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया बन जाती है।

पाठ्यक्रम की दृष्टि से भी बौद्ध शिक्षा-प्रणाली पूर्ववर्ती प्राचीन शिक्षा-व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक व्यापक और विकसित थी। इसमें धर्म और दर्शन के साथ-साथ तत्वमीमांसा, तर्कशास्त्र, चिकित्सा, प्रशासन तथा नैतिक शिक्षा जैसे विविध विषयों का अध्ययन शामिल था। शिक्षण-विधियों में मुख्यतः मौखिक पद्धति का प्रयोग किया जाता था, जिसमें स्मरण-शक्ति को महत्व दिया जाता थाय साथ ही वाद-विवाद, तर्क और समूह-चर्चाओं को भी पर्याप्त स्थान दिया जाता था, जिससे विद्यार्थियों में आलोचनात्मक एवं विवेकपूर्ण चिंतन का विकास हो सके।

इस प्रकार बौद्ध शिक्षा-प्रणाली केवल धार्मिक या बौद्धिक शिक्षा तक सीमित न रहकर कौशल-आधारित, जीवनोपयोगी, नैतिक और सामाजिक विकास का एक समग्र मॉडल प्रस्तुत करती है, जिसकी प्रासंगिकता आज की कौशल-आधारित शिक्षा और रोजगार-केंद्रित नीति-निर्माण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आजीवन अधिगम और सबके लिए शिक्षा जैसी समकालीन शिक्षा प्रणालियों को प्रायः आधुनिक विचार माना जाता है, किंतु वास्तव में इनकी आधारशिला गौतम बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में बहुत पहले ही रख दी थी। जहाँ आधुनिक दृष्टिकोण अक्सर वृद्धावस्था को पतन, निर्भरता और दुर्बलता से जोड़कर देखता है, वहीं बौद्ध धर्म की शिक्षा वृद्ध व्यक्ति को इन सीमाओं से बाहर निकालती है। बौद्ध दृष्टि वृद्धावस्था को ज्ञान, करुणा और आंतरिक शांति के विकास का अवसर मानती है तथा व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाते हुए उसे निर्वाण के मार्ग की ओर अग्रसर करती है।

निष्कर्ष

प्रौढ़ शिक्षा के विकास में बौद्ध शिक्षा की भूमिका न केवल ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण रही है, बल्कि समकालीन शैक्षिक चुनौतियों के समाधान हेतु आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक प्रौढ़ शिक्षा व्यवस्था जहाँ प्रायः साक्षरता, प्रमाण-पत्र और परिणाम-आधारित लक्ष्यों तक सीमित दिखाई देती है, वहीं बौद्ध शिक्षा इसे मानव के समग्र विकास से जोड़ती है। बौद्ध दृष्टि में शिक्षा केवल जानकारी का संचय नहीं, बल्कि आत्म-परिवर्तन, दुःख-निवारण और सामाजिक कल्याण की प्रक्रिया है।

यहाँ यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि शील, समाधि और प्रज्ञा की त्रिशिक्षा प्रौढ़ शिक्षा को नैतिक, मानसिक और बौद्धिक संतुलन प्रदान करती है। शील व्यक्ति के आचरण को सामाजिक रूप से उत्तरदायी बनाता है, समाधि एकाग्रता और आत्म-नियंत्रण विकसित करती है तथा प्रज्ञा जीवन की

वास्तविकताओं को समझने और विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करती है। ये तीनों तत्व मिलकर प्रौढ़ शिक्षार्थी को केवल कुशल नागरिक ही नहीं, बल्कि संवेदनशील और करुणामय मानव के रूप में विकसित करते हैं।

आजीवन अधिगम, स्व-आधारित अधिगम, सबके लिए शिक्षा और कौशल-आधारित शिक्षा जैसी आधुनिक अवधारणाएँ वस्तुतः बौद्ध शिक्षा की मूल भावना में निहित रही हैं। ''अप्प दीपो भव'' का सिद्धांत आत्म-प्रेरणा और अनुभव-आधारित अधिगम पर बल देता है, जो वर्तमान डिजिटल युग और प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसी प्रकार, बौद्ध संघों और विहारों की समावेशी प्रकृति आज की 'सबके लिए शिक्षा' की अवधारणा के साथ गहरा वैचारिक साम्य रखती है।

कौशल-आधारित शिक्षा के संदर्भ में भी बौद्ध शिक्षा-प्रणाली एक व्यावहारिक और रोजगारोन्मुख मॉडल प्रस्तुत करती है। प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक, चिकित्सकीय और जीवनोपयोगी कौशलों का समावेश यह दर्शाता है कि शिक्षा को आजीविका और सामाजिक आवश्यकताओं से जोड़ना उस काल में भी एक सुस्पष्ट शैक्षिक लक्ष्य था। यह दृष्टि आज की बेरोजगारी और कौशल-अभाव की समस्या के समाधान में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

बौद्ध शिक्षा पर आधारित समग्र प्रौढ़ शिक्षा मॉडल 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप एक मानवीय, नैतिक और सतत विकल्प प्रस्तुत करता है। यह मॉडल व्यक्ति को केवल आर्थिक रूप से सशक्त बनाने तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसे आत्म-बोध, करुणा और सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर उन्मुख करता है। यदि आधुनिक प्रौढ़ शिक्षा नीतियों और कार्यक्रमों में बौद्ध शिक्षा के इन मूल सिद्धांतों को समाहित किया जाए, तो प्रौढ़ शिक्षा अधिक प्रभावी, सार्थक और समाज-परिवर्तनकारी बन सकती है।

***शोधार्थी**
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
सह-लेखक : वरिष्ठ प्रोफेसर राजेश,
विभाग : सतत शिक्षा एवं विस्तार विभाग

सन्दर्भ सूची

1. Kumar, Bhaskar & Rai, Mandvi (December 2024). *Educational practices and institutions in the Buddhist era: A historical perspective*. Pen & Prosperity. e-ISSN No. 3048-9555
2. Salim, S. K. (2024). *An analytical study: The Buddhist education system in contemporary Indian educational perspective*. *International Journal of Research Publication and Reviews*, *5*(3), 2144–2148.
3. Goyal S. R. (1987). A History of Indian Buddhism. Meerut, Kusumanjali Prakasan.
4. Chau, T. M. (2024). *The concept of aging in Buddhist philosophy: A path to wisdom and liberation*. **Buddho Journal,** ISSN: 3057-1200
5. उपाध्याय, पंडित बलदेव। (1954). बौद्ध दर्शन मीमांसा. वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन।
6. https://leverageedu.com/blog/buddhist-education-system/
7. Comprehensive History. (n.d.). जीवक : भारतीय चिकित्सा विज्ञानी. Comprehensive History. https://comprehensivehistory.com
8. https://www.praveeneducation.com/2023/10/bauddha-kaaleen-shiksha.html

शोध-पत्र

राजेश जोशी की कविता में बाजार का विस्तार और मानवीय मूल्य

डॉ. मंजू

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में संपूर्ण विश्व में समाजवादी व्यवस्थाओं के विघटन ने संगठित पूँजीवाद को और सशक्त किया। इस संगठित पूँजीवाद ने जिस भूमंडलीकरण को वैश्विक पटल पर प्रस्तुत किया वही उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रचार और प्रसार का वाहक बना। भूमंडलीकरण और उदारीकरण ने जिस मुक्त बाजार की परिकल्पना को हमारे सामने रखा वह मुक्त बाजार अपने साथ उपभोक्तावादी संस्कृति को बाईप्रोडक्ट के रूप में लेकर आया। सच तो यह है कि बाजार की इस सभ्यता ने मनुष्य को भी एक उत्पात के रूप में बदल दिया है।

बाजार ने मनुष्य को जितना अधिक अमानवीय बनाया है, साहित्य मनुष्य की मनुष्यता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उतना ही प्रतिबद्ध है। कविता साहित्य का वह महत्वपूर्ण दखल है जो बाजार के आक्रमण से मनुष्य की रक्षा के लिए किसी कारगर हथियार की तरह है। जिन समकालीन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से सशक्त रूप से उपभोक्तावादी संस्कृति की चुनौतियों का सामना करने का सार्थक प्रयास किया है, राजेश जोशी उनमें विशिष्ट स्थान रखते हैं। बाजारवादी व्यवस्था ने आम आदमी को भुखमरी और कुपोषण के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। ''पिछड़े देश तकनीकी दृष्टि से भी इतने सक्षम नहीं है कि वह विकसित देशों की तकनीकी सेवाओं के बाजार में अपनी पैठ बना सकें, तो 'विश्वग्राम' की यह परिकल्पना एक तरह का एकतरफा भूमंडलीकरण है। 'विश्वग्राम' पर साम्राज्यवादी देशों, अमीर देशों का ही वर्चस्व होगा। पिछड़े देश विश्वग्राम के नागरिक नहीं बन सकते हैं।''[1]

कवि राजेश इन खतरों के प्रति आगाह करते हैं। बढ़ रहे पश्चिमी प्रभाव तथा पूंजीवाद के नए रूपों के खिलाफ प्रतिरोधी स्वर में कहते हैं कि –

''मैं कहता हूं बहुत हानिकारक है
व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है
दिनों दिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव,
राष्ट्रवाद का नया उफान,
वित्त पूंजी का प्रपंच, बजरंगियों का उत्पाद,
बहुराष्ट्रीय कंपनियों का लगातार
फैलता जाल
एक प्रधानमंत्री का इतनी बुरी कविता लिखना
हानिकारक है''[2]

इस तंत्र ने लोगों को सिर्फ बाजार में तब्दील किया है उपभोक्तावाद विकृत राजनीति बाजारीकारण के प्रति आलोचनात्मक रूप अपनाते हुए राजेश जी लिखते हैं–

''महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं
क्रांतिकारी गीतों को बना सकते हैं पॉप सॉन्ग
बेच सकते हैं एक साथ वंदे मातरम और
कोलगेट की मुस्कान
हानिकारक है संविधान की समीक्षा
इतिहास परिषद पर मंडराता खतरा
और सबसे हानिकारक है उनका राष्ट्रवाद''[3]

बाजार मात्र क्रय-विक्रय का स्थान होकर रह गया है। इसने हमारे समाज पर कब्जा कर लिया है। बाजारवाद की इस प्रकृति को राजेश जोशी ने 'कथन' पत्रिका में 'अब तक क्या किया जीवन क्या किया' शीर्षक लेख में अपने विचार यों

व्यक्त किए हैं –''बाजारवाद अपने इस उपक्रम के लिए एक किस्म की व्यावसायिक सफलता की चकाचौंध पैदा करता है। वह समझ में सफलता को एक सर्वोपरि मूल्य की तरह स्थापित करता है। वह सृजन के क्षेत्र को भी कई हिस्सों में विभाजित कर देता है। यह विचारधारात्मक और गैर विचार-धारात्मक ललित कलाओं के बीच विभाजन रेखाएं खींचता है वह भाषा से सबसे अधिक डरता है और भाषा जब प्रदर्शनकारी कला रूपों से जुड़ जाती है तो वह उससे और अधिक सावधान हो जाता है।''[4]

इन्हीं बाजारवादी ताकतों के संबंध में राजेश जोशी ने अपनी कविता 'यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' में बदलती दुनिया का यथार्थ चित्रण किया है-

''पानी को वाटर कहने से डूबने लगती है
जिनकी संस्कृति की नब्ज
उन्हें गंगा के साबुन में बदल जाने से कोई एतराज नहीं''[5]

राजेश जोशी की उक्त पंक्तियों में खोखली संस्कृति के खिलाफ सख्त विरोध दर्ज किया गया है। बाजारवाद के दौर में राष्ट्रवाद की छवि धूमिल हो रही है। जिसका सच यह है कि चीजें वहाँ बेचने योग्य माल मात्र हैं। वर्तमान भूमंडलीकरण के परिवेश में हम मूल्य के अधीन नहीं बल्कि चीजों के अधीन हो रहे हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति का यह फलक है राजेश जी ने इस फलक को अपनी 'वस्तुओं के बारे में एक कथन' शीर्षक कविता में कुछ ज्यादा ही स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है-

''एक चीज है जैसे बंदूक
बंदूक हालांकि सबसे खतरनाक हथियार नहीं है
इससे भी खतरनाक हथियार है
जो सारी दुनिया को खत्म कर सकते हैं
एक ही पल में
लेकिन इससे भी खतरनाक होती है वे चीजें
जो ललचाती हैं अपनी ओर
और खतरनाक इरादों की ओर ले जाती है हमें''[6]

इस निपाट साधारणता में आदमी से कई गुना ताकतवर दिखती है चीजों की दुनिया। लंका के प्रवेश द्वार पर स्थित सुरसा के समान हर किसी को निगल सकती हैं। चीजों की दुनिया का यह जाल प्रौद्योगिकी और सूचनाओं से भी प्रायोजित है। इस बाजार में चीजें कई बार अजीब दुविधा में डाल देती हैं। कई बार उनकी कीमत के आगे हमारी कीमत कम हो जाती है। कई बार जब बाजार चीजों से लद जाते हैं, तब समाज में पैदा होने लगते हैं नए-नए उपद्रव-

''चीजें एक दिन इतनी ताकतवर हो जाती हैं
कि बनती जाती है उनकी स्वतंत्र सत्ता
तब आदमी नहीं, चीजें तय करने लगते हैं
आदमी का भाग्य''[7]

बाजार की सजावट, रंग, उत्पाद और विज्ञापन ऐसे तैयार किए जाते हैं, जो व्यक्ति को अपनी ओर खींच सके। ऐसा सम्मोहन पैदा होता है कि हम तय ही नहीं कर पाते कि बाजार के बारे में हम सोच रहे हैं या बाजार हमें सोचने के लिए विवश कर रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव से आज आदमी भी वस्तु बन गया है। आज के भूमंडलीकरण के वातावरण को कवि ने बड़े ही खूबसूरती से पेश करते हुए लिखा है -

''चीजें लोगों को आपस में बांट देती है
और अपनी कीमत से छोटा और बड़ा बना देती है
लोगों को
कहा जाता है चीजें सिर्फ दिक में रहती हैं
जबकि काल में ही पैदा होती हैं वे
और उन्हीं से जाना जाता है कोई समय''[8]

नव उपनिवेशक संस्कृति आज मजबूत होती जा रही है और भूमंडलीकरण इस अतिक्रमण का शोषण कर रहा है। बाजारवादी व्यवस्था ने मनुष्य की इच्छाओं को इतना बढ़ा दिया है कि रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएं भी बिकाऊ नजर आने लगी हैं। गरीब लोग बुनियादी सुविधाओं को लेकर चिंतित हैं। 'किस्सा उस तालाब का' कविता में भी राजेश जोशी ने जल स्रोतों के सूख जाने के आसन्न खतरे को दिखाया है। आज मनुष्य कुएं के जल को छोड़कर मिनरल वाटर से अपनी प्यास बुझाने को अभिशप्त है। लेकिन मिनरल वाटर से उसकी प्यास कहां बुझती है। अखबार के फोटो से सूखे तालाब की पपड़ाई हुई जमीन पर एक मेला सा लगा देखकर कवि का मन बुरी तरह से कचोट उठता है। प्लेटफार्म पर बैठे बीच-बीच में अपने पपड़ा जाते होठों को मिनरल वाटर से गीला करते हुए कवि को लगता है कि वह दहशत से भरा एक सूखे तालाब में चल रहा है। उसके जूतों के नीचे चिंदी-चिंदी होता अखबार कराह रहा है। कवि को लगता है-

''मेरे अंदर कोई पूछ रहा था लगातार
कब, कब वह पानी देखूंगा

जिसे पानी कहने की तसल्ली हो
और जल कहने से मन भीग जाए''[9]

यह कविता तालाब के शहर का निवासी होने का गर्व पाले उस व्यक्ति की विडंबना को सामने लाती है जिसे पानी मिनरल वाटर की शक्ल में बोतल में खरीद के पीना पड़ रहा है-

''मैंने मिनरल वाटर की एक बोतल खरीदी
और एक अखबार
और प्लेटफार्म पर लगी एक बेंच पर बैठ गया
कोशिश की, बहुत कोशिश की
पर उसे जल कह सकने का
पवित्र भाव जागा ही नहीं मन में
और पानी कहता तो गुस्ताखी होती है उसकी शान में
पीने से कुछ होंठ गीले हुए कुछ गला तर हुआ
पर आत्मा जरा भी नहीं भीगी''[10]

विकास का पूंजीवादी प्रकल्प तालाबों बावड़ियों को सुखा रहा है और बोतलों में पानी को बेच रहा है। पानी से जुड़ी आत्मीय तृप्ति और पवित्रता भी तालाबों के साथ सूख चली है और सिर्फ सूफी फकीर अली शाह और ममोला बाई के किस्सों में बची रह सकी है। मोबाइल फोन या मिनरल वाटर एक तरह से जीवन शैली के उन अपरिहार्य बदलावों के संकेत चिन्ह हैं जिन्होंने जीवन-जगत की प्रत्यक्ष प्रमाणिक अनुभूति में दरार डाल दी है।

आज का समाज भूमंडलीकरण के दौर में प्रवेश कर चुका है। इस भूमंडलीकरण ने सारे विश्व को औद्योगिक नीतियों को बहुत बढ़ावा दिया है और इस औद्योगीकरण के दानव ने समाज के स्वरूप को पूर्ण रूप से अर्थ केंद्रित बना डाला है। कवि राजेश जोशी ने समाज में पनपते इस नवीन सांस्कृतिक परिवर्तन को बड़े अच्छे से भांपते हुए अपने काव्य में प्रस्तुत किया है-

''नीचे खनखना रहा था
सारा सर्राफा सटोरियों की आवाज से
चमचमा रहे थे निजी व्यवसाय में लगे
चिकित्सकों के चेहरे
चांदी के दलदल से उड़ते हुए
सारे देश में फैल रहे थे
दिमागी बुखार के कीटाणु
हाय! चांदी के एनाफ्लीज
सोने के वायरस
हीरे जवाहरात के बैक्टीरिया''[11]

बाजार ने मनुष्य का वस्तुकरण किया है। धनी लोग चीजों की तरह चमकदार और निष्करण हो गए हैं और गरीबों का सम्मान चीजों जितना भी नहीं रह गया है। वर्तमान बाजारवाद की व्यवस्था में शौक, शांति से लेकर कविता और क्रांति तक को व्यवसाय कहने के पीछे सीधा तर्क यह है कि सब कुछ बाजार की गिरफ्त में आ गया है। अब भूमंडलीकरण के कारण बाजार में सब कुछ आसानी से उपलब्ध है। परंतु इससे स्थानीय विशेषताएं तेजी से गायब हो रही है। अंतरराष्ट्रीय गुलामी को रेखांकित करती हुई 'मुर्गा मुआफी' बहुत ही महत्वपूर्ण कविता है-

''मुर्गा मुआफी की बरसों से चली आती
महान परंपरा के अनुसार
धन्यवाद ज्ञापन दिवस पर नेशनल तुर्की फेडरेशन ने
भेंट किया एक टर्की मुर्गा अमेरिकी राष्ट्रपति को
बरसों से चली आती उत्सवी उदारता को दोहराते हुए
अमेरिका के राष्ट्रपति ने इस बार फिर
माफी देते हुए उस मुर्गे को छोड़ दिया
और दूसरे को हलाल किया
अपने खाने के लिए''[12]

साम्राज्यवादी शक्तियों ने मानव मस्तिष्क को अनुकूलित करना शुरू किया है। बाजार संचार माध्यम इसके प्रमुख हथियार बन गए हैं। सब कुछ को अपनी उंगलियों की पोरों में उपलब्ध समझने में साहसिकता ही नहीं है, बल्कि वर्चस्ववादी दृष्टि की पूरी तानाशाही भी है। इस संस्कृति का चरमोत्कर्ष इसी कविता में इन पंक्तियों में देखने को मिलता है-

''इस नए नस्लवाद का ऐसा हैरतअंगेज असर हुआ
कॉर्पोरेट युग के तमाम मुर्गों पर
की भगदड़ मच गई फ्राइंग पैन पार्क में
घुसने के लिए हर जगह''[13]

औद्योगीकरण की सबसे बड़ी नीति यही रहती है कि, मनुष्य को अपने नियंत्रण में ले। यही कारण होता है कि वह बाजार में नवीन-नवीन उपकरणों को लाता है और मानव उस उपकरण से प्राप्त सहूलियतों के प्रति अपने को उस उपकरण पर आश्रित कर देता है। कवि राजेश जोशी ने औद्योगिक नीति के इस षड्यंत्र पर अपनी दृष्टि डालते हुए अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है-

''मैं एक खिलौना हूं

नए बाजार की नई मांग पर बनाया गया है मुझे
लेकिन अगर गौर से देखोगे तो दिखेगा
कि मुझमें कुछ ऐसा भी है जो थोड़ा अलग है
मुझे बनाने वाले कलाकार ने बाजार की नजर बचाकर
बाजार की इच्छा के बीच अपने स्वप्न को
भी रख दिया है मुझमें''[14]

भूमंडलीकरण के फलस्वरूप वैश्विक स्तर पर सीमाएं टूटी हैं। मुक्त बाजार ने पूरी दुनिया विशेषकर तीसरी दुनिया के देशों में कारोबार का संजाल फैला रखा है और दिनों दिन यह बाजार और बढ़ रहा है। इस बीच संचार माध्यमों ने जनमानस की रुचियां को अपनी ओर आकर्षित किया है। 'अतिरिक्त चीजों की माया' कविता में कवि ने इसे बहुत ही मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है-

''बाजार से लेने जाता हूं जरूरत की कोई चीज
तो साथ थमा दी जाती है एक और चीज मुफ्त
उस चीज की कोई जरूरत नहीं मुझे
पर लेने से इनकार नहीं कर पाता उसे
और बस इसी एक पल में जकड़ लिया जाता हूं
उस अतिरिक्त के लिए जरूरत की चीजों के
बीच थोड़ी जगह बनाता हूं
तो दूसरी चीजों की जगह थोड़ी सिकुड़ जाती है''[15]

इस प्रकार उपभोक्तावादी बाजार में वस्तुओं के सदुपयोग की अपेक्षा अतिरिक्त चीजों की माया लगातार बढ़ रही है जिससे मनुष्य में भोग एवं लालसा की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है-

''अतिरिक्त हमारे मन की कमजोरी को पहचानता है
लालच धीरे-धीरे पांव पसारता है
एक अतिरिक्त दूसरे अतिरिक्त को बुलाता है
और दूसरा अतिरिक्त तीसरे अतिरिक्त के लिए
जगह बनता है
एक दिन सारी जगह अतिरिक्त से भर जाती है''[16]

उपभोक्तावादी संस्कृति ने आम आदमी में वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है कंपनियां इसका लाभ उठाकर बाजार एवं मीडिया के माध्यम से आम जनता में उसका प्रचार प्रसार करती है। इस परिदृश्य को रेखांकित करते हुए आलोचक परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं कि- ''बाजार से मुक्त नहीं। बाजार में उपभोग के लिए अकूत सामान है, चीजें हैं, जिनमें भेद है। सब एक सी हैं- दुकानें और दुकानदार, ग्राहक और सामान। कोई आपको मुक्ति का मार्ग बता रहा है, कोई कर रहा है युद्ध के लिए तैयार, यही बाजार का चलन है। एक ही आवाजें हैं। उत्तेजना के एकल संस्करण से उपजे एक से गाने, एक सी रोशनियां, एक सा धोखा, एक जैसा अश्वमेध, जलती बस्तियों के बीच आग पर नाचती हुई एक सी सम्मोहक धुन''[17]

उपभोक्तावादी संस्कृति से पहले बाजार का अपना आदर्श था, उपभोग का आदर्श था। लेकिन वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति बाजार का ऐसा संगठन है जहां हमारे उपभोग का स्वरूप हमारी आवश्यकताएं नहीं व्यावसायिक हित निर्धारित करते हैं। कल्पवृक्ष 'एक' और 'दो' कविता में कवि ने प्रतीक के माध्यम से उपभोक्तावादी संस्कृति से मनुष्य की विचलित मानसिकता का चित्रण किया है-

''अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार
स्वर्ग एक खतरनाक जगह है
स्वर्ग में सबसे खतरनाक चीज है
कल्पवृक्ष
कहा जाता है कि मन में उठते ही कोई भी इच्छा
पूरी कर डालता है वह तत्काल
और कौन नहीं जानता
आदमी की खोपड़ी से ज्यादा खुराफाती
चीज
नहीं होती कुछ भी''[18]

21वीं शताब्दी में आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के रूप में पूंजीवाद का एक नया रूप ही हमारे सामने आ रहा है। इस समय उपभोक्तावाद और बाजारवाद की संस्कृति का असर लोगों के मन मस्तिष्क पर छा गया है। भूमंडलीकरण के कारण मनुष्य के स्वार्थी प्रवृत्ति का दिनोंदिन विकास एक चिंता का विषय है जिसे कल्पवृक्ष दो कविता में देखा जा सकता है-

''रास्ते में देखकर छायादार वृक्ष
आदमी रुक गया सुस्ताने को
वृक्ष भी दूसरे वृक्षों से कुछ ज्यादा ही था छायादार
आदमी को क्या पता था कि वह लेटा है
एक कल्पवृक्ष के नीचे''[19]

वेद और पुराणों में कल्पवृक्ष का उल्लेख मिलता है। कल्पवृक्ष स्वर्ग का एक विशेष वृक्ष है। पौराणिक धर्म ग्रंथों और हिंदू मान्यताओं के अनुसार यह माना जाता है कि इस वृक्ष

के नीचे बैठकर व्यक्ति जो भी इच्छा करता है वह पूर्ण हो जाती है क्योंकि इस वृक्ष में अपार सकारात्मक ऊर्जा होती है। कवि ने इस कविता में कल्पवृक्ष को भूमंडलीकरण के प्रतीक के रूप में रेखांकित किया है। जहां मनुष्य की इच्छाएं तो पूर्ण होती हैं परंतु मनुष्य अपनी लाभ वृत्ति के चलते काल का ग्रास बन जाता है-

''लेटते ही आराम देह बिस्तर पर
आदमी को लगने लगी भूख
और उसने सोचा काश! मिल पाता
कहीं से बढ़िया भोजन
और सोचते ही पूरी हुई उसकी इच्छा
खा पीकर लेटते ही आराम देह बिस्तर
पर आदमी को आया ख्याल
कि चारों ओर जंगल है घना
कहीं से आ गया शेर
और सोचते ही पूरी हुई उसकी इच्छा''[20]

भारत में उपभोक्तावाद का तीव्र गति से प्रसार हो रहा है। आर्थिक स्थिति में बदलाव के बाद एक नए वर्ग का अभ्युदय हुआ है, जो उपभोक्तावादी संस्कृति को अपना रहा है। इसके फलस्वरूप नवीन वस्तुओं का निर्माण और प्रसार हो रहा है। लेकिन हमारा बहुत कुछ खोता जा रहा है। राजेश जोशी लिखते हैं—''उपभोक्तावादी पूंजीवाद और उसका मुक्त बाजार हमारी नैसर्गिक वृत्ति और सहज बोध को आहत कर रहा है। वह हर पल दूसरों से आपकी तुलना करता है। वह या तो बेहतर होने का दंभ पैदा करता है या एहसासे कमतरी।''[21]

उपभोक्तावादी समाज का आदर्श वह व्यक्ति नहीं है, जो सरल और ईमानदार है। वह है जो खूब झूठ, कृत्रिमता, और ढोंग जी सके। कुछ भी बेच सके, कुछ भी खरीद सके। मानसिक तौर पर गुलाम और विवेकहीन भीड़ का निर्माण उसका लक्ष्य है और यह विवेकहीन भीड़ यंत्र की भांति कहीं न पहुंचने की दौड़ में शामिल है। कवि लिखते हैं-

''स्वर्ग में कोई किसी से मिलता जुलता नहीं
सब डूबे रहते हैं अपने ही राग रंग में''[22]

भारतीय गांव की परंपरागत अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर होने के कारण काफी हद तक स्वावलंबी थी और गांव की सामूहिक सेवाओं जैसे सिंचाई के साधन, यातायात या जरूरतमंदों की सहायता आदि की व्यवस्था गांव के लोग खुद कर लेते थे। परंतु कॉरपोरेट के आने से न केवल लघु हथकरघा को क्षति पहुंची है, बल्कि किसानों से उनकी जमीन भी हथिया ली गई है। इस दर्द को राजेश जोशी की कविता 'विकल्प' में देखा जा सकता है -

''संकट बढ़ रहा है
छोटे-छोटे खेत अब नहीं दिखेंगे
इस धरती पर कॉरपोरेट आ रहे हैं
कॉरपोरेट आ रहे हैं
सौंप दो उन्हें अपनी छोटी-छोटी जमीनें
मर्जी से नहीं तो जबरदस्ती छीन लेंगे वे
कॉरपोरेट आ रहे हैं
जमीनें सौंप देने के सिवा
और कोई विकल्प नहीं तुम्हारे पास''[23]

एक आंकड़े के अनुसार, ''भारत में 1960 के बाद से अब तक साठ लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं।''[24] विकास लोगों के लिए हो, लोगों की शर्त पर न हो। लोकतंत्र में 'लोक' कितना महत्वपूर्ण है उसकी अर्थवत्ता और संप्रभुता की स्थापना को जब विस्थापन प्रक्रिया द्वारा चुनौती दी जाती है तब 'हम भारत के लोग' हमारी प्रस्तावना खुद हमी से प्रश्न करती है कौन है 'हम भारत के लोग' विस्थापन की पीड़ा और अधिग्रहण से उपजे संकट से समुदाय अपने संस्कृति और स्मृतियों से कट जाता है। विस्थापन में सिर्फ जमीन ही नहीं बदलती बल्कि उस व्यक्ति के मानस का इतिहास और भूगोल भी बदल जाता है इसी दर्द को कवि ने 'मुश्किल आसानियों का सफरनामा' कविता में दर्ज किया है-

''लालच का जानवर कितना खूंखार होता है
कि दस परदों में छुपा दो या गाढ़ दो जमीन के भीतर
वह ढूंढ लेगा हर छिपी हुई चीज को कहीं न कहीं से
और खदेड़ देगा हर उस शख्स को
जो उसके लाभ और लालच के बीच आएगा
खदेड़ रहा है जैसे सदियों से बसे आदिवासियों को
उनके जल, जंगल, जमीन से बाहर लगातार''[25]

जल, जंगल और जमीन की समस्याएं विकास के लिए आधारभूत रही हैं। भारतीय गरीब वर्ग का 85% तो भूमिहीन खेतीहर मजदूर है या मध्यम छोटे किसान हैं। वास्तविक विकास का अर्थ बस उन्हें अभिजात्य वर्ग की योजनाओं से अवगत करा देना नहीं है। इसका अर्थ विकास से संबंधित सभी फैसलों में उनकी भागीदारी है। भारत की विकास प्रक्रिया में एक घोर अलोकतांत्रिक प्रवृत्ति दिखाई देती है। जमीन से संबंधित किसानों

को बहिष्कृत कर दिया गया है। जल तथा अन्य सामुदायिक संसाधनों पर नियंत्रण के मामलों में किसानों से लूट जारी है। आदिवासियों को जंगलों से विस्थापित किया जा रहा है।

''घर के बसने से ज्यादा उसके उजड़ने,
उखड़ने की कथाएं हैं
कथाओं में बिंधी अनगिनत स्मृतियां, सपने और सिसकियाँ
ठोकरें, गालियां, अपमान
बर्तनों में लगे दोंचे
और हमारी चप्पलों की उखड़ी हुई बद्दियां
हमारे विस्थापन की कथा का सारांश है।''[26]

विस्थापन को विकास की प्रक्रिया में अपरिहार्य व्यवस्था का अंग माना जाता है। जैसे ग्रामीण का नगरीय द्वारा, कृषि का उद्योग द्वारा, निम्न साधारण और परंपरागत प्रौद्योगिकी के स्थान पर उच्च जटिल और आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रतिस्थापन। विकास और विस्थापन का यह नवीन प्रतिमान लोगों में भयावहता की स्थिति पैदा कर रहा है।

''हमारी स्मृति में अपना कहने को
जमीन का कोई टुकड़ा नहीं
कि जिस पर तामीर हो सके एक झोपड़ा भी
अनगिनत रंग बिरंगे मिट्टी के टुकड़ों से बनी
जमीन की एक कथरी है
इसी की पोटली लादे अपने सपनों में
हम भाग रहे हैं यहां से वहां
अलग-अलग बम्बों का पानी पीते
शहर-दर-शहर
हमारा समय बेघरों का गाना है''[27]

उदारीकरण के लागू होने के बाद स्थिति और बदल गई है। विस्थापन की यह समस्या मात्र आदिवासी एवं ग्रामीण क्षेत्रों तक सीमित नहीं है। अधिग्रहण की बढ़ती बारंबारता व बहुराष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना के कारण एक बार फिर सरकार और किसान आमने-सामने होने लगे हैं।

''दिन, दोपहर, रात-बिरात कभी भी आ जाते हैं वो
कहते हैं खाली करो, खाली करो, खाली करो जमीन
कि इस जमीन पर महाजनों ने धर दी है अपनी उंगली
अब यह जमीन उनकी हुई''[28]

वे किसान जिन्हें खेती के अलावा कोई और काम करना नहीं आता और जो परंपरागत रूप से इसे ही अपने जीवन और जीविका से जोड़कर देखते हैं वह तथाकथित उदार व्यवस्था में मौत के मुंह में खड़े हैं। सरकारों के पास उनके लिए राहत के नाम पर कर्ज का फंदा है जिसमें अंतत: वह और भी उलझ के रह जाता है। कई बार तो इस कर्ज की वजह से आत्महत्या भी करनी पड़ती है।

आज का भारतीय समाज भूमंडलीकरण के माध्यम से पूंजीवाद के वर्तमान रूप में आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक प्रभावों को भी अनुभव कर रहा है। जिसकी अभिव्यक्ति 'अहद होटल' कविता में कवि ने बहुत ही मार्मिक ढंग से की है-

''मैं तुमको बताऊं अजमल कमल
की अहद होटल का मर्तबा ही अलग था
शहर के दीगर चायघरों से
शहर के नामी दादा लोग हों
सियासी पार्टियों के छोटे बड़े नेता
या हिंदी और उर्दू के अदीब
अलग-अलग टेबलों पर जमे ही रहते थे हमेशा''[29]

बाजार ने लेखकों के बीच होने वाली अड्डेबाजिया को समाप्त कर दिया है। शहरों के कॉफी हाउस या किसी खास चाय घर में अब लेखक नहीं बैठते क्योंकि ऐसी जगह को तोड़कर आलीशान चमचमाते हुए जूते की दुकान खोल दी गई हैं-

''मैं तुमको बताऊं अजमल कमाल
कि इब्राहिम पुरे के उस संकरी सी
गलीनुमा बाजार के बीचों बीच
जहां चमचमाते जूतों की अब एक आलीशान दुकान है
यहीं कभी हुआ करता था वह अहद होटल
बाजार के हड़बड़ाते और चिल्लाते हुए
समय से एकदम अलग था
होटल के भीतर पसरे हुए समय का चेहरा
फुरसतिया माने जाने वाले लोगों का यह ऐसा ठीहा था
जहां घंटों बैठे रहने और
गपियाने पर कोई रोक-टोक नहीं थी''[30]

बाजार सिर्फ व्यक्ति को ही नहीं सामूहिकता की संरचनाओं को भी मलिन और गुमराह करता है। नए बाजार में विचार-विमर्श की जगह लगातार कम हो रही है

''अजमल कमाल!
दिनों दिन तेज हो रही थी रोशनियां
और तेजी से बदल रही थी बाजार की शक्ल

सिकुड़ रही थी बतियाने और गप्पे मारने की जगह
लगता था आसमान पर बैठा दरजी
काट काटकर छोटा करता जाता है हमारे दिन का थान
लेकिन तब भी बरकरार था अहद होटल
और तब भी बड़े कप में मिलती थी
यहां मनमुआफिक चाय
ऊपर तक भर के''[31]

वैश्वीकरण और उसके संताप बाजारवाद का खतरा इस कविता में अन्तर्निहित है। यह कविता बाजारवाद के शोषण से उपजे संताप को बता रही है। कवि की चिंता है कि केवल पैसे जनित मान्यताओं और संवेदनाओं से समाज का भला नहीं हो सकता। यह कविता खतरों को व्यक्त कर, हमें सजग कर रही है साथ ही हमारी प्राचीन संस्कृति एवं परंपरागत मूल्यों का वैश्वीकरण के खतरों के प्रति ढाल बनाने की वकालत भी कर रही है–

''मैं तुमको बताऊं अजमल कमाल
कि बाजार की आंख में एक कांटे की तरह गढ़ने लगा था
उन दिनों वह अहद होटल
बड़ी हिकारत से कहते थे आसपास के दुकानदार
'बीच बाजार में चांप रखी है इतनी बड़ी जगह
इन फुरसतियों और बेकार के लोगों ने'
उस होटल में दिन भर जमें रहने वालों के बारे में
बहुत अच्छी राय नहीं थी आम लोग की
लेखक और कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों ही
क्योंकि यहां अक्सर पाए जाते थे
इसलिए कभी-कभी तो यहां बैठने वाले
लगभग सभी लोगों को
कम्युनिस्ट कह दिया जाता था''[32]

भूमंडलीकरण के इस युग में राजेश जोशी की कविता वैचारिकता को आत्मसात कर जीवन के तमाम पहलुओं को छूती है। जीवन के इन पहलुओं में एक ओर विडंबना, विसंगति, कुंठा, अकेलापन एवं घुटन का भाव है तो दूसरी ओर बेहतर जिंदगी के निर्माण के लिए तमाम जद्दोजहद एवं प्रयास विद्यमान है। राजेश जी जनविरोधी, समाज व्यवस्था से निरंतर संघर्ष कर मानवीय विडंबनाओं को सक्रिय प्रतिरोध में रूपांतरित करने की ताकत रखते हैं।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली
ईमेल : manjubatra93@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. वह हँसी कुछ कहती थी, पृष्ठ-112
2. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-91
3. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-92
4. डॉ. पी. रवि संपादक, कविता का वर्तमान, पृष्ठ 81
5. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-91-92
6. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-59
7. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-60
8. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-59
9. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-28
10. चांद की वर्तनी, पृष्ठ-26
11. धूपघडी, पृष्ठ-175
12. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-93
13. चांद की वर्तनी, 94 पृष्ठ-
14. चंद की वर्तनी, पृष्ठ-107
15. जिद पृष्ठ-54
16. जिद, पृष्ठ-54
17. परमानंद श्रीवास्तव, कविता का उत्तर जीवन, पृष्ठ 105
18. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-49
19. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-50
20. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-50
21. वह हंसी बहुत कुछ कहती थी, पृष्ठ-15
22. नेपथ्य में हंसी, पृष्ठ-33
23. जिद, पृष्ठ-84
24. यादव गने, राम भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास, पृष्ठ-176
25. उल्लंघन, पृष्ठ-114
26. उल्लंघन, पृष्ठ-23
27. उल्लंघन, पृष्ठ-23
28. उल्लंघन, पृष्ठ-24
29. दो पंक्तियों के बीच, पृष्ठ-71
30. दो पंक्तियों के बीच, पृष्ठ-71
31. दो पंक्तियों के बीच, पृष्ठ-72
32. दो पंक्तियों के बीच, पृष्ठ-73

हिंदी प्रदेश के लोकगीतों में स्त्री अभिव्यक्ति

हेमन्त कुमार दोशी

भारत एक बहुभाषी देश है जिसके प्रत्येक अंचल में लोक-भाषाएँ प्रवाहित हो रही हैं। हिंदी-प्रदेश में प्रमुख रूप से राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़ इत्यादि राज्यों को सम्मिलित किया जाता है। इन राज्यों के विभिन्न अँचलों में राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मालवी, निमाड़ी, बुंदेली, मैथिली, मगही, छत्तीसगढ़ी लोक-भाषाएँ अपने-अपने रंग बिखेर रही हैं। इन लोक-भाषाओं के लोकगीतों में स्त्रियों ने अपने जीवन की दुखमय गाथा को बहुत मुखर होकर अभिव्यक्त किया है।

लोकगीतों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भागीदारी अधिक होती है। इसके पीछे का कारण हमारी सामाजिक स्थितियाँ भी हैं, जहां स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझा जाता है और उनको पुरुषों की तुलना में परिवार एवं समाज में कम सम्मान मिलता है, इसके कारण स्त्री को अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए लोकगीतों का सहारा लेना पड़ता है। क्षेत्र चाहे कोई भी हो, समाज चाहे कोई भी हो हर जगह स्त्री की स्थिति एक जैसी ही है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को पुरुष की दासी समझ लिया जाता है। हिंदी प्रदेश के सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति सदैव सोचनीय रही है। वह सदैव पराश्रित रही है। समाज में स्त्री को पुत्र उत्पन्न करने का उपकरण एवं पति और परिवारजनों को खुश रखने का साधन मात्र माना जाता है।

विभिन्न अवसरों, तीज त्योहारों, श्रमगीतों, विवाह इत्यादि के अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीतों में स्त्री के हृदय की संवेदनाओं ने अभिव्यक्ति पायी है। लोकगीतों में स्त्री की मनोव्यथा, पीड़ा, अभिलाषा, मनोकामना, वेदना आदि को स्वर मिला है। सदियों से स्त्री सारी प्रताड़नाओं, अत्याचारों, यातनाओं को मौन रहकर सहती आई है किन्तु जब सहन नहीं हुआ तो उसकी पीड़ा, उसका दर्द, उसकी वेदना लोकगीतों में अनायास ही प्रकट होने लगी। इन्हीं लोकगीतों में वह अपनी कहानी कहती है, अपनी दर्द भरी दास्तान सुनाती है।

व्यक्तिगत जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियां आती हैं जब मनुष्य अपने हृदय में उत्पन्न मनोभावों को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। किसी बाह्य परिस्थिति के कारण विवश होकर उसे अपने मनोभावों को दबाना पड़ता है। ऐसे मनोभावों का अवरोधन करने की विशेष स्थिति भारतीय स्त्री के जीवन में कई बार आती है। परिस्थितियों से विवश होकर वे अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होती है। वह अपने मनोभावों को दबाती रहती है। समाज का भय, नियमों की बाध्यता, लोकवासना का ध्यान, और जीवन का मोह, ये सब कारण उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं। वह अपने सपनों को साझा नहीं कर सकती, अपनी इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर सकती। वह बस सुनती है, सहती है, और अपनी भावनाओं को दबाती है। उसकी पीड़ा, उसकी वेदना, उसके दिल की बात, सब कुछ उसके भीतर ही रह जाता है।

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में पुरुष तो जायज-नाजायज, वैध-अवैध के परिणाम की चिंता से मुक्त होकर जब चाहे तब अपने मनोभावों को खुलकर अभिव्यक्त कर सकता है, लेकिन स्त्री को लज्जा, धर्म, मर्यादा और लोकलाज का बंधन उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति के सामने उपस्थित हो जाता है। प्रणय के क्षेत्र में, दाम्पत्य जीवन में स्त्री की अपनी रुचि-अरुचि का प्रश्न ही नहीं रहता, वह अपने जीवन के फैसले स्वयं नहीं ले पाती, माता-पिता या अभिभावकों के द्वारा

तय किए गए पति के साथ उसका जीवन बंध जाता है। पति के अत्याचार, सास-ननद का क्रूर अनुशासन, सब कुछ सहती है, लेकिन कुल की लाज बचाने के लिए मौन रहती है।

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता है। हिंदी क्षेत्र के लोकगीतों में भी पुत्री का जन्म लेना एक जघन्य अपराध की तरह वर्णित हुआ है।

राजस्थान में पुत्र को विशेष सम्मान देने की परंपरा है, जो अक्सर पुत्री के प्रति भेदभाव को जन्म देती है। पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाया जाता है, जबकि पुत्री के जन्म पर उदासी छा जाती है। पुत्री को जन्म देने वाली माता पर कई तरह के अत्याचार होते हैं, और उसे खुश रहने, अच्छे कपड़े पहनने, और अच्छा भोजन करने के अधिकार से वंचित किया जाता है। जिस वैवाहिक डोर से बंधकर कोई स्त्री अपना घर, परिवार सबकुछ त्याग कर आती है, उस स्त्री का पति भी पुत्री के जन्म होने पर उस स्त्री को ही लांझन देता है और उसे छोड़ने की बात कहता है। यह स्थिति न केवल माता के लिए दुखद है, बल्कि समाज के लिए भी चिंताजनक है।

इस भावना को एक राजस्थानी लोकगीत में भी देखा जा सकता है, जो इस स्थिति को बयां करता है-

''गोरी जे थारे जनमैला धीव,
तो खाट पिछोकडै धलावसाजी।
लाडू खारे लूणरा जी,
तौ पडदौ ताणा काली कामली रौ जी।
कदैई न मुखडै बोलसा जी,
म्है तौ सिधालावा चाकरी जी।''[1]

इस लोकगीत में बताया गया है कि एक स्त्री प्रसव की पीड़ा से जूझ रही है और उसका पति उसे धमकी भरे शब्दों में कहता है कि यदि तुमने पुत्री को जन्म दिया तो तुम्हारी खैर नहीं! तुम्हारा सम्मान के साथ खाना, पीना, ओढ़ना-बिछाना तक नसीब नहीं होगा। तुम्हारा बिस्तर घर के पिछवाड़े में लगवा दूंगा, तुम्हें खाने में नमक के लड्डू खिलाऊंगा, तुम्हें पहनने के लिए पुराने फटे कपड़े दूंगा, तुमसे बात तक नहीं करूंगा और तुम्हें छोड़ कर हमेशा के लिए परदेश चला जाऊंगा और वहीं नौकरी करूंगा।

यह धमकी न केवल एक स्त्री के लिए दुखद है, बल्कि हमारे समाज की सोच को भी दर्शाती है। एक स्त्री के पुत्री के जनने पर उसकी इच्छा के विरुद्ध दंड दिया जाता है।

भोजपुरी लोकगीतों में भी स्त्री के इन्हीं मनोभावों की अभिव्यक्ति हुई है कि पुत्री को जन्म देने पर उसे अनेक कष्टों को सहन करना पड़ेगा।

''कुस ओढ़न कुस डासन बन फल भोजन रे।
ए ललना सुखुड़ी के जरेला पंसगिया निनरियौ ना आवेला रे।''[2]

इस लोकगीत में कहा गया है कि पुत्री के जन्म होने पर जच्चा का हाल बेहाल होगा - उसे घास-फूस ओढ़ने और बिछाने को मिलेगा। भोजन में जंगल के फल-फूल मिलेंगे और तो और, प्रसूता गृह में चंदन की लकड़ी की जगह भूसी जलाई जाएगी, जिससे धुआं ही धुआं होगा, और जच्चा पूरी रात नींद से कराहती रहेगी।

अपने माता-पिता की सुखद छाया में पली स्त्री जब विवाह के पश्चात ससुराल जाती है तब ससुराल में उसकी जिंदगी बदल जाती है। उसकी इच्छाएं, अभिलाषाएं सब कुछ दबा दिए जाते हैं। उसके अस्तित्व के सामने प्रश्नचिह्न लग जाता है। सास की फटकार, ससुर की दुत्कार, ननद के ताने और देवर जेठ की मनुहारें सब मिलकर उसे बिलख-बिलख कर रोने पर मजबूर कर देते हैं। ऐसी स्थिति में जब वह बंध्या होती है, तो उसे एकाकी अपराधी मान लिया जाता है। वह एक पुत्र की कामना हेतु ईश्वर की शरण में जाती है, टोना टोटका करवाती है। मालवा के एक लोकगीत में उसके जीवन की मानसिक व्यथा का चित्रण मिलता है जब वह पुत्र की कामना लिए शीतला माई के शरण में जाती है-

''एक बालूडा के कारणे, म्हारे ससराजी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे, म्हारे सासूजी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे, म्हारे जेठानी बोले बोल
माई म्हारे एक बालूडो दे
एक बालूडा के कारणे, म्हारे जेठ जी बोले बोल
एक बालूडा के कारणे, म्हारे देवर जी बोले बोल
माई म्हारे एक बालूडो दे
एक बालूडा के कारणे म्हारे सायबजी लावे लोंडी सौत
माई म्हारे एक बालुडो दे।''[3]

इस मालवी लोकगीत में बताया गया है कि एक स्त्री की जिंदगी कितनी दर्दनाक हो सकती है! वह सिर्फ एक पुत्र की कामना करती है किंतु जब वह पुत्र को जन्म नहीं दे पाती है तो उसे कितने लांछन सहने पड़ते हैं। सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर इत्यादि परिवार के सभी सदस्य उसे ही कोसते हैं तथा

उस पर बांझ होने का दोषारोपण करते हैं। वह स्त्री इन सबकी दुत्कारें सह लेती है किंतु उसकी स्थिति तब अधिक दयनीय हो जाती है जब उसका पति भी संतान न होने का दोष उस अभागिन के सिर मढ़कर उसे बांझ घोषित कर देता है और दूसरा विवाह करने का निर्णय ले लेता है। ऐसी स्थिति में उस स्त्री का दिल टूट जाता है। वह अपनी वेदना किसे कहे? वह शीतला माता के सामने अपना दर्द बयां करती है, तथा एक पुत्र की कामना करती है।

राजस्थानी लोकगीत में भी संतानहीन स्त्री की मानसिक वेदना का बड़ा ही मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है-

''सासू तौ कैवे म्हारी बहुवड़ बाँझड़ी,
परणियौ लावै ल्योड़ी सौक।
कासी रा बासी अमर बधादौ नी जग म पालणौ।
देराणी जेठानी बोले अबला बोल।''[4]

इस राजस्थानी लोकगीत में बताया गया है कि संतान न होने के कारण मेरी सास मेरे मुझे बांझ कहकर बुलाती है। मेरा पति दूसरा विवाह करने की धमकी देता है। हे काशी के बाबा, मैं आपके सामने हाथ जोड़ती हूँ, मुझे पुत्रवती होने का वरदान दें। देवरानी-जेठानी के हृदय विदारक बोल मुझे मार रहे हैं।

भोजपुरी लोकगीतों में भी स्त्री अपने ऊपर लगे बाँझपन के आरोपों को सह नहीं पाती। वह गोद भरने के लिए शीतला माता से बड़े ही दीन भाव से प्रार्थना करती है-

''सासू मारे हुदुका ननदिया पारे गारी हो मइया
गोतिनी बँझिनिया धइली नांव,
मोर गोद भरनी मइया, गोतिनी बँझिनिया धइली नांव।''[5]

अवधी लोकगीत में ही यही मनोभाव देखा जा सकता है-

''सासू मोरी कहैली बझिनिया ननद ब्रजबासिनि हो,
रामा जेकरी मैं बारी बियाही वे घर से निकारैं हो।''

इन लोकगीतों के माध्यम से हमारे समाज के भीतर की सच्चाई को देखा जा सकता है कि पहले तो परिवार में सभी चाहते है कि स्त्री पुत्र को ही जन्म दें, और जब वह किसी संतान को जन्म नहीं दे पाती है तो उसे ही बांझ घोषित कर दिया जाता है। समाज ऐसे दोषारोपण पुरुष अर्थात् उस स्त्री के पति पर कभी नहीं करता जबकि संतान के जन्म न होने का कारण पुरुष की कोई आंतरिक बीमारी भी हो सकती है। लेकिन बांझ जैसे शब्द केवल स्त्रियों के लिए ही बने हैं, पुरुष इन शब्दों के खांचे में ठीक नहीं बैठते।

मालवा के लोकगीतों में स्त्री के मन की कुंठाएं दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है। स्वयं के प्रति किए गए अत्याचारों के विरोध के रूप में तथा प्रणय क्षेत्र की अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में। विवाह के धार्मिक एवं सामाजिक बंधन में बंधने के बाद भी मनोनुकूल पति न मिलने के कारण स्त्री के असंतुष्ट रहने का कारण बनता है। अनमेल विवाह का दुष्परिणाम नारी-मानस पर पड़ता है, प्रणय की आकांक्षा से पूर्ण यौवन की उमंगों में वासना की अतृप्ति से उत्पन्न रोष, अयोग्य पति के विरुद्ध बरस पड़ता है।

''दारी बांगड़ सरिकी नार, बालम छोटा सा
मर जावे त्हारा माय ने बाप
म्हाने लाजा मती मारो भरतार
बालम छोटा सा... ''[6]

अनमेल विवाह का एक अन्य उदाहरण ब्रज क्षेत्र के लोकगीत का देखा जा सकता जिसमें बूढ़े पति के साथ नवयौवना की इच्छाओं की अतृप्ति के भाव खुलकर अभिव्यक्त होते हैं। ब्रज अंचल के इस प्रसिद्ध लोकगीत में स्त्रियां बूढ़े पति को जी भर कोसते हुए अपनी व्यथा को इस प्रकार व्यक्त करती हैं-

''बिन मेल बिगड़ गया खेल,
बुढ़े से मेरी जोड़ी ना मिले,
पांच बरस की मैं मेरी मैना पंचपन के भरतार,
वे तो ले गए लगन लिखाया,
बुढ़े से मेरी जोड़ी ना मिले, छः बरस की मैं मेरी मैना,
पचपन के भरतार,
वे तो ले गए तोरन मार,
बूढ़े से मेरी जोड़ी ना मिले,
याकू बाबा कहूं भरतार,
बुढ़े से मेरी जोड़ी ना मिले।''

हिंदी क्षेत्र के लोक में ऐसे अनेक लोकगीत प्रचलित हैं जिसमें स्त्रियों ने थोपे हुए संबंधों में अपनी नाराजगी जाहिर की है।

मैथिली भाषा का चर्चित विद्यापति रचित गीत में अनमेल विवाह से व्यथित स्त्री अपने भाग्य की चूक के लिए स्वयं को ही कोस रही हैं और कह रही है-

''पिया मोर बालक हम तरूणी,
पिया मोर बालक हम तरूणी,
कोन तप चुकल भेलहुं जननि।''[7]

वर्तमान में सम्पति में बेटी के अधिकार पर बहस हो रही है, कानून भी बन रहे हैं लेकिन समाज में आज भी स्त्रियों को

संपति के अधिकार से वंचित ही रखा जाता है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में पिता की संपति पर केवल उसके बेटे का अधिकार है, बेटी इस अधिकार से कोसों दूर रखी गई है।

लोकगीतों में पैतृक सम्पत्ति में बेटी के अधिकार की बात कई विवाह गीतों में पहले से ही दिखाई देती है-

अवधि लोकगीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

''भैया के दिहे बाबुल महला अटारी
हमका दिहे रे परदेस रे बाबूल...''

इस गीत में बेटी अपने अधिकार की बात बखूबी कर रही है लेकिन पिता इस अधिकार की बात को परम्परा की बेबसी बताकर उसे पराया बता देता है।

एक लोकगीत में विदा के समय बेटी पिता से कहती है-

''काहे को व्याही विदेशी रे बाबुल मोरे
हम तो बाबूल तोरे अंगने की चिड़िया
भोर होते उड़ जाए रे बाबुल मोरे।
विरन को दीनी महल अटरिया
हमको दीनी परदेस रे बाबुल मोरे।''

समाज में पुत्री के साथ जन्म से ही भेदभाव प्रारंभ हो जाता है। लोकगीत में बेटी मां से अपने जन्म के समय बरते जाने वाले भेदभाव को कैसे व्यक्त करती है. मगही के एक लोकगीत का उदाहरण देखा जा सकता है-

''जहिदिन हे अम्मा भइया के जलमवा
सोने की छुरी कटइलो नार हो।
जहिदिन अहे अम्मा हमरो जलमवा
हसुआ खोजइते हे अम्मा खुरपी न भेंटे,
मिटकी कटइले मोरी नार हो।''

बेटी का जन्म माँ बाप के लिए बोझ इसलिए होता है, क्योंकि उसके लिए दहेज जुटाना पडता है. एक पिता अपनी बेटी से अपनी परेशानी बताता है-

''जेहि दिन ए बेटी तोहरो
जनमवां सोनवा सकल पीले आनुरे
जहि दिन ए बेटी तोहरे जनमवां
हमरे सिरे बे सहलू गारिरे।''

पुरुष प्रधान व्यवस्था में स्त्रियों को बहुत कम अवसर मिलते हैं, जहाँ वे अपने आपको किसी भी प्रकार से व्यक्त कर सकें। किन्तु विवाह के अवसर पर स्त्रियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति देखने को मिलती है, जिसमें वे पुरुष सत्ता को ललकारती हैं, अपने आक्रोश को व्यक्त करती है। विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा 'गारियाँ' गाई जाती हैं, जिसमे वे पुरुषों को चुनौती देती है।

राजस्थानी लोकगीत में बारात के आगमन पर बारातियों का स्वागत गाली गाकर किया जाता है-

''काला-काला ही आया रे
गोरो एक न आयो
बूढ़ा-बूढ़ा ही आया रै
छोरो एक न आयो
छोटा-छोटा ही आया रै
लांबो एक न आयो''

भारतीय समाज में पत्नी के रूप में भी स्त्री के दो रूप होते हैं- सधवा और विधवा। सधवा स्त्री को तो आदर भाव से देखा जाता है किंतु वही सधवा स्त्री जब विधवा हो जाती है तो उसकी सामाजिक स्थिति ही बदल जाती है उसे पहले की तरह आदर सत्कार नहीं मिलता बल्कि उसे कुलक्षिणी, अपशकुनी कहकर पुकारा जाने लगता है। और यदि वही विधवा स्त्री पति के मरने पर पति के साथ ही चिता में सती हो जाती है तो उसे देवी स्वरूपा एवं पूज्य माना जाने लगता है। यहां तक कि विधवा होने पर स्त्री को उसके सौंदर्याभूषणों को भी त्यागना पड़ता है। इसकी अभिव्यक्ति भी हिंदी के कई लोकगीतों में देखने को मिलती है।

इस तरह भारतीय सामाजिक व्यवस्था में लिंग के आधार पर भेदभाव को देखा जा सकता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री को अपने ही समाज, अपने ही परिवार में पग-पग पर ठोकरें खाने को मजबूर होना पड़ता है। जब वह सामाजिक एवं पारिवारिक मर्यादाओं के बंधन के कारण अपने को खुलकर अभिव्यक्त नहीं पाती है तो उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर आते हैं-लोकगीत। हिंदी के लोकाँचलों के लोकगीतों में स्त्रियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति देखने को मिलती है जहां उन्होंने अपने संपूर्ण दर्द को बयां कर दिया है।

वर्तमान समय में देश को प्रगति के पथ पर निरंतर बढ़ते देखना तो हमारे समाज में स्थापित लिंग के आधार पर भेदभाव वाली व्यवस्था को पूर्ण रूप से समाप्त करना होगा। शिक्षा की पहुंच को गाँव-गाँव तक पहुंचाना होगा और यह सुनिश्चित करना होगा कि कोई स्त्री शिक्षा की पहुंच से दूर न रहें। स्त्रियों की शिक्षा के साथ-साथ पुरुषों को भी समाज द्वारा इस विषय पर बचपन से ही शिक्षित करने की आवश्यकता है कि वे स्त्रियों की भावनाओं का सम्मान करें, उन्हें सबसे पहले मनुष्य

समझे तथा समाज में, परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाएं। पुरुषों को स्त्रियों के अधिकारों और उनकी भावनाओं के बारे में शिक्षित करने के साथ साथ विद्यालयों और महाविद्यालयों में इस विषय पर विशेष पाठ्यक्रम शामिल करने की भी आवश्यकता है। पुरुषों को स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार करने, उनके अनुभवों को सुनने, उनकी भावनाओं को समझने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं शहरी स्तर पर कई सरकारी एवं सामाजिक कार्यक्रम आयोजित किए जा सकते हैं।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

1. सोहनदास चारण : राजस्थानी लोक साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन, राजस्थान साहित्य मंदिर, जोधपुर, संस्करण 1980, पृ. सं. 31
2. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोकगीत, भाग–1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण 1951, पृ.सं. 125
3. चिंतामणि उपाध्याय, मालवी लोकगीत : एक विवेचनात्मक अध्ययन, मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1964, पृ. सं. 83
4. सोहनदास चारण : राजस्थानी लोक साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन, राजस्थान साहित्य मंदिर, जोधपुर, संस्करण 1980, पृ. सं. 31
5. कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकगीत, भाग–1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण 1951, पृ.सं. 2
6. चिंतामणि उपाध्याय, मालवी लोकगीत : एक विवेचनात्मक अध्ययन, मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1964, पृ. सं. 52
7. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, ग्यारहवां संस्करण 2023, पृष्ठ सं.159

धनंजय

गजल संग्रह दरिया की बातें पत्थर से : एक साहित्यिक अनुशीलन

सच्चा कवि वही होता है जो लोक हृदय का पारखी हो। इस अधुनातन युग में लोग दुनियावी फेर में पड़कर स्वार्थ की वेदी पर मनुष्यता की बलि चढ़ा रहे हैं तब मनुष्य बने रहना ही अलभ्य वस्तु को लभ्य बनाने के बराबर है। चहुँ ओर बाजारवादी मानसिकता प्रवाहित हो रही है, पूँजीवाद हमारे अन्तस्थल में भव्य महल बना चुका है, नग्नता की मीनारें स्वर्ग के देवताओं को चुनौती दे रही हैं, बर्बरता की जड़ें अवचेतन मन के गह्वर को आतंकित कर रही हैं, मनुष्य के हृदय में अदम्य कामनाओं का सागर उद्वेलन कर रहा है तब ऐसे समय में कोई कवि या साहित्यकार साहित्य और समाज के अटूट सम्बन्ध वाली धारणा को धारित कर समाज में घटित होने वाली घटनाओं का वर्णन करके कवि साहित्यकार नहीं हो सकता है। हाँ पत्रकार जरूर बन सकता है।

सच्चा कवि होने के लिए उसे लोक हृदय का पारखी होना होगा। इन तमाम विषमताओं और विचित्रताओं के बीच उसे मानव के सच्चे हृदय की पहचान करनी होगी तदुपरान्त अपनी रचनाओं में रचकर सामाजिक का साधारणीकरण करके उसे रस दशा तक पहुँचाना होगा। वर्तमान समय में डॉ. वेदमित्र शुक्ल ऐसे ही कवि और आलोचक हैं जिन्हें लोक हृदय की गहरी समझ है। इनकी कविताओं का विषय सामान्य होता है किन्तु भाव विशिष्ट से विशिष्टतर और विशिष्टतम होते चले जाते हैं। 'दरिया की बातें पत्थर से' आपका तीसरा गजल संग्रह है। इस संग्रह में 127 गजलें संग्रहित हैं। इन गजलों के भाव उत्तमावस्था को प्राप्त करते हैं और विषय यथार्थ बिम्ब से युक्त मानव मन में मूर्त भावना उत्पन्न करते हैं –

हैं हालात गाँव के यों वह मजदूरी को शहर गया है
जल्दी लौटूंगा कह करके बरसों तक बस फोन किया है।[1]

उक्त पक्तियाँ संग्रह में संग्रहित पाँचवीं गजल की पंक्तियाँ हैं। ऊपर कह आया हूँ कि डॉ. वेदमित्र की गजलों के भाव उत्तमावस्था को पहुँच गये हैं और विषय में यथार्थ बिम्ब परिलक्षित होते हैं, यह अतियुक्ति नहीं है। उक्त कविता की क्रिया एक वचन में प्रयुक्त हुई है जिससे बिम्ब बनता है कि कवि गाँव के किसी एक व्यक्ति के खस्ती हालात का वर्णन कर रहा है, जो अपने गाँव लौटना तो चाह रहा है किन्तु बढ़ती जिम्मेदारी और आर्थिक तंगी के कारण वर्षों फोन पर गाँव-घर को लौटने को कहता ही रहता है पर लौट नहीं पाता है।

व्याकरणिक नियम के आधार पर प्रयुक्त एकवचन क्रिया बिलकुल ठीक है। बिम्ब व्यक्ति विशेष का होता है सामान्य जाति का नहीं; किन्तु भाव की उत्तमावस्था जाति समुदाय और और समाज का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि उक्त पंक्तियों के भाव केवल उस व्यक्ति की दशा का चित्रण मात्र नहीं अपितु समूचे भारत के ग्रामीण युवकों के दशा की कहानी कहते हैं। डॉ. वेदमित्र शुक्ल लोक हृदय के पारखी हैं। वे अपने गजल संग्रह 'दरिया की बातें पत्थर से' को संवाद यात्रा कहते हैं। यह संवाद यात्रा इतनी सर्वव्यापी है कि चेतन जगत के साथ-साथ जड़ जगत में भी व्याप्त है। कवि की कल्पना विशेष हैं, बातें सामान्य हैं एवं आलम्बन सहज बोधगम्य हैं तथा इन तीनों के योग से निसृत भाव सर्वव्यापी हैं, शास्वत सत्य हैं। आलोच्य पुस्तक की तीसरी गजल में व्यंजना और लक्षणा शब्दशक्ति के माध्यम से कवि ने जो सर्वव्यापी भावार्थ प्रस्तुत किया है, वह कालजयी है।

दरिया (जीवन दायनी स्रोतस्वनी) निस्वार्थ भाव से प्रतिपल

आगे बढ़ती है उसकी भावना सिद्धावस्था की है उपभोग की भावना से दूर कर्म के मार्ग पर तत्पर यही कारण है कि वह अपने मार्ग को अवरुद्ध करने वाले पत्थरों से संवाद करती है। पत्थर और जल के टकराव से निकलने वाली कल-कल ध्वनि दरिया के साधनावस्था (लोक कल्याण की भावना को प्राप्त करने के प्रयास) के गीत हैं, उन्हीं गीतों के भाव पत्थरों पर निसान छोड़ते हैं, जो लोगों को अपनी ओर लुभाते हैं। लोग उनके संवाद और निसान को सुनने, देखने दूर-दूर से आते हैं और विभिन्न अर्थों में आत्मसात करते हैं। सत्य है! नि:स्वार्थ भाव से किया गया कार्य सदैव हृदयग्राही होता है, इसीलिए कबीर के सब अपने हैं और अक्खड़ कबीर सबको ग्राह्य हैं; परन्तु यह ग्राह्य भावना तभी तक है जबतक किसी नि:स्वार्थ कार्य में स्वार्थ का दीमक बांबी न बना ले। कोई धर्म समाज भेष-भूषा तभी तक शुद्ध और मनमुदित करने वाला होता है, जबतक उसे धारण करने वाला पाखंडपूर्ण आचरण न करे। गाँधी के नाम पर श्रद्धा से नमन करने वाले व्यक्तियों के मन में आज खद्दर देखकर जुगुप्सा का भाव जागृत होने के पीछे उस खद्दर खारक का पाखंडपूर्ण आरण ही है। ऐसे ही पाखंडपूर्ण आचरण को देखकर वज्रयानियों के लिए आचार्य शुक्ल ने लिखा था- ''कैसा ही शुद्ध और सात्विक धर्म हो गूह्य और रहस्य के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाखंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।''[2] डॉ. वेद की गजल 'दरिया की बातें पत्थर से' में उक्त दोनों भाव देखने को मिलते हैं -

अच्छा लगता सुनना, यारो!
दरिया की बातें पत्थर से।
★ ★ ★
सब अपने लगते कबिरा को,
क्या घर से औ क्या बाहर से?
★ ★ ★
गांधी का इक दौर रहा पर,
घिन आती है अब खद्दर से।[3]

टालस्टाय मनुष्य-मनुष्य में भतृप्रेम संचार को ही एकमात्र काव्य मानता है, डॉ. वेद को पता है कि यह मनुष्यत्व सभी युगों में मधुरिम संवाद से ही प्राप्त किया गया है -

सतयुग हो या कलियुग यारो,
हर युग से संवाद है कविता।[4]

इनकी गजलें शब्दों का शब्दों से संवाद मात्र नही हैं, उदात्त भावों का संयोजन हैं। भाव मानसिक वृत्ति है, मानसिक वृत्ति मनुष्य के प्रवित्तानुरुप होती है और ये प्रवित्तियाँ व्यक्ति के शुभ-अशुभ परिणाम विचार पर आधारित होती हैं। दया भाव यदि दीन दु:खी लाचारों के प्रति है तो कल्याणकारी है, शुभ है, श्लाघ्य है; किन्तु यदि वही दया भाव बर्बर हिंसक असहिष्णु के लिए है तो वह न तो उतनी श्लाघ्य है और न समाज के लिए हितकारी ही। डॉ. वेदमित्र के भाव शुभ हैं, नीति निदेशक हैं, भावुकता की नकल नहीं हैं तीव्र भावों की अनुभूति हैं। उनका मानना है कि कविता शब्द-क्रीड़ा मात्र नहीं है, भावों का उद्वेलन है शब्द-क्रीड़ा करने से ही आज की कविता शाब्दिक जालों और गजलें बहरों में उलझकर रह गयी हैं-

बिना भाव के शब्द गढ़ो मत
बस शब्दों के अर्थ पढ़ो मत।[5]
उलझी हैं गजलें बहरों में
पढ़ पाया न जो नजरों में।[6]

इस संग्रह में जीवन है, प्रेम है, राजनैतिक व्यंग्य है, भौतिकवादी युग की विवशताएँ हैं, आत्मचिंतन है, गाँव की पीड़ा है शहर की आपाधापी है, सत्ता की लोलुपता है, नीति की बातें हैं प्रकृति की समझ है पुरानी स्मृतियाँ हैं कुल मिलाकर समूचा गजल संग्रह स्थूल से सूक्ष्म परिवेश की यात्रा है।

आज सत्ता लोलुप अपनी नैतिकता इतनी खो चुके हैं कि चारों ओर उनकी थू-थू हो रही है फिर भी उनपर कोई असर नहीं पड़ता है। वे तमाम दुनियावी तंजों को सुनते हुए भी अपनी लोलुप रसना फैलाए मानवता को निगल रहे हैं। उन्हें अपनी इज्जत-मर्यादा का कोई भान नहीं है वे सत्ता के मद में नहुष बन बैठे हैं उचित अनुचित भूल गये हैं। कवि इसी तथ्य को समझाते हुए सत्ताधारियों को सचेत करता है कि नहुष की भी शची की बुद्धिमत्ता के आगे नहीं चली थी-

थू-थू था-था है मची हुई,
सत्ता तो यों लालची हुई।
हर कोई चिकना घड़ा हुआ,
इज्जत किसकी है बची हुई?
गिर गए वहीं जब पता चला,
साजिश अपनों की रची हुई।
★ ★ ★
माना जन्मा है नहुष यहाँ,
पर, नारी भी तो शची हुई।[7]

भागम-भाग भरे इस शहरी जीवन में लोग अंधी दौड़, दौड़

रहे हैं कोई किसी की न सुनने वाला है और न ही समझने वाला मिलों से निकला गंदा पानी और चिमनियों से निकला धुआँ जहर बनकर ऋतु, प्रकृत और प्रकृतस्थ जीवों को निगल रहा है कवि यदि कहीं कोई चिड़िया अपनी बालकनी में देखता है तो उसे भय होता है कि कही यह भी इस विषाक्त युग की भेंट न चढ़ जाये –

आते-जाते कदमों की आहटें सुने है कौन शहर में,
गाँव मगर स्वागत करता यदि चले हवा भी किसी पहर में।
ऊब गया बेतरतीबी वाली दुनियादारी से कुछ यों,
दिल करता बस गजल कहूँ
चुपचाप बैठकर किसी बहर में।

★ ★ ★ ★

बॉलकनी तक जब भी पहुंचे सूरज, बारिश या इक चिड़िया,
डर है इनको मिल की चिमनी कहीं डुबो दे नहीं जहर में।[8]

ऐसे तो जाने कितनी बातें प्रतिदिन स्मरण हो जाया करती हैं; परन्तु कुछेक बातें ऐसी होती हैं; हमारे मन को दुनियावी यात्रा-विधानों से मुक्त करके शुद्ध मनोभूमि पर ले आती हैं। वहाँ हम समस्त दुखदर्द भूल जाते हैं दैहिक व्याधि और मानसिक आधि उस विशुद्ध स्मृतियों में दब जाती हैं। स्मृतियों की ऐसी सुखद दशा में हम जिस पल का अनुभव करते हैं वह अभूतपूर्व सुख प्रदान करने वाली होती है। डॉ. वेदमित्र शुक्ल की स्मृतियाँ ऐसी ही विशुद्ध समृतियाँ हैं जिसमें पाठक उत्तम रसदशा को प्राप्त करता है –

कजरारे वह नैन कहाँ रे
तारों वाली रैन कहाँ रे ?

★ ★ ★

प्यारी सुबह चहचहाये ज्यों
ऐसे उनके बैन कहाँ रे ?[9]

कवि के मन में सच्ची कामना है, बालक, किसान और दीनों के प्रति शुभेच्छा है जन्मभूमि से अटूट लगाव है वे अगला जन्म भी भारत भूमि पर ही लेना चाहता हैं –

हे प्रभु ! उनको राहत देना,
दुख सहने की ताकत देना।
बच्चे हैं पर, इसी उम्र से,
अच्छी-अच्छी आदत देना।
कम से कम तो इक किसान को,
धरती मैया लागत देना।
सच में यदि कोई परमपिता है,
जन्मभूमि बस भारत देना।[10]

काव्य में सौन्दर्य बाहर से थोपा नही जा सकता है, क्योंकि सौन्दर्य बाहर की वस्तु नहीं मन के भीतर की वस्तु है। और किसी कवि का भीतरी मन तभी सुन्दर हो सकता है जब वह सच्चे हृदयवाला हो उसकी भावुकता नकली न हो। यद्यपि आजकल नकली कवि और श्रोताओं की संख्या अधिक है। डॉ. वेद को ऐसे कवि श्रोता दोनों रास नहीं आते हैं उन्हें ऐसे नकली कवियों की कविताओं से अपने सुहृदयों की गाली अच्छी लगती है–

भाषा यों टकसाली थी,
दोस्त ! कहानी जाली थी।
मेजबान ने शेर कहा,
फिर तो बजनी ताली थी।
कैसे भी थे, अपने थे,
मीठी उनकी गाली थी।[11]

डॉ. वेदमित्र शुक्ल ने अपने गजल संग्रह 'दरिया की बातें पत्थर से' में मुहावरों और लोकोक्तियों का सुव्यवस्थित प्रयोग किया है, जो उनकी रचना में अर्थ गाम्भीर्य लाते हैं – सावन भादों सा झरना, सपने पालना, पल्ला झाड़ना, सपनों का महल ढहना, आँखें नम होना आदि लोक प्रचलित मुहावरे अयास ही गजल में आ गये हैं जिससे गजल सजल हो चली है। गढ़ना क्रिया से हिन्दी में बहुतायत मुहावरे मिलते हैं उसी को तुकांत बनाकर एक ही गजल में कई मुहावरों का सुन्दर प्रयोग कवि ने ऐसे किया है कि गजल सीधे हृदय में उतर जाती है –

यादों वाली इक शाम गढ़ो,
कुछ मेरे खातिर राम ! गढ़ो
सब इक जैसे मत करना जी,
कुछ खास रहे, कुछ आम गढ़ो।
सामान नहीं ये सपने हैं,
मनमाफिक इनका दाम गढ़ो।
माना अखबारों में ताकत,
पर, ईश्वर-सा मत नाम गढ़ो।
कहते कुछ ज्यादा उछल रहा
जल्दी से इक इल्जाम गढ़ो।
साहस जो आया भीतर में,
जो चाहो सो परिणाम गढ़ो।[12]

उक्त गजल में शाम गढ़ना, राम गढ़ना, आम गढ़ना, दाम गढ़ना, नाम गढ़ना, इल्जाम गढ़ना, और परिणाम गढ़ना, मुहावरे

का प्रयोग हुआ है जो एक ही क्रिया से बना है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि वेदमित्र शुक्ल एक सच्चे कवि हैं, उनकी गजलें सामाजिक का साधारणीकरण करके उनमें रस दशा की व्याप्ति कराती हैं। आपकी गजलों में छंद के बंध उद्वेलन करते हैं, जो पाठक मन को बाँधकर उदात्त मनोभूमि प्रदान करते हैं। कवि की गजलें केवल नवीनता और मौलिकता की सनक में नहीं रची गयी हैं अपितु यथार्थ के भावभूमि पर उतरकर सच्ची कविता की चमक बिखेरती हैं। इस संग्रह की सभी कविताएँ पठनीय हैं। सहृय पाठकों को इन्हें अवश्य पढ़नी चाहिए।

शोधार्थी
हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
कुमाऊं विश्वविद्यालय नैनीकाल
ईमेल : dhananjaydwivedi.91@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शुक्ल डॉ. वेदमित्र, दरिया की बातें पत्थर से, सर्वभाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ. 19
2. शुक्ल आचार्य रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 29
3. शुक्ल डॉ. वेदमित्र, दरिया की बातें पत्थर से, सर्वभाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ. 17
4. वही, पृ. 29
5. वही, पृ. 85
6. वही, पृ. 79
7. वही, पृ. 71
8. वही, पृ. 58
9. वही, पृ. 54
10. वही, पृ. 88
11. वही, पृ.48
12. वही, पृ.32

सोमवती माहौर

सूरदास के काव्य में नारी

यदि सूर काव्य को देखें तो न तो उन्होंने नारी को देव पद पर चढ़ाया न ही भोग्या समझा। उन्होंने अपनी व्यापक विचारणा से नारी को पूर्ण मानव का दर्जा देने तथा उसे पुरुष के समकक्ष स्थापित करने की पहल की है। वे एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने नारी की शक्ति, बुद्धि कौशल और कार्य क्षमता पर पूर्ण आस्था व्यक्त की है।

पहली बार कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा के पुरोधा कवि सूर ने नारी को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया है। सूर साहित्य ही है जिसमें मध्यकालीन नारी की दमित इच्छाएँ खुलकर सामने आती है। जिनमें साधारण स्त्रियों की इच्छाओं की भाँति सहजता व स्वाभाविकता है। चाहे वह गृहस्थ जीवन से बंधी माँ यशोदा हो या श्री कृष्ण की प्रेयसी राधा अथवा गाँव की ग्वालिनें, सभी अपने आप में स्वतंत्र हैं, सभी की अपनी एक पहचान है, अपने मन के दुख-दर्द को अभिव्यक्त करने की सबको समान स्वतंत्रता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारानुसार सूरसागर में गोपियों की विविध प्रेम लीलाओं का इतना अधिक वर्णन है कि इसके स्त्री चरित्र का विशाल काव्य कहें तो अनुचित न होगा।

मातृत्व व वात्सल्य वर्णन में तो महाकवि बेजोड़ हैं ही साथ ही प्रेमिका के रूप में चुहल करने वाली स्वतंत्र, चतुर, अल्हड़पन को प्रस्तुत करने में भी आप माहिर हैं।

यशोदा - मातृत्व की पराकाष्ठा

सूरदास जी के काव्य में यशोदा के माध्यम से परिवार एवं समाज में नारी को मातृरूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है।

यशोदा के माध्यम से मातृ हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल एवं हृदयग्राही चित्रण किया गया है कि लगता है सूर वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आए हैं।

''सूर तो वात्सल्य एवं मातृ भावों के कुशल वितेरे हैं ही, तभी तो वात्सल्य भाव के जितने रूप, रंग उनके काव्य में हैं, सम्भवत: इस रूप में संसार के किसी अन्य कवि को उनके समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता है।''

वास्तव में सूर ने माँ-बेटे की सर्वजनीन कहानी के माध्यम से वात्सल्य के अद्वितीय चित्र प्रस्तुत किए हैं। ''यशोदा का कृष्ण को चलना सिखाना'' कभी ताली बजा कर नचाना, कभी उसे नाना प्रकार की लोरियाँ सुनाना आदि कार्य यशोदा को वात्सल्यमयी माँ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तभी तो सूर ने यशोदा के भाग्य की सराहना अनेक पदों में व्यक्त की है। यशोदा के मातृत्व सुख की कल्पना को देवताओं, ऋषियों तथा मुनियों की शक्ति से परे बतलाते हुए सूर कहते हैं -

जो सुख ब्रज मैं एक घटी।
सौ सुख तीनि लोक मैं नाहीं धनि यह घोष पुरी।
धन्य-धन्य वड़ भागिनी जसुमति, निगमनि सही परी।
ऐसैं सूरदास के प्रभु कौं, लीन्हों अंक भरी।

माता यशोदा को पुत्र के छोटे-छोटे क्रिया-कलाप अनन्त सुख प्रदान करते हैं, एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

''हरि अपनै आँगन कछु गाबत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।
★ ★ ★
दुेरि देखति जसुमति यह लीला, हरख आनन्द बढ़ावत।''

यहाँ भगवान के पुत्र रूप में पाने की परिकल्पना नहीं है, अपितु पुत्र की शैशवोचित क्रीड़ाओं में परमेश्वर के सदृश्य

साक्षात्कार का सुख है, जिसमें किसी प्रकार की मलिनता नहीं, ईर्ष्या नहीं कोई आकांक्षा एवं प्रतिदान नहीं, सिर्फ उत्सर्ग है और है माँ के न्यौछावर की पावन भावना। कृष्ण की भोली-भाली बाल-सुलभ उक्तियों के प्रति यशोदा की अनगढ़ भावना देखते ही बनती है। तभी तो वह बार-बार कह उठती है-

''बलि-बलि जाऊँ मधुर सुर गावहु।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया, नन्दहि नाचि दिखावहु।
तारी देहु आपने कर दी, परम प्रीति उपजावहु।
★ ★ ★
नाचहु नैकुँ जाऊँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।''

इन सबके पीछे हैं कृष्ण का बालोचित हठ! कभी वे स्वयं चाँद को खेलने के लिए माँगते हैं तो कभी खाने के लिए हठ करते हैं। इतना ही नहीं कृष्ण कभी-कभी यशोदा का पुत्र न होने की धमकी दे डालते हैं-

ह्वै हौं पूत्र नन्द बाबा कौ तेरौ सुत न कहैहौं।

और माता अपने पुत्र का बाल सुलभ हठ देखकर आनन्द विभोर हो उठती है। बालक कृष्ण मणिमय आँगन में अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। कभी वे अपनी परछाई पकड़ना चाहते हैं और कभी किलक-किलक कर अपनी दंतुलियों का सौन्दर्य दिखाते हैं और माता यशोदा अपने पुत्र के नटखटपन को देखकर फूली नहीं समाती है। पुत्र के इस प्रकार के बाल सुलभ व्यवहार से जननी खुद ही शंकित हो उठती है कि कहीं उसके पुत्र के माथे पर ढिठौना लगाती है तथा उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। और बालक के थोड़े से उदास होने पर अनेक शंकाएँ मन में पाल लेती है, जरा-जरा सी बात पर कुल देवताओं को मानने लगती हैं -

''जसमति मन-मन यहै विचारति।
झझकि उठयौ सोवत हरि अबहीं,
कछु पढि-पढि तन दोष निवारति।
★ ★ ★
बार-बार कुलदेव मनावति,
दोउ कर जोरि सिरहिं लै धारति।''

वस्तुतः सूरदास नारी हृदय की गहन अनुभूतियों के पारखी थे। तभी तो मात हृदय के अनुपम चित्रों को चित्रित करने में उनकी कला का सानी नहीं है। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित ही कहा है कि यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही, चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का जैसा पवित्र रहस्य है, जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं।'' सूर की यशोदा अपने नन्हें पुत्र की लीलाओं में इतनी डूबी हुई है और इतनी आनन्द विभोर है कि उसे अपना अस्तित्व भी विस्मृत हो जाता है। पुत्र उसकी गोद का शृंगार है। लोरी गा-गाकर सुलाना, खिलाना, रिझाना उसकी दिनदर्या है। पुत्र की परिकल्पना के बिना उसका जीवन अर्थहीन है, अकल्पनीय है। डॉ. हरवंशलाल शर्मा के विचारानुसार - यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को प्रत्यक्ष दर्शाते हुए भी उस भाव में परिवर्तन अथवा विकार नहीं आने पाया।

इसी प्रकार काली मर्दन, गोवर्धन धारण, पूतनावध आदि प्रसंगों में भी माता के करूणा विगलित हृदय की अभिव्यंजना हुई है। मातृ हृदय का सबसे मार्मिक चित्रण सूर ने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर किया है। इस अवसर पर माँ यशोदा का दु:ख सभी को द्रवीभूत कर देता है। माता यशोदा का अपने पुत्र की छोटी-से-छोटी चिंता, अभिलाषा, उत्कंठा उसके हृदय की विशालता को रेखांकित करती है, जिसमें अपने सुख के लिए कुछ भी नहीं, मात्र पुत्र की शुभाकांक्षा ही उसमें निहित है। तभी तो माँ यशोदा विकल होकर सोचती है कि लाड़-प्यार में पले हुए कृष्ण तो गुरू को प्रणाम करना भी नहीं जानते वे कंस की राज सभा के नियमों को क्या जान पाएँगे। उनका सरल, मातृ हृदय यह विचार कर अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। वास्तव में यह भगवान कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नहीं है बल्कि पुत्र के प्रति माता की ममता है और इसकी गम्भीर धारा में संसार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं।

माँ यशोदा जानती है कि मथुरा में असुरों का समूह है, तभी तो वह पुत्र के अहित की आशंका मात्र से शंकित होने लगती है। वह कृष्ण के सारे कष्ट-अपने ऊपर लेने को तत्पर है, सुतरां उसका व्याकुल हृदय चित्कार कर उठता है -

''है कोउ ब्रज मैं हेतू हमारौं चलत गुपालहिं राखैं।।''

माँ यशोदा कृष्ण के बदले अपना सर्वस्व, धन-दौलत न्यौछावर करने को तैयार है। यहाँ तक कि कारावास तक खुशी-खुशी भोगने को तैयार है। अब तो उसकी एकमात्र अभिलाषा इतनी सी है कि उसका पुत्र उसकी आँखों के सामने रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने माता यशोदा के दुख की और उनकी मानसिक वेदना की अत्यन्त मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्ति की है। राजभवन में पहुँचने पर भी अपार सुखों के

बीच माँ का निश्छल मन यही सोचता है कि प्रात:काल होने पर उनके लाल (कृष्ण) को कौन बिना माँगे ही माखन-रोटी देता होगा। इस रूप में माँ के हृदय की गहराई मापना बहुत कठिन है। तभी तो माँ अपने पुत्र की सुख और सुरक्षा के लिए मथुरा में दासी तक बनकर रहना चाहती है। वह वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ है तभी तो वह पथिक से कहती है -

सदेसौ देवकी सौं कहियौ।

हौं तो धाइ तिहारे सुत की दया करत ही रहियौ॥

पद की अन्तिम कविता में मातृ हृदय की सहज गम्भीर वेदना मूर्तिमती होकर बेबसी, लाचारी और तड़पन का दृश्य उपस्थित कर रही है।

इस प्रकार का मार्मिक वर्णन सूरसागर में भरा पड़ा है, जिसमें मातृ हृदय की ममत्वपूर्ण पीड़ा, उसके हृदय की गम्भीरता, उसकी विवशता तथा लाचारी एवं नि:स्वार्थ प्रेम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण सूरदास ने किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही लिखा है कि ''शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक उनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।''

अत: हम कह सकते हैं कि सूर ने माता के रूप में जिस नारी की परिकल्पना की है वह नारी का आदर्शपरक रूप नहीं है। वह है नारी के स्वाभाविक और सहज उद्‌गारों की अभिव्यक्ति। इस रूप में सूर की यशोदा मातृत्व के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होते हुए भी सामान्य नारी की सभी रेखाओं को जीवन के इतने निकट खींच देती हैं कि वह सभी के लिए सामान्य और सम्मानीय हो उठती है।

राधा-कृष्ण की अदम्य शक्ति

राधा का मानवीय चरित्र

सूर की राधा की **सहज** अनुरक्ति, स्वच्छन्द प्रकृति, अदम्य जीवनशक्ति तथा अनुपम सौन्दर्य-मूर्ति में मनस्विनी प्रेयसी और असीम आत्मशक्ति-सम्पन्न वियोगिनी का जो उदात्त संयोग हुआ है, उससे उनका चरित्र लौकिक होकर भी लोकोत्तर बन गया है। राधा में जीवन के प्रेयस और श्रेयस तत्त्वों का अद्‌भुत संयोग है। राधा के रूप में प्रेम के सु-मधुर परिवेश में पली-विकसी किशोरी, संयोग में सिद्ध कामनामूर्ति युवती, परिणय की ओर उन्मुख प्रेयसी तथा वियोग में तपी नारी के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है। सूरदास की राधा प्रेम-प्रतिमा और प्रेम-प्रतीक के रूप में भारतीय जनता के **मन** में बस गयी है। ऐसे मानव-चरित्रों का निर्माण महान् मानववादी रचनाकार ही कर सकते हैं।

सूरदास की राधा -संयोग शृंगार

सूरदास ने बालपन में राधा कृष्ण के प्रथम दर्शन से लेकर प्रभास तीर्थ में रुक्मिणी के प्रयत्न से राधा कृष्ण के पुनर्मिलन तक संयोग और वियोग दोनों का विस्तृत वर्णन किया है। राधा कृष्ण के मिलन की अमृत भरी लीलाएं एक विलक्षण भावलोक की सृष्टि करती हैं, जिनके सम्यक् रसास्वादन के लिए सूर की आँधरी आँखें चाहिए।

सूरदास राधा कृष्ण के प्रथम मिलन का वर्णन इस प्रकार करते हैं-

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।

औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी।

सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिले परी ठगोरी।

खेलने के लिए ब्रज की गली में कान्हा निकले ही थे कि अचानक राधा दिखाई पड़ गई। राधा की बड़ी बड़ी आँखों और माथे पर रोली का टीका देखते ही कान्हा रीझ गए। नैनों से नैन मिले और सम्मोहन हो गया।

कुछ दिन के बाद राधा कान्हा को मिलीं तो इस प्रकार संवाद होता है-

बूझत श्याम कौन तू गोरी।

कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।

काहे को हम ब्रज तन आवति खेलत रहति आपनी पौरी।

सुनत रहति स्रवननि नन्द ढोटा करत फिरत माखन दधि चोरी।

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलहु संग मिलि जोरी।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।

कान्हा पूछते हैं कि हे गोरी तुम कौन हो? कहाँ रहती हो? किसकी बेटी हो? ब्रज की गलियों में कभी देखा नहीं। धौंस जमाने वाली बड़प्पन से भरी इस भाषा से राधा अप्रभावित रहती हैं। कहाँ रहती हो? और किसकी बेटी हो? इन प्रश्नों को वह अनसुना कर देती हैं। जैसे मन में कह रही हों कि क्यों बताऊँ तुम्हें। ''देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी'' का संज्ञान लेते हुए ऐसा उत्तर देती हैं कि कृष्ण का बड़प्पन और उनकी धौंस धराशायी हो जाते हैं। क्या करने के लिए हम ब्रज में आएं, अपनी पौर में खेलती रहती हूँ और सुनती रहती हूँ कि कोई नंद का बेटा है, जो दही मक्खन चुराता घूमता रहता है। हमारी पौर भी छोटी नहीं है, हम भी बड़े महर की बेटी हैं, यह अनकहा है इसमें। अब कान्हा के पास समर्पण के अतिरिक्त दूसरा विकल्प

नहीं था, किन्तु अपने बुद्धि और वाक् चातुर्य का प्रयोग करते हुए वे कहते हैं कि तुम्हारा भला क्या चुरा लूंगा मैं! चलो जोड़ी बना कर साथ में खेलते हैं। रसिका शिरोमणि की बातों ने भोली भाली राधा को सम्मोहित कर लिया। राधा हैं तो भोली ही, ऊपर ऊपर से भले ही प्रगल्भा बन रही हों।

गोपियाँ - स्वाभिमान, स्वच्छंद व एकनिष्ठ प्रेमिका

सूर ने नारी स्वतन्त्रता की परिकल्पना प्रेयसी रूप में राधा एवं अन्य गोपियों के माध्यम से की है। वास्तव में नारीत्व के जिस मुक्त, सहज एवं स्वतन्त्र रूप का चित्रण सूर ने किया है, उसमें यदि एक ओर अध्यात्म पक्ष की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर नारी के सहज और सामाजिक रूप की झाँकी देखने को मिलती है। सूर के कृष्ण रूप रस एवं शृंगार की प्रतिभा है और दूसरी ओर गोपियाँ नितान्त भावमयी हैं। उन्हें कृष्ण के ब्रह्म तत्त्व पर विश्वास नहीं होता। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा के विचारानुसार, गोपियाँ कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण उनसे प्रेम नहीं करती, वरन उनका प्रेम कृष्ण की रूप माधुरी पर अवलम्बित है। यही नहीं, वे स्पष्ट रूप से कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की अवहेलना करती है। कृष्ण के प्रति उनका आकर्षण शुद्ध ऐन्द्रिक है, पर सूर ने कांता की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए उनके रति भाव को निष्काम ही रखा है इसलिए संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं में उनका प्रेम एक रस है। वे तो अपना तन-मन रसिक शिरोमणि पर निछावर कर बैठी हैं। उनके मन में श्याम-स्लोने प्रियतम का रूप बसा है। अत: वे उन्हें प्राप्त करने के लिए कुछ भी कर सकती हैं-

जोग भलौं जो मोहन पावैं।
कहि सति भाव कष्ट तजि ऊधौ, तौ निहचैं चित्र लावैं॥
करै तपस्या विधि संजोगी, एक ध्यान धरि ध्यावैं।
★ ★ ★
हैं रस रसे सांबरे हरि के, सो रस जो बिसरावै॥

इस प्रकार गोपियों का लौकिक प्रेम विरह की आँच में तप पर उज्ज्वल, गम्भीर एवं आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण के अनुराग के संयोग वियोगात्मक पदों में आत्मा परमात्मा की अन्योक्ति है। किन्तु प्रेम और अनुराग के जो चित्र सूर ने अंकित किए हैं वे समाज में उपस्थित स्त्री पुरुष भावों के स्वाभाविक चित्र हैं। उनमें स्त्री-पुरुष के विविध रूप उनकी विविध स्थितियाँ मानसिक दशाओं, भावनाओं की अभिव्यक्ति साफ झलकती है।

सूर के गोपी-कृष्ण बचपन के संगी-साथी हैं। साहचर्य के साथ उनका स्नेह भाव प्रेम में बदल जाता है और कृष्ण के साथ बचपन से गुड्डे-गुड्डियों का खेल खेलनेवाला गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में मग्न हो जाती है। वे उनके अंग प्रत्यंग का दर्शन कर उन पर न्यौछावर हो जाती है। उनके प्रेम में मतवाली हो जाती है। यह प्रेम श्रद्धा से उत्पन्न नहीं हुआ है। श्रद्धा में एक संभ्रमता एक प्रकार की दूरी होती है। यह प्रेम तो 'लरिकाई' को है जो अबोधता, सहजता एवं साहचर्य से उत्पन्न हुआ है। वास्तव में उनका प्रेम आदर्श प्रेम है जिसको हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न बाधाओं को पार करने की लम्बी चौड़ी गाथाएँ होती हैं। गोपियों को कृष्ण की सहजता के समक्ष किसी रूप में स्वीकार्य नहीं है तभी तो वे उद्धव से कहती है -

''लरिकाई को प्रेम कहौ अलि करके कैसे छूटै।
★ ★ ★
वह चितवन वह जाल मनोहर,
वह मुसकानि मंद-धुनि गावनि।
नटवर मेष नंद-नंदन कौ, वह बिनोद, वह बन तैं आबनि।
★ ★ ★
सूरदास पल मोह न विसरति, मोहन मूरति सोवत जागत॥''

इस प्रकार के स्वाभाविक प्रेम का विकास दिखाकर सूर ने नारी हृदय का केवल मनौवैज्ञानिक चित्रण ही नहीं किया अपितु उसके प्रेम को सम्मानजनक स्थिति तक पहुँचा दिया है, क्योंकि गोपियों ने इस मार्ग को स्वयं चुना है, वह इसके प्रति किसी को भी उत्तरदायी नहीं ठहराती हैं-

ऊधो मन माने बी बात,
दाख छुहारा छाडि अमृत फल, विषकीरा विष खात।
ज्यों पतंग हित जानि आपरौं दीपक सौं लपटात।
सूरदास जाकौ मन जासौं सोई ताहि सुहात।

ये सूर की महानता है कि मध्यकाल में भी भले ही गोपियों के माध्यम से ही सही उन्होंने नारी हृदय एवं उसके मन को प्रधानता दी है। वे अपने मन से प्रेम करने का साहस रखती है। उनका प्रेम सहज आकर्षण का प्रतिफल है। वे कृष्ण के बाह्य की अपेक्षा उनके आंतरिक सौंदर्य पर मोहित हैं। वे कृष्ण प्रेम में मतवाली हो गई हैं अब उन्हें ''सूर स्याम बिनु और न भावे कोउ'' वाली स्थिति पैदा हो गई है। तभी तो वे काम-धाम भूल जाती हैं, माता-पिता का डर नहीं मानती हैं,

उनकी गालियाँ नहीं सुनती हैं, प्रात: होते ही यमुना में स्नान करती हैं और कृष्ण को पाने का व्रत ठानती हैं।

गोपियों के प्रेम का केन्द्र एकमात्र कृष्ण ही है, एकनिष्ठ प्रेम ही वास्तविक प्रेम होता है, गोपियों ने अपना प्रेम सब ओर से हटा कर उसे कृष्ण में केन्द्रित कर दिया है, एक गोपी कहती है –

मैं अपनों मन हरि सौं जोरयौ।
हरि सौं जोरि, सबनि सौं तोरयौ॥

गोपियों ने अपना तन-मन-धन सब श्याम पर न्यौछावर कर दिया है, श्याम को छोड़ उनका मन कहीं नहीं लगता, वे अपने घर-बार की तथा मन की सुधि भी भूल गई हैं।

''गोपी स्याम रंग राँची। देह गेह सुधि बिसारि।
बढ़ी प्रीति साँची॥''

इस प्रेम में किसी प्रकार का कोई खोट नहीं है। अब उनके मन में कृष्ण की चिंता को छोड़कर अन्य किसी विषय की चिंता नहीं रह गई है। हर घड़ी वे कृष्ण अथवा गोपाल की रट लगाए हैं –

''ग्वालिनी प्रगटयौ पूरन नेहु।
दधि भाजन सिर पर धरे कहति गोपालहिं लेहु॥''

प्रेम की यह अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था है – जब प्रेम करने वाले को केवल प्रेमी का ही ध्यान रहे और सब कुछ भूल जाए। अत: कहा जा सकता है कि सूर ने गोपियों के माध्यम से जिस प्रेम का चित्रण किया है वह हर प्रकार के सामाजिक दबावों से मुक्त होकर उपस्थित हुआ है। उसका सहज, स्वाभाविक विकास समाज के मध्य ही हुआ है और वह असामाजिक एवं समाज-विरोधी भी नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि मात्र दैहिक सुख ही इस प्रेम का प्रेरक हो। यहाँ प्रिय की कल्याण कामना की जो व्याकुलता मिलती है वह प्रेम को शरीर के धरातल से ऊँचा उठाकर उसे नि:स्वार्थ बनाती है।

सूरदास की राधा कृष्ण की प्रेयसी ही नहीं प्रत्युत पत्नी भी है। कृष्ण के साथ रास की पृष्ठभूमि में उसका विवाह हुआ है। उसयने अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है। उसकी समस्त क्रियाएँ कहीं भी यह आभास नहीं देती कि वह प्रेम के नैतिक धरातल से नीचे गिरी है, ''उनकी एकाग्रता और तन्मयता समाज की कृत्रिम नैतिकता को तोड़कर उस वास्तविक नैतिकता को सामने लाती है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित कर उसके चरित्र को महान बनाती है।''

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि राधा और कृष्ण का प्रेम बचपन के साहचर्य के कारण उत्पन्न होने वाला स्वाभाविक प्रेम है। सूर ने इनके प्रथम मिलन की बड़ी ही सहज अभिव्यक्ति की है। वे ब्रज के साथी मित्रों के साथ खेलते हुए निकल पड़ते हैं और अकस्मात उनकी भेंट वृषभानुसुता राधा से हो जाती है। उसी भेंट में दोनों की मोहिनी छवियाँ एक-दूसरे को मोह लेती हैं। कृष्ण और राधा का सौन्दर्य मणिकांचन का योग है, दोनों ही समव्यस्क और समान सुन्दर है। दोनों में कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं। श्याम नागर हैं तो राधा नागरी हैं–

सुनहु सखी राधा सरि को है।

* * *

जैसौं स्याम नारि यह तैसी, सुन्दर जोरि सोहें॥

इस प्रसंग में दर्शनीय है कि सूरदास ने प्रेयसी के रूप में भी नारी को पुरुष के बराबर ही उच्च स्थान दिया है। वह नारी होने के कारण पुरुष की दासी नहीं है। मध्यकाल में कुछ इस तरह की परिस्थिति थी कि नारी पुरुष के समकक्ष नहीं मानी जाती थी, उसका स्तर पुरुष से कम ही था पर यहाँ सूर ने कन्या रूप में राधा को कृष्ण के सामने बतलाकर थोड़ा लीक से हटने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राधा को रूप गुण, शील सौन्दर्य में कृष्ण से कहीं भी कमतर नहीं माना। तभी तो वे राधा की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं –

तें ही श्याम भले पहिचाने।
साँची प्रीति जानि मन मोहन तेरे ही हाथ बिकाने॥

वास्तव में राधा के प्रेम से सहजता का ही सौन्दर्य और आकर्षण है जिसमें कोई असहजता नहीं है। लघुता-प्रभुता का भाव नहीं है। कृष्ण अपने अलौकिक विराटत्व की फैंटेसी से यशोदा तथा अन्यों को भले ही चमत्कृत करते हों, राधा के समक्ष वे एक ग्रामवासी युवक ही हैं जो प्रेमी होने के अतिरिक्त सुन्दर, बलिष्ठ और मधुर बंसीवादक हैं। उसमें असाधारणता नहीं ठेठ गंवई प्रेम का स्वरूप मिलता है।

कहने का अभिप्राय है कि सूर ने जिस प्रेम की परिकल्पना अपने साहित्य में की है, वह प्रेम मानव प्रेम है। वह आध्यात्मिक प्रेम है, वैयक्तिक प्रेम भी है, किन्तु उस प्रेम में नारी सम्मान की पात्रा है।

सूर ने राधा को अनेक स्थलों पर चतुर प्रवीण कहा है। किन्तु विरह में उसके धैर्य की परीक्षा भी सामने आती है। वियोग का दु:ख राधा के स्नेह को और अधिक प्रगाढ़ बना देता है। सूर ने राधा को विलासोद्रेक से रहित प्रेम और त्याग के इतने ऊँचे प्रतिमान पर स्थापित किया है कि उसे छूना

मध्यकालीन समाज के व्यक्ति के लिए एक प्रकार का स्पप्न मात्र था। वास्तव में सूर ने सामती नैतिकता के घेरे में नारी और प्रेम दोनों को मुक्त किया है। नारी यहाँ अलग व्यक्तित्व पाती है उसमें आत्मसम्मान का भाव है- विरह में दौड़ी हुई वह मथुरा नहीं पहुँच जाती। लीहिया ने लिखा है कि नारी अगर कहीं नर के बराबर हुई है तो सिर्फ ब्रज में और कान्ह के पास, नर नारी ऐक्य का सर्वाधिक रूचिकर क्रांतिकारी रूपायन सूर ने किया है तो कृष्ण राधा की उपासना करते हैं। यदि राधा कृष्ण के वियोग में आँसुओं से भीगे आंचल को निचोड़ती है। तो कृष्ण की भी यही दशा है, वे रह-रहकर कह उठते हैं -

ऊधौ मोंहि ब्रज विसरत नाहीं॥

यह न बिसरना ही सच्चे प्रेम की पराकाष्ठा है। जहाँ प्रेमी प्रेमिका की एक ही गति है। इस प्रेमाधिक्य के कारण ही दोनों में एकरूपता है। यही कारण है कि कभी कृष्ण राधामय हो जाते हैं और कभी राधा कृष्णमय बन जाती है। प्रेम की अनन्यता में इस प्रकार का परिवर्तन परम स्वाभाविक है -

राधा माधव भेंट भई।

राधा माधव के रंग राँचे, राधा माधव रंग गई।

यह एक रूप हो जाना निष्काम प्रेम की निष्पति भी है। सूर का यह पद प्रेम का दु:खांत भी है। जहाँ क्षणिक मिलन के बाद पुन: चिर वियोग हैं, मिलन की कोई सम्भावना नहीं, कोई आशा नहीं, आकांक्षा नहीं। प्रेम केवल उत्सर्ग के लिए है, उसे दिया जाना है। उसी में उसकी सार्थकता है, पूर्णता है। इस प्रकार प्रेयसी के रूप में सूर ने नारी को अधिक सम्मानीय एवं माननीय चित्रित किया है। इस रूप में उन्होंने नारी के रूप की सराहना की उसके मन की व्यथा को गहरी सहानुभूति दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नारी मुक्ति आन्दोलन और स्त्री पुरुष समता के समसामयिक विचारों सबसे पुरानी अनुगंज सूरकाव्य में सुनाई देती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सूर की नारी दृष्टि अत्यंत व्यापक है। उन्होंने अपने काव्य में नारी मन के विभिन्न पक्षों का सजीव चित्रण किया है। उनके प्रत्येक नारी पात्र की अपनी अनोखी विशेषता है।

उन्होंने न ही नारी की निंदा की और न ही नारी को परमात्मा बनाया। उन्होंने केवल मानव के रूप में नारी के मनोभावों को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

अतिथि संकाय (हिन्दी विभाग)
गैर-कॉलेजिएट महिला शिक्षा बोर्ड
दिल्ली विश्वविद्यालय

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. सूरसागर भाग दशम स्कंध सं० (आचार्य नंददुलारे वाजपेयी) नागरी प्रचारिणी सभा
2. सूरसारावली (सं० मनमोहन गौतम रीगल बुक डिपो)
3. सूरसागर सार (सं० डॉ० धीरेंद्र वर्मा साहित्य भवन प्रा०लि०)

सहायक ग्रंथ

★ भ्रगरगीत सार - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संस्करण
★ सूर की काव्य साधना - डॉ० गोविचंद राम शर्मा, सूर की काव्य साधना,
★ भक्ति साहित्य एक पुनर्मूल्यांकन - विष्णु गोस्वामी, यशपाल प्रकाशन
★ सूर और उनका साहित्य - डॉ० हरबंस लाल शर्मा (भारत प्रकाशन)
★ सूर समीक्षा - हिन्दी निकेतन
★ श्रीमद्भागवत् - गीता प्रेस (गोरखपुर)
★ हिन्दी भक्तिकाल में नारी - शोध प्रबंध

शोध-पत्र

मानव अधिकारों के संरक्षण में सर्वोच्च न्यायालय के महत्वपूर्ण निर्णय

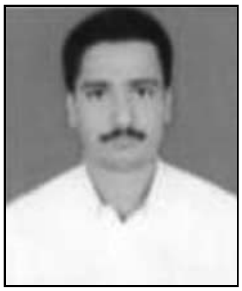

जितेन्द्र भारती

सारांश

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इन्हें कुछ ऐसे मूल तथा अहरणीय अधिकार प्राप्त हैं जिसे सामान्यतया मानव अधिकार कहा जाता है। ये अधिकार जन्म से ही उनके अस्तित्व के कारण उनसे सम्बन्धित रहते हैं। मानव अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए एक समान होते हैं चाहे उनका मूल वंश, धर्म, लिंग तथा राष्ट्रीयता कुछ भी हो। ये अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं क्योंकि यह उनकी गरिमा, स्वतंत्रता, शारीरिक, नैतिक, सामाजिक और भौतिक कल्याण के लिए सहायक होते हैं। ये मानव के भौतिक तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त स्थिति प्रदान करते हैं। इन अधिकारों के बिना सामान्यत: को भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। मानव जाति के लिए मानव अधिकार का अत्यन्त महत्व होने के कारण मानव अधिकार को कभी-कभी मूल अधिकार, आधारभूत अधिकार, अन्तर्निहित अधिकार, प्राकृतिक अधिकार और जन्म सिद्ध अधिकार के रूप में जाता है।

मूल शब्द :

मानव, विवेकशील, प्राकृतिक, अधिकार, विकास।

विषय प्रवेश :

यद्यपि मानव अधिकार निर्विवाद रूप से आज के समय में एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। राज्यों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विधिक प्रणाली, उनके विचार तथा उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों में भिन्नता के कारण 'मानवाधिकार' शब्द को परिभाषित करना कठिन है। यह एक सामान्य शब्द है। इसके अन्तर्गत नागरिक और राजनैतिक अधिकार तथा आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित हैं। मानव अधिकार का विचार मानवीय गरिमा को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। इन अधिकारों के उपभोग और संरक्षण करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। मानव अधिकार व्यक्ति में गरिमा और अन्तर्निहित योग्यता से प्रोद्भूत होते हैं।[1] व्यक्ति मानव अधिकार तथा मूल स्वतंत्रताओं का केन्द्रीय विषय है। इसे प्रत्येक व्यक्ति को, बिना किसी अन्य विचारण के, मानव परिवार के सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी के विरुद्ध धारण करना चाहिए। मानव अधिकार प्रारम्भिक मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित है। यह उनके जीवन तथा सर्वांगीण के लिए महत्वपूर्ण है।

मानव अधिकार अविभाज्य एवं अन्योन्याश्रित होते हैं।[2] सभी प्रकार के मानव अधिकार समान महत्व के होते हैं और वे सभी मानव प्राणियों में अन्तर्निहित होते हैं। मानव अधिकार की सार्वभौमिक घोषणा पत्र में मानव अधिकारों को विभिन्न श्रेणियों में नहीं बाँटा गया है। बल्कि इसे भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में इनकी गणना की गयी है। मानव अधिकारों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है, नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार और आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार। भारतीय संविधान मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से अधिक प्रभावित है। संविधान की उद्देशिका में 'व्यक्ति की गरिमा' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे व्यक्तियों में अन्तनिर्हित मूल्यों को भली प्रकार से मान्यता प्राप्त है। भारतीय संविधान के भाग तीन में व्यक्तियों को दिए गए कई अधिकार घोषणा में वर्णित अधिकारों के समान है :-

तालिका[3]

अधिकार	सार्वभौमिक घोषणा	भारतीय संविधान
विधि के समक्ष समानता का अधिकार	अनुच्छेद 7	अनुच्छेद 14
भेदभाव का प्रतिषेध	अनुच्छेद 7	अनुच्छेद 15 (1)
अवसर की समानता	अनुच्छेद 21 (2)	अनुच्छेद 16 (1)
विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता	अनुच्छेद 19	अनुच्छेद 19 (1) क
शांतिपूर्ण सभा की स्वतंत्रता	अनुच्छेद 20 (1)	अनुच्छेद 19 (1) ख
संगठन अथवा संघ निर्माण कर अधिकार	अनुच्छेद 23 (4)	अनुच्छेद 19 (1) ग
सीमा के भीतर संचरण का अधिकार	अनुच्छेद 12 (1)	अनुच्छेद 19 (1) घ
अपराधों से दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण	अनुच्छेद 11 (2)	अनुच्छेद 20 (1)
प्राण एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संरक्षण	अनुच्छेद 3	अनुच्छेद 21
दासता एवं बलात् श्रम से संरक्षण	अनुच्छेद 4	अनुच्छेद 23
अन्त:करण एवं धर्म की स्वतंत्रता	अनुच्छेद 18	अनुच्छेद 25 (1)
अधिकारों के प्रवर्तन हेतु उपचार	अनुच्छेद 8	अनुच्छेद 32

भारत के संविधान के भाग तीन में व्यक्तियों के लिए बहुत से अधिकारों का प्रावधान किया गया है जिसे मूलाधिकार कहा गया है। 'मूल' शब्द का अर्थ यह है कि ये अधिकार सभी उल्लेखनीय हैं कि नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं किन्तु वे एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उनमें भेद करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। इन दोनों अधिकारों को एक ही प्रसंविदा में अंतर्विष्ट करते हुए एक प्रसंविदा का गठन किया गया जिसे अंतर्राष्ट्रीय नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा कहा जाता है। इन अधिकारों को नकारात्मक अधिकार भी कहा जाता है क्योंकि इन अधिकारों के सम्बन्ध में यह अपेक्षा की जाती है कि सरकार उन क्रियाकलापों को नहीं करेगी जिससे इनका उल्लंघन होता है। इन दोनों प्रकारों के मानव अधिकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के अधिकार भी होते हैं जिन्हें व्यक्ति सामूहिक रूप से प्राप्त करते हैं जैसे 'आत्मनिर्णय' का अधिकार अथवा 'सामूहिक अधिकार' भी कहा जाता है।[4] मानव अधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रतायें अविभाज्य हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के उपभोग के सिवाय नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों की पूर्ण प्राप्ति असंगत है। यह 'नागरिक एवं राजनैतिक' तथा 'आर्थिक' सामाजिक एवं मानव प्राणियों में निहित हैं और मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं।[5] ये अधिकार सभ्य समाज के आधारभूत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

संविधान में मूल अधिकार अन्य अधिकारों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि मूलाधिकार अलंघनीय हैं, कोई भी विधि, अध्यादेश, रूढ़ि अथवा प्रशासनिक आदेश न तो उनमें कमी कर सकता है और न ही उन्हें छीन सकता है। कोई भी विधि जो मूलाधिकारों में से किसी भी मूलाधिकार का उल्लंघन करती हो, शून्य होगी।[6] ये अधिकार व्यवस्थापिका के साथ ही साथ कार्यपालिका पर भी बाध्यकारी है। इसे राज्य की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका अथवा न्यायपालिका द्वारा इन अधिकारों के विधिविरुद्ध उल्लंघन के विरुद्ध प्रत्याभूति प्रदान की जाती है। संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों को जनता के कल्याणार्थ सम्मिलित करना आवश्यक समझा था।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इन अधिकारों का 'प्राकृतिक अधिकार' अथवा 'मानव अधिकारों' के रूप में मान्यता दी है। मुख्य न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री ने मूलाधिकारों को उन महान एवं आधारभूत अधिकारों के रूप में संदर्भित किया है जिन्हें किसी स्वतंत्र देश के नागरिकों की प्रास्थिति में अंतर्निहित प्राकृतिक अधिकारों के रूप में मान्यता एवं प्रत्याभूति प्रदान की जाती है। एल० सी० गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव का यह प्रेक्षण उचित है कि, मूल अधिकार

परम्परागत प्राकृतिक अधिकार के रूप में ज्ञात अधिकारों का आधुनिक नाम है। ये वे नैतिक अधिकार हैं जिन्हें प्रत्येक मानव प्राणी हर समय एवं हर जगह केवल इस तथ्य के कारण प्राप्त करता है। भाग तीन में परिकल्पित अधिकार वे अधिकार हैं जो सभी व्यक्तियों में अंतर्निहित हैं। इस बात का कोई महत्व नहीं है कि उन्हें किस नाम से जाना जाता है।[7]

नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा में परिकल्पित बहुत से अधिकारों को भारतीय संविधान में विनिर्दिष्ट रूप से 'मूलाधिकारों' के रूप में मान्यता दी गयी है।

तालिका[8]

अधिकार	**नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार-प्रसंविदा**	**भारतीय संविधान**
बलात् श्रम	अनुच्छेद 8(3)	अनुच्छेद 23
विधि के समक्ष समानता	अनुच्छेद 14 (1)	अनुच्छेद 14
भेदभाव का प्रतिशेध	अनुच्छेद 26	अनुच्छेद 15
लोक सेवा के अवसर की समानता	अनुच्छेद 25 (ग)	अनुच्छेद 16 (1)
भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता	अनुच्छेद 19(1) एवं (2)	अनुच्छेद 19 (1) (ए)
शांतिपूर्ण सभा का अधिकार	अनुच्छेद 21	अनुच्छेद 19(1) (बी)
स्वतंत्रता एवं संगठन का अधिकार	अनुच्छेद 22 (1)	अनुच्छेद 19(1) (सी)
अपराधों से दोषसिद्ध किये जाने से संरक्षण	अनुच्छेद 15 (1)	अनुच्छेद 20 (1)
अभियोजन एवं दण्ड से संरक्षण	अनुच्छेद 14 (7)	अनुच्छेद 20 (2)
अपने ही विरुद्ध परिसाक्ष्य के लिए विवश न किया जाना	अनुच्छेद 14 (3) (जी)	अनुच्छेद 20 (3)
प्राण एवं दैहित स्वतंत्रता का अधिकार	अनुच्छेद 6 (1) और 9 (1)	अनुच्छेद 21
कतिपय मामलों में गिरफ्तारी एवं निरोध के विरुद्ध संरक्षण	अनुच्छेद 9 (2) (3) एवं (4)	अनुच्छेद 22
अंत:करण एव धर्म की स्वतंत्रता	अनुच्छेद 18 (1)	अनुच्छेद 25

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए कई ऐतिहासिक निर्णय दिए हैं। हंस मुल्लेर ऑफ न्यूरेम्बर्ग बनाम सुपरिण्टेण्डेण्ट प्रेसीडेन्सी जेल, कलकत्ता के मामले में यह निर्दिष्ट किया गया था कि अनुच्छेद 19 केवल नागरिकों पर ही लागू होता है।[9] अनवर बनाम जम्मू कश्मीर राज्य के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि गैर-नागरिक अनुच्छेद 19 के अधीन उपबन्धित मौलिक अधिकारों का दावा नहीं कर सकते।[10] संविधान का अनुच्छेद 14, जो विधि के समक्ष समानता अथवा भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर विधियों के समान संरक्षण को प्रत्याभूत करता है। देश का नागरिक तथा अन्य देशीय[11] दोनों पर लागू होते हैं। अनुच्छेद 20, अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 22 के अधीन उपबंधित अधिकार भारतीय नागरिकों और गैर-नागरिकों को भी उपलब्ध हैं। चेयरमैन, रेलवे बोर्ड बनाम चन्द्रिमा दास, के वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि, यहाँ तक कि वे व्यक्ति भी, जो इस देश के नागरिक नहीं हैं तथा यहाँ जो पर्यटक के रूप में अथवा अन्य किसी प्रास्थिति में आये हैं संवैधानिक प्रावधानों अनुसार अपने प्राण के संरक्षण के हकदार होंगे। उनको मानव गरिमा के साथ जीवन का अधिकार होगा। इशाक इशन्गा मुसुम्बे बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह विनिश्चय किया कि प्राण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार न केवल भारत में रहने वाले नागरिकों को उपलब्ध है बल्कि यह अधिकार विदेशी नागरिकों को भी उपलब्ध है जो भारत में रह रहे हैं।[12]

जौली जार्ज वर्गीज बनाम बैंक आफ कोचीन के मामले में मुख्य बिन्दु यह था कि क्या नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा में सम्मिलित ऐसा कोई अधिकार जिसे भारतीय संविधान द्वारा मान्यता नहीं प्रदान की गयी है, भारत में व्यक्तियों को उपलब्ध होगा? न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने 'द्वैत सिद्धान्त' को उद्धत करते हुए यह कहा था कि, राज्य पक्षकारों की सकारात्मक

प्रतिबद्धता देष में विधायी कार्य को प्रोत्साहित करती है किन्तु स्वत: प्रसंविदा को भारत के 'न्यायसार' का प्रवर्तनीय भाग नहीं बना देती है।[13] ए. डी. एम. जबलपुर बनाम एस. शुक्ला के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि भारत का संविधान अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त अधिकारों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य प्राकृतिक अथवा सामान्य विधि अधिकारों को मान्यता प्रदान नहीं करता है।[14] किन्तु वर्ष 1978 के पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय की प्रवृत्ति में विषेष रूप से परिवर्तन हुआ है। कई अवसरों पर न्यायालयों ने न्यायिक अर्थान्वयन के लिए के इस नियम को स्वीकार करते हए कि राष्ट्रीय विधि के अर्थान्वयन के लिए अंतर्राष्ट्रीय अभिसमयों एवं नियमों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। संविधान में विनिर्दिष्ट रूप से उल्लिखित न किए गए अधिकारों को भी मूलाधिकारों के रूप में मान्यता दी जा सकती है, यदि यह विनिर्दिष्ट मूलाधिकार का अखण्ड भाग हो अथवा विनिर्दिष्ट मूलाधिकारों की ही आधारभूत प्रकृति के समान उसका मूल प्रकृति हों। मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में न्यायमूर्ति भगवती द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि परीक्षण करते समय इस बात की आवश्यकता है कि क्या याची द्वारा किए गए अधिकार के दावे विनिर्दिष्ट मूलाधिकार का अखण्ड भाग है अथवा क्या दावाकृत अधिकार की आधारभूत प्रकृति वही है जो विनिर्दिष्ट मूलाधिकार की है।[15] खड़क सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि, 'अधिवासीय निरीक्षण' एकान्तता के अधिकार का उल्लंघन है और यह संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रत्याभूत नागरिकों के दैहिक स्वतंत्रता के मूलाधिकार का उल्लंघन करता है।[16]

पीपुल्स यूनियन फॉर नागरिक लिबर्टीज बनाम भारत संघ के मामले जिसे फोन टेपिंग मामले के नाम से जाना जाता है, में सर्वोच्च न्यायालय ने यह धारण किया है कि, प्राण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार में एकान्तता का अधिकार सम्मिलित है। इस प्रकार टेलीफोन बन्द करना व्यक्ति के एकान्तता के अधिकार का उल्लंघन करना है। अत: इसे अनुच्छेद 21 का उल्लंघन माना जा सकता है।[17] 'सतवन्त सिंह बनाम असिस्टेंट पासपोर्ट ऑफिसर, नयी दिल्ली' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि विदेश जाने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत व्यक्ति की 'दैहिक स्वतंत्रता' का एक भाग है। किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार छोड़कर इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।[18] हुसैन आरा खातून बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य (सं० 1) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि यद्यपि 'त्वरित विचारण' को विनिर्दिष्ट रूप से मूलाधिकार के अधिकार से सम्बन्धित है। यदि किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से किसी ऐसी प्रक्रिया के अंतर्गत वंचित किया जाता है जो 'युक्तियुक्त उचित अथवा न्यायपूर्ण' न हो, तो इस प्रकार से वंचित किया जाना अनुच्छेद 21 के अधीन प्रदत्त उसके मूलाधिकार का उल्लंघन है। उसे यह अधिकार होगा कि वह उक्त मूलाधिकार को प्रवर्तित करे और अपनी रिहा सुनिश्चित करे। किसी भी ऐसी प्रक्रिया को 'युक्तियुक्त उचित एवं न्यायपूर्ण' नहीं ठहराया जा सकता है जो युक्तियुक्त त्वरित विचारण को सुनिश्चित न करती हो, और इस प्रकार की प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 21 के विरुद्ध होगी।[19] इसी प्रकार कदरा पहाड़िया बनाम बिहार राज्य का मामला सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आया जिसमें चार व्यक्तियों को लगभग आठ वर्षों से बिना परीक्षण के संथाल परगना, बिहार के पाकुड़ (वर्तमान झारखण्ड) उप-कारागार में निरुद्ध किया गया था, न्यायाधीश ने मामले पर कड़ा रूख अपनाया। यह प्रेक्षण किया कि यह हमारी न्याय निर्णयन प्रणाली के लिए अत्यंत शर्मनाक बात है कि व्यक्तियों को बिना परीक्षण के वर्षों तक जेलों में रखा जाता है।[20]

राजदेव शर्मा बनाम स्टेट ऑफ बिहार के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि शीघ्र विचारण अभियुक्त का अधिकार है। ऐसे मामलों में जहाँ विचारण ऐसे अपराध के लिए हो रहा हो, जिसमें सात वर्षों के समय के कारावास से अधिक का दण्ड न हो, चाहे अभियुक्त जेल में हो या न हो, न्यायालय दो वर्षों के समय की समाप्ति पर अभियोजन के साक्ष्य को बंद कर देगा और यदि विचाराधीन कैदी का अपराध सात वर्ष के कारावास के दण्डादेश से अधिक का हो तो न्यायालय निर्मित आरोपों पर अभियुक्त के अभिवाक् के अभिलिखित किये जाने की तिथि से तीन वर्षों की समाप्ती पर अभियोजन साक्ष्य समाप्त कर देगा, चाहे अभियोजन ने उक्त समय के भीतर सभी साक्षियों का परीक्षण किया हो अथवा नहीं। न्यायालय साक्ष्य लेना बंद करने के लिए बाध्य नहीं है, यदि अभियोजन साक्ष्य पूरा करने की क्षमता अभियुक्त के आचरण पर आधारित हो।[21] एम. एच. होसकॉट बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि,

नि:शुल्क विधिक सेवा का अधिकार किसी अपराध के अभियुक्त के लिए युक्तियुक्त, उचित एवं न्यायपूर्ण प्रक्रिया का एक आवश्यक घटक है और यह संविधान के अनुच्छेद 21 में उपलक्षित है।[22] इसी प्रकार सुकदास बनाम यूनियन टेरिटरी आफ अरूणाचल प्रदेश के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि, दण्डाधिकारी अथवा सत्र न्यायाधीश के लिए यह बाध्यकारी है कि वह अभियुक्त को यह बताये कि राज्य के खर्च पर उसे विधिक सहायता का प्रबंध किया जा सकता है यदि अभियुक्त उसे स्वीकार करने से इंकार न करे।[23] फ्रांसिस कोरेलाई मुलीन बनाम द एडमिनिस्ट्रेटर यूनियन टेरीटरी आफ दिल्ली के मामले में न्यायालय द्वारा यह प्रेक्षण किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाय उसके प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है।[24]

सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (सं. 1) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचाराधीन कैदियों को दोषसिद्ध कैदियों के साथ रखे जाने की प्रथा को अमानवीय ठहराया गया। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि, इस प्रकार की प्रथा अनुच्छेद 19 के युक्तियुक्त परीक्षण एवं अनुच्छेद 21 के विरुद्ध है। एकान्त परिरोध के दण्ड को, संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन माना गया है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सहकैदियों के साथ विचरण करने, घुलने-मिलने, बातचीत करने और साथ में रहने की स्वतंत्रता पर यदि किसी कैदी को एकान्त परिरोध में रखकर सारभूत रूप से प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तो यह संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन माना जायेगा, जब तक कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध को विधि का आधार नहीं दे दिया जाए। कैदी को हथकड़ी-बेड़ी लगाना उसके सीमित दैहिक स्वतंत्रता पर गम्भीर व्यवधान है। इसलिए दैहिक स्वतंत्रता में इस प्रकार का प्रतिबन्ध न्यायोचित ठहराने के पूर्व इस पर विधि की प्रामाणिकता प्राप्त कर लेनी चाहिए।[25] रूदल शाह बनाम बिहार राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि, अनुच्छेद 21 जिसमें प्राण और स्वतंत्रता के अधिकार की प्रत्याभूति दी गयी है। उक्त अधिकार के उल्लंघन के युक्तियुक्त रूप से निवारित करने एवं अनुच्छेद 21 के समावेश के सम्यक् अनुपालन को सुरक्षित करने के महत्वपूर्ण तरीकों में से एक तरीका यह है कि इनके उल्लंघन करने वालों पर अर्थदण्ड अधिरोपित किया जाय।[26]

नीलावती बेहरा बनाम उड़ीसा राज्य के मामले में जिसमें याची के पुत्र की मृत्यु पुलिस अभिरक्षा में हो गयी थी, में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि, न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 32 अथवा 226 के अंतर्गत कार्यवाहियों में दोषी व्यक्ति को दण्डित करने के तौर पर प्रतिकर प्रदान करते हुए तथा नागरिकों के मानव अधिकारों के संरक्षण करने सम्बन्धी अपने लोक कर्तव्य के निर्वहन में असफल होने वाले राज्य पर लोकत्रुटि के दायित्व को नियत करते हुए तथा घटना से पीड़ित व्यक्ति अथवा उसके उत्तराधिकारियों को प्रतिकर का अधिनिर्णय करते हुए अनुतोश प्रदान कर सकता है।[27]

एस० पी० गुप्ता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि, खुली सरकार की अवधारणा संविधान के अनु० 19 (1) (ई) में प्रावधानित विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार से निकली है अत: सरकार के कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में सूचना का देना नियम होना चाहिए एवं गोपनीयता, जो एक ऐसा अपवाद है जिसे केवल तभी न्यायोचित ठहराया जा सकता है जब जनहित के लिए ऐसा करना अतिआवश्क हो।[28] यद्यपि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा में लिखित अधिकारों को संविधान के भाग तीन में स्थान नहीं दिया गया है। इस प्रकार के अधिकार संविधान के भाग चार में परिकल्पित हैं जो 'राज्य के नीति निदेशक तत्वों को प्रतिपादित करते हैं।' उपर्युक्त भाग में निदेशों एवं अनुदेशों की एक ऐसी सूची अंतर्विष्ट की गयी है। ये निदेश एवं अनुदेश भारत में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक न्याय पर आधारित संविधान निर्माताओं की लोक कल्याणकारी राज्य सम्बन्धी महत्वाकांक्षा एवं भावना को व्यक्त करते हैं। इनमें वे लक्ष्य एवं उद्देश्य अंतर्विष्ट हैं जिन्हें सरकार द्वारा प्राप्त किया जाना अपेक्षित है। राज्य नीति निदेशक तत्व देश के शासन के लिए मूलभूत हैं। इस प्रकार से भाग चार का सम्बन्ध ऐसे सकारात्मक कर्तव्यों से है, जो राज्यों पर उन्हें प्राप्त करने के लिए अधिरोपित किये गये हैं। देश की कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का यह कर्तव्य है कि वे सामाजिक न्याय प्राप्त करने एवं नागरिकों की स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से विधियों का निर्माण करके इन तत्वों का क्रियान्वयन करें। राज्य नीति निदेशक तत्व जिनमें व्यापक रूप से आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार शामिल हैं मानव अधिकारों का एक भाग होते हैं। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा के परिकल्पित कई अधिकारों को निदेशक तत्वों में सम्मिलित किया गया है।

तालिका[29]

अधिकार	आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा	भारत का संविधान
समान कार्य के लिए समान वेतन	अनुच्छेद 7 (क) (1)	अनुच्छेद 39 (डी)
सुरक्षित एवं अनुकूल दशायें	अनुच्छेद 7 (बी)	अनुच्छेद 42
काम का अधिकार	अनुच्छेद 6(1)	अनुच्छेद 41
प्रसूति सुविधा	अनुच्छेद 10 (2)	अनुच्छेद 42
बच्चों का अवसर	अनुच्छेद 10 (3)	अनुच्छेद 39 (एफ)
बच्चों को अनिवार्य शिक्षा	अनुच्छेद 13 (2) (ए)	अनुच्छेद 45
जीविका के लिए मजदूरी	अनुच्छेद 7(ए) (प)	अनुच्छेद 43
कार्य की दशायें	अनुच्छेद 7(डी)	अनुच्छेद 42
जीवन का उपयुक्त स्तर	अनुच्छेद 11	अनुच्छेद 47
शिक्षा का अधिकार	अनुच्छेद 13(ए)	अनुच्छेद 21 (ए)

मध्य प्रदेश राज्य बनाम प्रमोद मातेंगकर मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा है कि: ''यह कहना कि राज्य के नीति निदेशक तत्वों द्वारा कथित नियम न्यायालयों के समक्ष प्रवर्तनीय नहीं हैं, झूठे तर्क में अपने को लिप्त करना है। संविधान के भाग चार एवं तीन एक दूसरे से विलग नहीं समझे जाते हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं।[30] सर्वोच्च न्यायालय ने ओल्गा टेलियस बनाम बम्बई म्युनिसिपल कारपोरेशन, जो झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों के मामले के रूप में जाना जाता है, में यह निर्णय दिया है कि आजीविका का अधिकार प्राण के अधिकार का अविभाज्य अंग है जो संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकार है।[31] चमेली सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह निर्णय किया गया था कि, जीवित रहने के अधिकार में भोजन, जल, बढ़िया, वातावरण, शिक्षा, चिकित्सकीय सुरक्षा तथा आश्रय विवक्षित है।[32] सर्वोच्च न्यायालय के कन्जुमर ऐजुकेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया में यह अभिनिर्धारित किया है कि, स्वास्थ्य एवं चिकित्सीय देख-रेख का अधिकार अनुच्छेद 21 के अधीन प्रावधानित प्राण के अधिकार का एक आन्तरिक भाग है।[33] पश्चिम बंग खेत मजदूर समिति बनाम पश्चिम बंगाल राज्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि सरकारी अस्पताल को ऐसे व्यक्ति को समय से चिकित्सीय उपचार प्रदान न करने पर जिसकी उसे आवश्यकता है, अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत किये गये प्राण के अधिकार का उल्लंघन होगा।[34]

निष्कर्ष : उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बहुत से ऐसे अधिकार जिनका संविधान के भाग तीन में 'मूलाधिकारों' के रूप में विनिर्दिष्ट रूप से प्रावधान नहीं किए गए हैं, उन्हें मूलभूत अधिकार माना गया है। यह अधिकार व्यक्तियों को इसलिए उपलब्ध हैं क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान में विनिर्दिष्ट रूप से प्रावधानित अधिकारों की व्यापक व्याख्या कर दी गयी है। न्यायपालिका मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 21 को बहुत अधिक विस्तारित किया है जिसमें यह कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के सिवाय किसी अन्य प्रकार से अपने प्राण और दैहिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जायेगा। प्राण (जीवन) का मूल अधिकार जो सर्वाधिक मूल्यवान अधिकार है, और जो अन्य अधिकारों के लिए आधार का सृजन करता है, इसकी व्याख्या अधिक विस्तृत एवं व्यापक भावना से की जानी चाहिए। जिससे कि इसमें विधिमान्यता एवं इसके महत्व निहित हो जाएँ जो आने वाले वर्षों तक व्यक्ति की गरिमा एवं मानव मूल्यों में वृद्धि कर सके। यह उल्लेखनीय है कि भारत ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा को अनुसमर्थन करते समय कुछ प्रावधानों के लागू करने में कतिपय निर्बन्धनों का अधिरोपण किया है। अत: इस प्रकार के प्रावधान इस पर लागू नहीं होंगे। प्रसंविदा का अनुच्छेद 1 जिसमें आत्म निर्णय के अधिकार का प्रतिपादन किया गया

है जो केवल विदेशी आधिपत्य के अधीन रहने वाले लोगों पर लागू होगा तथा यह प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों अथवा जनता के एक वर्ग अथवा राष्ट्र पर लागू नहीं होगा। इसके अलावा, प्रसंविदा के अनुच्छेद 4 एवं 8 को इस प्रकार से लागू किया जायेगा कि यह संविधान के अनुच्छेद 19 के प्रावधानों के अनुरूप होगा। प्रसंविदा के अनुच्छेद 7 (ग) को इस प्रकार से लागू किया जायेगा कि वह संविधान के अनुच्छेद 16 (4) के प्रावधानों के अनुरूप होगा। इन निर्बन्धनों का प्रभाव यह होगा कि सरकार से यह अपेक्षा नहीं की जायेगी कि वह संविधान में प्रत्याभूत प्रावधानों से परे कोई कदम उठाये। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों तथा आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की पुष्टि की है। इसका सरोकार भारतीय संविधान के मूल अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों से है।

शोधार्थी
NTA UGC NET, June 2019
राजनीति विज्ञान विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग (झारखंड)

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, डॉ० मुकेश कुमार (2023), भारत में मानवाधिकार संरक्षण और न्यायपालिका, जयपुर, आविष्कार पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रब्यूटर्स, पृष्ठ सं०-13
2. उपरोक्त, पृष्ठ सं०-14
3. कपूर, एस.के. (2020) अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं मानवाधिकार, प्रयागराज, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, पृष्ठ सं०-758
4. चौधरी, डॉ० एकता (2023), मानव अधिकार, नई दिल्ली, ग्लोबल एकेडमिक पब्लिशर्स, पृष्ठ सं०-41
5. खण्डेला, मानचन्द (2008), मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय, जयपुर, आविष्कार पब्लिशर्स, पृष्ठ सं०-27
6. संविधान का अनुच्छेद 13 (1), (2), (3)
7. खण्डेला, मानचन्द (2008), मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय, जयपुर, आविष्कार पब्लिशर्स, पृष्ठ सं०-31
8. कपूर, एस.के. (2020) अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं मानवाधिकार, प्रयागराज, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, पृष्ठ सं०-778
9. AIR 1955 SCR 367
10. 1970 INSC 139
11. AIR 2000 SCC 465
12. 2015 SCR 3483
13. AIR 1980 SCR 913
14. AIR 1976 SC 1207
15. AIR 1978 SCR 621
16. AIR 1963 SCR 332
17. AIR 1997 SC 568
18. AIR 1967 SCR 525
19. AIR 1979 SC 1360
20. AIR 1981 SCC 671
21. AIR 1988 SCC 507
22. AIR 1978 SCC 544
23. AIR 1986 SCR 590
24. AIR 1981 SCR 516
25. AIR 1978 SCC 494
26. AIR 1983 SC 1086
27. AIR 1993 SCR 581
28. AIR 1982 SCR 365
29. कपूर, एस.के. (2020) अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं मानवाधिकार, प्रयागराज, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, पृष्ठ सं०-762-763
30. 1965 CRILJ 562
31. AIR 1986 SCC 545
32. AIR 1995 SCR 827
33. AIR 1995 SCC 42
34. AIR 1996 SCC 37

श्री कृपालु जी महाराज की राधा विषयक अवधारणा

डॉ. सुनीता शर्मा

महामंत्र प्रदातारं माधुर्यभाव, सागरम्।
मधुकृष्णस्वरूप तं महाप्रभुम् नमाम्यहम्॥

श्री राधा कौन है? इसका निरुपण श्री कृपालु जी महाराज ने वेदों, पुराणों द्वारा स्पष्ट किया है। कृपालु जी महाराज के द्वारा राधा तत्त्व को स्पष्ट करने के बाद ही लोगों ने जाना कि राधा कौन है? महाराज जी ने जब राधा तत्त्व को स्पष्ट करने का तथा लोगों के हृदय में राधा के प्रति प्रेम भरने का प्रयास किया तो अनेकानेक विद्वानों ने राधा तत्त्व का विरोध किया कि राधा नाम वेदों और भागवत में तो आया ही नहीं है, हम लोग तो जो बात प्रमाणित न हो उसको स्वीकार ही नहीं करते। इसके उत्तर में श्री कृपालु जी महाराज ने सर्वप्रथम वेदों और पुराणों में जहाँ-जहाँ भी राधा का नाम आया है है उसको स्पष्ट किया, वेद कहता है-

यस्यारेणु पादयोर्विश्वभर्ता घरते मूर्ध्नि।
यस्या अंके विलुण्ठन् कृष्णदेवो नैव सस्मार
गोलोकारव्यं घामपदं सांशा कमला शैलपुत्री
ता राधिकां शक्तिधात्रीं नमामः॥

(राधिकोपनिषत्)

जिनकी चरणधूलि भगवान श्रीकृष्ण अपने सिर पर धारण करते हैं, जिसकी गोद में लटे हुए श्रीकृष्ण अपने गोलोक को भूल जाते हैं। जिन राधा की अंश हैं- करोड़ों लक्ष्मी, करोड़ों ब्रह्माणी, करोड़ों पार्वती वो है राधा। ब्रह्मा ने कहा वेदों में-

एषा वै सर्वेश्वरी।
महिमाऽस्या स्वायुर्मानेनायिकालेन
वक्तुम् न चोत्सहे।

(ऋग्वेदीय राधिकोपनिषत्)

ये सब ईश्वरों की भी ईश्वरी है। इनकी महिमा को हम अपनी पूरी आयु में भी नहीं बता सकते।

भगवान श्रीकृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं - (1) स्वरूप शक्ति (2) जीव शक्ति (3) माया शक्ति।

स्वरूप शक्ति भगवान कृष्ण की व्यक्तिगत है। इसकी भी तीन शक्तियाँ प्रमुख हैं - सर्व स्वरूप शक्ति (2) चित् स्वरूप शक्ति (3) आनन्द स्वरूप शक्ति।

इन सबमें आनन्द स्वरूप शक्ति सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। यदि इस आनन्द शक्ति रूपी दूध में मक्खन निकला तो यह हो गयी ह्लादिनी शक्ति। ह्लादिनी शक्ति रूपी मक्खन से जब घी बना तो उसे कहा गया प्रेम। अब उस प्रेम का भी सार तत्त्व होता है, जिसका नाम है - राधातत्त्व।

कृपालु जी महाराज कहते हैं कि बड़े-बड़े विद्वानों का कहना है कि वेदों में तो राधा शब्द है ही नहीं तो सबसे पहले वेदों में ही देखें कि राधा शब्द है या नहीं।

1. राधः (ऋग्वेद 1.9.5) - कर्ता कारक - प्रथमा
2. राधांसि (ऋग्वेद 1.22.8) - कर्म कारक - द्वितीया
3. राधसा (ऋग्वेद 1.4.8.14) - करण कारक - तृतीया
4. राधसे (ऋग्वेद 1.17.7) - सम्प्रदान कारक - चतुर्थी
5. राधसः (ऋग्वेद 1.15.5) - अपादान कारक - पंचमी
6. राधसाम (ऋग्वेद 3.90.2) - सम्बंध कारक - षष्ठी
7. राधसि (ऋग्वेद 4.32.21) - अधिकरण कारक - सप्तमी

अतः सातों विभक्तियों में ऋग्वेद के अन्तर्गत राधा शब्द

है। इसके अतिरिक्त–

स्तोत्र राधाना पते।

ब्राह्मणादिन्द्रराधसः– यह ऋग्वेद है।

विभक्तारं हवामहे

वसोश्चित्रस्य राधसः– यह ऋग्वेद है।

इदं ह्यन्वोजसां सुतं राधानां पते। यह ऋग्वेद है।

राधया सहितो देवो। माधवेनैक राधिका। यह ऋग्वेद है।

एकं ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्। यह ऋग्वेद है।

अतः इनमें भी राधा तत्त्व का वर्णन है।

उपनिषदों में–

मंत्रब्राहाणयोर्वेदनामधेयम्।

(आपस्तम्ब वेदभाष्य)

मंत्र और ब्राह्मण वेद कहलाते हैं।

वेद व्यास ने राधा शब्द का अर्थ किया है–

राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद् राधेति कीर्तिता।

अर्थात् जो जीवों की समस्त कामनाओं को थोड़े से आँसू बहाने से पूरा कर देती उनका नाम राधा।

आदौ राधां समुच्चार्य पश्चात् कृष्णं परात्परम्।
स एवं पण्डितो मैयी गोलोकं याति लीलया॥

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

पहले राधा का उच्चारण करो, पश्चात् श्री कृष्ण का करो, इस प्रकार उच्चारण करने वाला, कीर्तन करने वाला, ध्यान करने वाला गोलोक को जाता है।

अतः कृपालु जी का कहना है कि राधा का निरूपण अनन्त स्थानों पर भरा पड़ा है। रसिकों की वाणी की थाह ही नहीं। हमारे ब्रज में बड़े-बड़े सन्त हुए, आचार्य हुए वे सब राधा-कृष्ण के भक्त थे। माध्वाचार्य लक्ष्मीनारायण के भक्त, उनके शिष्य माधवेन्द्रपुरी राधाकृष्ण के भक्त, उनके शिष्य ईश्वर पुरी, वह राधा-कृष्ण के भक्त थे। वल्ललभाचार्य जी का कहना है कि राधा स्वयं ब्रहा है और निम्बार्काचार्य जी कहते हैं कि राधा शक्ति हैं और श्रीराधा शक्ति है और श्रीकृष्ण शक्तिमान है, शक्ति और शक्तिमान में भेद भी होता है और अभेद भी। गौरांग महाप्रभु कहते हैं कि राधाकृष्ण दोनों नित्य हैं और नित्य ही एक है।

श्री महाराज जी ने स्वरचित राधा गोविन्द गीत में इसका निरूपण किया है–

माध्वाचार्य लक्ष्मी भक्त गोविन्द राधे।
माधवेन्द्रपुरी राधा भक्त बता दे॥
निम्बार्क की राधा गोविन्द राधे।
शक्ति ह्लादिनी हैं भेदाभेद बता दे॥
बल्लभ की राधा गोविन्द राधे।
शक्ति ब्रह्ममाते अभेद बता दे॥
चैतन्य की राधा गोविन्द राधे।
कृष्ण ते पूर्ण भेदाभेद बता दे॥

राधा तत्त्व को श्री कृपालु जी महाराज ने जन जन तक पहुँचाया तथा और लाखों लोगों को राधा रानी का उपासक बनाया एवं इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया –

अद्वितीय एक तत्व है, राधा तत्व प्रधान।
याको दूजो रूप है, स्वयं कृष्ण भगवान॥
जो राधा सो कृष्ण है, इनमें भेद न मान।
इक है हादिनी शक्ति अरु, शक्तिमान एक जान॥

राधा तत्त्व उजागर करने के लिए श्री महाराज जी ने बरसाना घाम में कीर्ति मन्दिर का निर्माण भी करवाया जहाँ प्रत्येक साधक राधा रानी रूप, लीला, गुण आदि का ध्यान करते हुए आज भी रो-रोकर राधा रानी को पुकार रहे है–

आजा आजा दरस दिखा जा, आजा वरसानेवाली।
हो जा प्रकट रंगीली महलनि, ब्रज रस बरसानेवाली॥

अतः समस्त जीवात्माओं की आत्मा केवल परमात्मा श्री कृष्ण ही है।

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मान सर्वदेहिनाम्।

(भागवत)

वेद कहता है शरीर के स्वामी हम हैं। हमारे स्वामी श्रीकृष्ण ऐसे ही श्रीकृष्ण की स्वामिनी राधा।

मात्मा तु राधिका तस्य तरच रमणादसी।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढ़ वेदिभिः॥

अतएव समस्त प्राणी एक मात्र श्री कृष्ण के दास हैं। ऐसे ही श्री कृष्ण भी श्री राधा के दास हैं। आचार्य श्री ने भी इसी पक्ष को प्रचुरता से अपनाया है। उनके श्री मुख पर आल्हाद होता है मानो उनके अन्दर श्री राधा-सुधारस का अनन्त सागर लहरा रहा है जिसका को और छोर नहीं है। श्री कृपालु जी महाराज ने 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार श्रीराधा -कृष्ण को ही अद्वितीय तत्त्व मात्रा है।

सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग
डॉ. भीम राव अंबेडकर महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध-पत्र

विरोधी मार्गों के मिलनबिंदु का चिंतक - आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

पीयूष पाण्डेय

प्रस्तावना

पंडित विष्णुकांत शास्त्री भारतीय चिंतनपक्ष के धूमकेतु हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा की इस विशाल यात्रा में ऐसे कुछ ही पड़ाव मिलते हैं जहाँ काल अपनी सृजन शक्ति से ऐसे चिंतकों को जन्म देता है, जो विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़े हों या फिर समन्वय की विराट चेतना के प्रतीकपुरुष हों। हिंदी साहित्य में ऐसे महात्माओं की संख्या भी कम ही है। मसलन, कबीर और तुलसी के बाद देखा जाए तो यह संख्या नगण्य हो जाती है। आधुनिक काल में हमें विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर कोई खड़ा नजर आता है तो वह पंडित विष्णुकांत शास्त्री हैं। पंडित विष्णुकांत शास्त्री अपने समय के सजग चितेरे ही नहीं अपितु गंभीर चिंतक भी हैं। विष्णुकांत शास्त्री के साहित्य में हमें अपने समय की गंभीर विवेचना मिलती है। वह पुरातन और नूतन के बीच सेतु की भांति खड़े नजर आते हैं, जो अडिग भी है और अविचलित भी; एक ऐसा सेतु जिसे समय का प्रवाह नहीं धूमिल कर सका और न काल कवलित। यह सेतु आज भी साहित्य के आसमान में धूमकेतु सा चमक रहा है। बात चाहे साहित्य, राजनीति या फिर समाज के किसी भी पक्ष की हो। उनके जीवन की भांति उनका साहित्य भी वैविध यमय पहलुओं से भरा पड़ा है। वह एक ओर तो परंपरा के साथ खड़े नजर आते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके चिंतन में आधुनिकता की चमक भी मौजूद है। वह एक ओर अध्यात्म जैसे बौद्धिक पक्ष पर लिखते हैं, वहीं दूसरी तरफ काव्य रचना कर हृदय पक्ष का भी प्रमाण देते हैं। पंडित विष्णुकांत शास्त्री का चिंतन भी बहुआयामी है। उनका चिंतन कबीर और तुलसी से लेकर भारतेंदु और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तक के साहित्य पर है। उनको साहित्य के एक काल के विद्वान के रूप में देखना तो असंभव ही है, साथ ही उनके रचना संसार को भी साहित्य की किसी एक धारा से संबद्ध करके नहीं देखा जा सकता। यदि हम देखें तो पंडित विष्णुकांत शास्त्री न तो पूर्णत: किसी एक धारा में बहे और न ही किसी दूसरी धारा का तिरस्कार किया, बल्कि उन्होंने अपने चिंतन की पृष्ठभूमि भारतीयता को बनाया और उस पर अपने साहित्य के विराट और विपुल भवन का निर्माण किया। पंडित विष्णुकांत शास्त्री की समन्वयकारी प्रवृत्ति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि वह एक तरफ स्वामी अखंडानंद सरस्वती पर ''खंड-खंड फिर भी अखंड : स्वामी अखंडानंद सरस्वती'' नामक संस्मरण लिखते हैं तो दूसरी ओर ''पूछते हैं वो कि गालिब कौन हैं'' नामक निबंध में गालिब पर भी लिखते हैं। इसके साथ ही उन्होंने ''इस्लाम भारतीय संदर्भ में : हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग'' तथा ''भूषण की दृष्टि में शिवाजी'' जैसा आलेख भी लिखा। पंडित विष्णुकांत शास्त्री के विविधता पूर्ण रचना संसार को देखने के बाद उन्हें ''विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़ा चिंतक'' कहना पूर्णत: सार्थक लगता है।

बहुआयामी व्यक्तित्व का सामंजस्य

पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी का जीवन कई धाराओं में बहता और पुष्ट होता था। विष्णुकांत जी कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर तो थे ही, परंतु पिताजी का संस्कृत विषय में प्रोफेसर होने के कारण उन्हें भारतीय चिंतनपक्ष या फिर संस्कृत वाङ्मय का अच्छा ज्ञान था। यही कारण है कि वह अन्य लेखकों और रचनाकारों से अलग हटकर भक्ति,

उपनिषद और गीता पर भी अपने विचार प्रकट करते हैं, जो कि उनकी पहचान हिंदी के विशिष्ट लोगों की सूची में शामिल कर देता है। उनका यह बहुआयामी व्यक्तित्व ही है कि वह जीवन को बहुस्तरीयता के आधार पर ही नहीं जीते, अपितु वह साहित्य में भी अपने बहुआयामी व्यक्तित्व की छाप छोड़ते हैं। एक ओर उनके चिंतन में जहाँ शास्त्रीय (क्लासिक) संस्कृत साहित्य का हस्ताक्षर कहे जाने वाले कालिदास मौजूद हैं, तो वहीं दूसरी ओर मध्यकाल में अपनी रचना के माध्यम से समाज को अमृत दे जाने वाले तुलसीदास और कबीर भी मौजूद हैं। ऐसा नहीं है कि पुराणपंथियों की तरह पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी को आधुनिक समय पर चिंतन करने से कोई परहेज हो। उन्होंने आधुनिक काल के साहित्यकारों पर भी भरपूर लिखा, जिसमें नवजागरण के पुरोधा भारतेंदु से लेकर गीत और नवगीत जैसे नितांत नवीन विषय भी हैं। पंडित विष्णुकांत शास्त्री कुछेक चुनिंदा रचनाकारों में से हैं जिनके पास आलोचकीय ताप और कविता की बासंती महक एक साथ मौजूद है। वह समयानुकूल हैं। वह अपनी आलोचना में इतने कठोर हैं कि मानो जेठ की दुपहरी में आग बरस रही हो और अपनी कविता में इतने सहज हैं कि जैसे चातक की पुकार पर मेघ नाचे। इन सबके अतिरिक्त वह एक सामाजिक कार्यकर्ता भी थे जो आगे चलकर राजनीति का प्रमुख चेहरा भी बने। वह जनता पार्टी की ओर से पश्चिम बंगाल में विधायक रहे, भारतीय जनता पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक रहे, भारतीय जनता पार्टी की ओर से पश्चिम बंगाल प्रदेश के अध्यक्ष रहे, वह भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष भी रहे। इसके अतिरिक्त वह उत्तर प्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल भी रहे। एक ही व्यक्ति में इतने विभेदों का पाया जाना और तिस पर तुर्रा यह कि वह सारे विभेद एक-दूसरे के बाधक न होकर साधक साबित होते हों तो - यह स्वाभाविक है कि ऐसे किसी भी व्यक्ति को 'विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़ा चिंतक' कहा जा सकता है।

परंपरा और आधुनिकता के समन्वय का सेतु

शास्त्री जी के चिंतन परंपरा की जड़ें वहीं जुड़ी हुई हैं, जहाँ से भारतीय चिंतन परंपरा का उत्स माना जाता है या फिर आधुनिक चिंतन परंपरा जहाँ से प्राण वायु पाती है। उनका मानना था कि भारतीय जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना आवश्यक है। इन सबके बावजूद भी पंडित विष्णुकांत शास्त्री अपने समय के आधुनिक चिंतन से निरपेक्ष नहीं थे, वे समय के साथ चलना जानते थे और अपने युग के प्रश्नों पर विचार भी करते थे, इस बात का प्रमाण हैं उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ। ऐसा नहीं है कि वे सिर्फ हिंदी साहित्य के किसी एक काल के ही जानकार हों, विशेषकर भक्तिकाल के या फिर ऐसा भी नहीं है कि उनके मूल्यांकन की सीमा मात्र कबीर, तुलसी, गीता या उपनिषदों तक ही सिमटी हो, बल्कि उनके चिंतन का प्रवाह आधुनिक काल के भिन्न-भिन्न पराकोटियों पर खड़े साहित्यकारों के विपुल रचना संसार तक गया और पंडित जी ने उसमें अवगाहन कर जो कुछ भी श्रेष्ठ पाया उसकी प्रशंसा की और उसे अपने आलोचना संसार में स्थान दिया। वे राष्ट्रवाद के पुरोधा थे, एक ऐसे राष्ट्रवाद के जिसकी जड़ें संस्कृति में समाहित थीं। दूसरे अर्थों में कहें तो वो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पुरोधा थे। उनका राष्ट्रवाद उग्र राष्ट्रवाद नहीं था, बल्कि उसका स्पर्श बेहद ही मुलायम और कोमल था। उनका राष्ट्रवाद भूषण और सूफी संतों के स्वरों से रंगा हुआ एक ऐसा राष्ट्रवाद था, जिसका स्वर सामासिक था, न कि अपवर्जी। उन्होंने वर्तमान समय के संघर्षों से जूझने के लिए जब अतीत की ओर देखा, तो उनकी दृष्टि राम की ओर गई। इतिहास में राम का आकलन करना इस बात का प्रमाण है कि पंडित विष्णुकांत शास्त्री अतीत की ओर पलायन की दृष्टि से नहीं, अपितु अपने अंदर ऊर्जा का संचार करने के लिए देखते थे। यह सत्य है कि पंडित विष्णुकांत शास्त्री के चिंतन के केंद्र में आधुनिक एवं परंपरा दोनों ही विषय मौजूद है। परंतु गौर से देखने पर पता लगता है कि उनके परंपरागत विषयों के चिंतन के पीछे भी आधुनिक तत्व मौजूद है। पंडित विष्णुकांत शास्त्री अहिल्या मुक्ति प्रसंग पर विचार करते हुए महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी और अधिकवि भगवान वाल्मीकि के संवाद पर विचार करते हुए कहते हैं कि ''अहल्या को शापमुक्त कर सद्गति देने का गौरवबोध तुलसी के राम नहीं करते, इसी का पश्चात्ताप करते रहते हैं कि ऋषिपत्नी को चरण से छूने की विवशता थी, 'सिला साप-संताप बिगत भई परसत पावन पाँउ, दई सुगति सो न हेरि हरष ह्रिय चरन छुए पछिताउ'।''[1] यहाँ यह जाहिर है कि वाल्मीकि रमणीय के राम अहिल्या को मुक्त कर के गर्व से भर जाते हैं। इस प्रसंग से यह स्थापित होता है कि पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी की दृष्टि परंपरागत विषयों में भी सदैव आधुनिक बनी रही है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से राम को अपने साहित्य का विषय नहीं बनाया, बल्कि तुलसी साहित्य पर विचार करते हुए वो राम पर लिखते

हैं। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो 'तुलसी के राम' नामक निबंध के माध्यम से विष्णुकांत शास्त्री के राम की जो छवि उभरकर सामने आती है वह आधुनिक राम की छवि है ना कि मध्यकालीन। रामकथा का आकलन आधुनिक संदर्भ में करते हुए वो लिखते हैं कि ''यहां तक कि हर एक के मन में भी राम-रावण युद्ध चल रहा है। यदि व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह का शिकार होकर विषय-वासना की तृप्ति को ही अपना परम ध्येय मान बैठता है तो मुंह से वह चाहे कुछ भी कहे, वास्तव में वह रावण के पक्ष में लड़ता है।''[2] भारतीय चिंतन का एक विशेषता यह भी है कि वह अपने परंपरागत या फिर पौराणिक विषयों, चरित्रों के आड़ में ही आधुनिक समय पर चिंतन करता है। चाहे वह साकेत में राम के हवाले से आधुनिकता और गांधीवाद पर चिंतन किया जाए या फिर रामकथा के हवाले से काम, क्रोध, मोह और लाभ पर। राम एक परंपरागत विषय हैं उन पर आधुनिक मन से विचार करना ही पंडित विष्णुकांत शास्त्री को समन्वय के सेतु के रूप में स्थापित करता है।

साहित्य और राजनीति का संगम

हमारे देश में पुरखों और चिंतकों ने राजनीति का एक धर्म सुनिश्चित किया, परंतु हमने देखा है कि पिछले कई दशकों से सांप्रदायिक सद्भाव के अभाव में इस देश में धर्म की राजनीति की गई। इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि साहित्य का काम राजनीति को दिशा दिखाना था, परंतु इतिहास इस बात का भी गवाह है कि बहुत सारे साहित्यकारों ने राजनीति की, जिसमें नामों की एक लंबी फेहरिस्त है। इसमें नामवर सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु तक शामिल हैं। इसी क्रम में एक नाम और आता है, वह नाम पंडित विष्णुकांत शास्त्री का है। आमतौर पर, साहित्य के क्षेत्र का व्यक्ति राजनीति करते हुए साहित्य द्वारा प्रतिपादित आदर्शों, सामाजिक सरोकारों एवं श्रेष्ठ मूल्यों की तिलांजलि दे देता है, परंतु साहित्य के विपरीत मिजाज रखने वाली राजनीति में भी काम करते हुए पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी ने शुद्धता और अध्यात्म को बनाए रखा। उन्होंने राजनीति तो की, परंतु साहित्य सृजन भी करते रहे। वे राजनीति की विराट दुनिया में जितने बौद्धिक थे। अपने साहित्य के कोने में उतने ही निश्छल और भावुक भी, गिरिराज किशोर जी लिखते हैं कि ''मैंने उनके कमरे में गोलवलकर जी का चित्र देखा है। लेकिन गांधी पर लिखे उपन्यास को पढ़कर रोने की बात उनके साहित्यिक सहृदयता का प्रमाण है।''[3] उन्होंने कभी भी अपने राजनैतिक जीवन को साहित्यिक कर्म के ऊपर हावी नहीं होने दिया। गिरिराज किशोर जी अपने एक संस्मरण में कहते हैं कि ''एक बात मैं यहाँ और जोड़ दूँ वे इस तरह को गोष्ठियों में कभी प्रधानमंत्री की कविताएं नहीं पढ़ते। राजनीतिक बाध्यताएँ कई बार ऐसी होती है कि इंसान साहित्यिक और राजनीतिक दायित्यों के बीच भेद नहीं कर पाता। शास्त्री जी का यह विवेक इस दृष्टि से कभी धुंधला नहीं पड़ा''[4]

एक तरफ उनके वैचारिक निबंधों में भारतीय चिंतन के सभी बीज तत्त्व दिखाई देते हैं, मसलन वह चाहे राजनैतिक हों, सामाजिक हों या फिर सांस्कृतिक हों। इसके साथ ही उनकी कविताओं में सभी भावनात्मक पक्ष उभर कर सामने आ जाते हैं। उनका राष्ट्रप्रेम राजनीति में जयघोष की इच्छा लेकर आए हुए अन्य नेताओं की तरह मात्र उद्घोष भर नहीं था, बल्कि वह उनके चिंतन से परिपोषित नारा था, जिसके पीछे विचारों का विराट संगम था। राजनीति में उन्होंने उच्च नैतिक मूल्यों और सादगी को महत्त्व दिया। साहित्यिक विद्वता ने उनकी वाणी को सम्मोहक और अभिव्यक्ति को निश्छल बनाया। उन्होंने यह स्थापित कर दिया कि राजनीति की परिभाषा उस वेश्या की तरह नहीं है जो एक का दामन थामे, दूसरे की इच्छा मन में लिए हुए तीसरे के साथ कुर्सी पर बैठी हो, बल्कि वह तो उस अबोध बालक की तरह है जो माँ के एक स्तन से दूध पीता है तो दूसरे पर पैर चलाता है। वह पूर्णत: अबोध है। यदि उसको आदर्श की उच्च मनोभूमि से नितांत नैतिक होकर संचालित किया जाए तो निश्चय ही वह शुभ मार्गो की अनुगामिनी होगी। यद्यपि साहित्य और राजनीति सामाजिक जीवन के दो धुरी पर आधारित कलात्मक कार्य हैं, तथापि पंडित विष्णुकांत शास्त्री ने उन दोनों के बीच यथासंभव समन्वय की भूमिका निभाई। गिरिराज किशोर जी लिखते हैं कि ष्जब में शिमला में फैलो था तो उत्तरप्रदेश से पूर्व पे हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल हुए थे। मेरा उपन्यास ''पहला गिरमिटिया छपकर आया था। मैंने उसकी एक प्रति शास्त्री जी को भेंट की। मुझे स्मरण है कि उन्होंने 'परिशिष्ट' पढ़कर मुझे सकारात्मक पत्र लिखा था।''[5] बात राजनीति की हो या फिर साहित्य की पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी ने जन के कल्याण की भावना को सदैव अपने कर्म और चिंतन के केंद्र में रखा। राजनीति और साहित्य इन दो पराकोटियों के मध्य समान रूप से अवगाहन कर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वह वास्तव में विरोधी मार्गो के मिलन बिंदु पर खड़े चिंतक हैं।

समन्वय के शिखर पुरुष

'विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़ा चिंतक' यह उपमा उनके जीवन के सभी पक्षों पर बराबर प्रकाश डालती है, परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनमें समन्वय की भी अपार क्षमता थी, चाहे वह भक्ति और कर्म का समन्वय हो, परंपरा और आधुनिकता का हो, राजनीति और साहित्य का हो, लिखने और न लिखने के बीच के द्वंद्व का हो, निजी जीवन में अंतर्मुखी, संकोची (जैसा कि उनके आत्म-निरूपण में दिखता है) या फिर राजनैतिक जीवन में बहिर्मुखी होने का हो, विचार और व्यवहार का हो, तर्कशील विद्वान या फिर भावुक भक्त होने का हो। इन सबका समन्वय पंडित विष्णुकांत शास्त्री ने किया है। पंडित विष्णुकांत शास्त्री का जीवन ही समन्वय की भूमिका या फिर चेष्टा के इर्द-गिर्द घूमता जीवन है। इस बात का प्रबल प्रणाम है गिरिराज किशोर जी का संस्मरण जिसमें वो पंडित विष्णुकांत शास्त्री जी के सहिष्णुता की भावना की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि ''मैंने सबसे पहले उनके दो संस्मरण पढ़े थे। एक अमृतराय पर दुसरा नामवर जी पर उन्हें पढ़कर मेरे मन में दो सवाल उठे कि, आर. एस. एस. को समर्पित स्वयंसेवक के लिए क्या बाध्यता थी कि वह दो कम्युनिस्टों पर इतने आत्मीय और निष्पक्ष संस्मरण लिखे? दुसरा सवाल था कि क्या कोई मार्क्सवादी किसी हिंदूवादी की बात हो अलग है किसी अप्रतिबद्ध साहित्यकार पर इतनी क्या, उससे भी आधी आत्मीयता से लिखना पसंद करेगा? मुक्तिबोध जैसे लोग अपवाद हैं।''[6] कहना न होगा कि हिंदुत्व के धार्मिक भाव और उसके राजनीतिक पक्ष के प्रति घनघोर समर्थन की भावना रखने वाला लेखक यदि अमृतराय और नामवर सिंह पर निष्पक्ष होकर लिखता है तो वह उसकी सहिष्णुता तो है परंतु उसके साथ वह समन्वय की भावना का प्रतिपादक भी है।

निष्कर्ष

पंडित विष्णुकांत शास्त्री का समूचा जीवन समन्वय का जीवन है, जहाँ कोई किसी का विरोधी नहीं अपितु सब सबके पूरक हैं। जैसे स्त्री और पुरुष समाज में एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार विष्णुकांत शास्त्री के साहित्य में सभी तत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं। पंडित विष्णुकांत शास्त्री के साहित्य में ज्ञान, कर्म, भक्ति और भावना एक दूसरे का खंडन-मंडन नहीं करते, बल्कि एक दूसरे को आधार बनाकर अपने चिंतन को और भी अधिक पुष्ट करते हैं। वह भारतीय परंपरा में मौजूद सभी तत्त्वों को पुनर्परिभाषित करते हैं। वह परंपरा के सभी स्वस्थ पक्षों को स्वीकार करने के हिमायती थे और रूढ़ हो चुकी व्यवस्था को छोड़ने के पक्षपाती भी। पंडित विष्णुकांत शास्त्री सदैव पुराने टेक्स्ट को नई रोशनी में पढ़ने के पक्षपाती थे। उन्होंने बहुत नहीं लिखा और न ही वह अनर्गल कुछ भी लिखते रहने के समर्थक थे। वह स्वीकार करते हैं कि ''जब तक विषय पर पूरी और गहरी पकड़ न हो जाए, तब तक लेखनी नहीं उठानी चाहिए। यह दिखाता है कि उनका रचना संसार चाहे लघु हो, परंतु शिष्ट और गंभीर है। यह बात कुछ-कुछ उपनिषदों के ब्रह्म को समझने के लिए बताया गया मार्ग जैसा था रू ष्नेति-नेति।''[7] यदि देखा जाए तो ब्रह्म सर्वस्व है अन्यथा कहीं भी कुछ भी नहीं ठीक उसी प्रकार से विष्णुकांत शास्त्री जी का साहित्य भी अपनी सीमा में पर्याप्त है अन्यथा गणना की दृष्टि से कुछ भी नहीं। एक प्रकार से वे भी अपने रचना साहित्य में ब्रह्म का ही निरूपण कर रहे थे। अपने युग के यक्ष प्रश्नों पर अपने साहित्य में चिंतन करना ब्रह्म का निरूपण करने के ही समान है। जिस प्रकार कबीर ने अपने समय के चौराहे पर खड़े होकर सभी मार्गों को देख लिया था - धर्म-अधर्म, कर्म-भक्ति, सिद्ध-नाथ, ज्ञान-अज्ञान, विज्ञान-आडंबर, सगुण-निर्गुणय ठीक उसी प्रकार पंडित विष्णुकांत शास्त्री ने भी विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़े होकर अपने समय के सभी अवयवों को एक सजग दृष्टा की भांति देख लिया था और उन्होंने अपने सामर्थ्य भर समन्वय किया। पंडित जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस स्वप्न को पूर्ण करने में बिता दिया कि कैसे समाज के सभी मार्ग समरसता की ओर जाएँ। इतने विविधता भरे जीवन को जीने वाले, साहित्य की दुनिया में तुलसी से लेकर भारतेंदु पर चिंतन करने वाले, उपनिषद के ज्ञान से लेकर गीता के कर्म के सिद्धांत को परिभाषित करने वाले, गद्य से लेकर पद्य तक की सभी विधाओं में हाथ आजमाने वाले महान रचनाकार और अपने समय के श्रेष्ठ चिंतक पंडित विष्णुकांत शास्त्री को यदि 'विरोधी मार्गों के मिलन बिंदु पर खड़ा चिंतक' कहा जाए तो इसमें दो मत नहीं होने चाहिए।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
piyushpandey7388@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. चिंतन मुद्रा (तुलसी के राम निबंध से) पंडित विष्णुकांत शास्त्री, प्रकाशन, नेशनल पब्लिकेशन; पृष्ठ संख्या 29
2. चिंतन मुद्रा (राम का नाम ही नहीं काम भी निबंध से), पंडित विष्णुकांत शास्त्री; पृष्ठ संख्या 42
3. विष्णुकांत शास्त्री अमृत महोत्सव अभिनंदन ग्रन्थ, (साहित्य और राजनीति का संगम- गिरिराज किशोर) खंड 4; प्रकाशन, श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय; पृष्ठ संख्या 138
4. वही, पृष्ठ संख्या 135
5. वही, पृष्ठ संख्या 135
6. वही, पृष्ठ संख्या 135
7. बृहदारण्यक उपनिषद 4.2.4

भक्त-कवियों की सांस्कृतिक चेतना

गौरव वर्मा

भक्ति आंदोलन का सांस्कृतिक रूप- इस युग का सांस्कृतिक रूप एक उल्लेखनीय महत्व रखता है। हिन्दू मुस्लिम-सम्बंध, मुस्लिम समाजों पर हिन्दू संस्कृति का प्रभाव, हिन्दू समाज पर इस्लाम संस्कृति का प्रभाव। ये दो संस्कृतियाँ दीर्घ काल तक संघर्षरत रहकर भी एक-दूसरे से अछूती न रह सकी जिसका परिणाम आगे चलकर सांस्कृतिक समन्वय के रूप में दृष्टिगोचर होता है। संस्कृति समन्वय के साथ ही दूसरी सर्वप्रधान घटना हिन्दू-संस्कृति के नवीन जागरण की है। इस समन्वय के परिणाम स्वरूप दोनों ही समाजों ने एक दूसरे की रीति-नीतियों सामाजिक प्रथाओं तथा उपासना-पद्धति की भी अनेक बातें सीखी। इस सम्पर्क में भारतीय ज्योतिष, गणित तथा दर्शन का विदेशों में प्रचार हुआ तथा ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातों का प्रचार तथा प्रसार विदेशों से भारत में हुआ। इस संपर्क द्वारा एक नई जन भाषा का क्रमशः विकास हुआ जो आगे चलकर उर्दू कहलाई जिसकी लिपि फारसी है यह वस्तुतः खड़ी बोली हिंदी की एक शैली मात्र है। इस सांस्कृतिक समन्वय से वास्तुकला, संगीतकला, चित्रकला तथा साहित्य की अभिवृद्धि हुई है। समकालीन सांस्कृतिक जागरण जो कि देश के जन-जीवन के बीच भक्ति आंदोलन के रूप में उत्तर भारत में प्रसार पाता जा रहा था तथा दूसरे मुस्लिम शासकों तथा संगीतज्ञों द्वारा कलात्मक तथा सांस्कृतिक समन्वय का सतत् प्रभाव इस युग के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की जागृति के प्रतिनिधित्व करने वाले भक्ति-आंदोलन की है और उसने अध्यात्म-साधना तक ही नहीं प्रस्तुत समकालीन जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करने के साथ ही भारतीय जनता को अमर आश्वासन भी प्रदान किया है।

निर्गुण और सगुण भक्त-कवियों की सांस्कृतिक चेतना

दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में- दर्शन का लक्ष्य बड़ा विराट है वह मानव को व्यापक धरातल प्रदान करता है उसे वैयक्तिक शुद्रता से ऊपर उठाता है। इस संदर्भ में डॉ. देवराज का यह कथन रेखांकनीय है कि- 'दर्शन हमें जीवन की शुद्र स्थितियों से ऊपर उठाकर शिव-ब्राह्मण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है।'[1]

अद्वैतवादी विचारधारा- शंकर के अद्वैतवाद का तात्पर्य है। आत्मा-परमात्मा की एकता। इस मतानुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है और यदि इस भेद की प्रतिति होती है तो अविद्या या अज्ञान के कारण शंकराचार्य ने ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या कहकर ब्रह्म की सत्यता तथा जगत के मिथ्यातत्व की व्यंजना की है। अद्वैत दर्शन में ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, निरपेक्ष निर्विकार, सर्वव्यापी रेखांकित किया है जिसका प्रभाव निर्गुण काव्यधारा के संतमार्गी कवियों पर है।

विशिष्टाद्वैतवादी चिंतन- उन्होंने वेदान्त और वैष्णव धर्म के सेतु निर्मित करके भक्ति को सुदृढ़ दार्शनिक पीठिका प्रदान की। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् (जड़-प्रकृति) दोनों तत्वों से संयुक्त है वहीं एक मात्र सत्ता है चित् और अचित् दोनों तत्वों को ब्रह्म के अधीन बताते हुए उन्हें ईश्वर की देह माना गया है। रामभक्ति शाखा इसी दर्शन से प्रभावित है।

रामानंद की विचारधारा- श्री सम्प्रदाय के स्वामी राघवानंद को रामानंद का गुरु माना जाता है। रामानंद ने अपने (रामावत सम्प्रदाय) में ब्राह्मण-शूद्र सभी को समान भाव से महिमा-गरिमा प्रदान की। रामानंद के सभी शिष्यों ने इसका अनुकरण किया।

जैन धर्म की धारणाएँ- जैन धर्म एवं साहित्य में वैदिक

कर्मकाण्ड वर्ण भेद, बलि, ब्राह्मचार तथा ईश्वर की सत्ता का प्रबल विरोध मिलता है इसका प्रभाव संत कवियों पर पड़ा है।

सिद्धों के सिद्धांत- बौद्ध सिद्धों के सिद्धांत का भी प्रभाव हिंदी की निर्गुण काव्यधारा पर पड़ा है बौद्ध धर्म दो शाखाओं में विभक्त हो गया- महायान और हीनयान। महायान से तन्त्रयान और तन्त्रयान वज्रयान में तथा वज्रयान सहज यान में परिणत हुआ। सहजयानी सिद्धों ने मूर्ति-उपासना, तीर्थव्रत तथा अन्याय धार्मिक बाह्यचारों का प्रबल विरोध और धर्म को सहज सरल तथा सर्वजन सुलभ बनाने का किया इनका भी प्रभाव संत कवियों पर पड़ा।

नाथ पंथ- 'नाथ' पंथ, शैव धर्म के अन्तर्गत आता है। हठयोग मूलक साधना-पद्धति, नैतिक उपदेश धर्म के नाम पर हो रहे अंधविश्वासों और पाखण्डों का डटकर विरोध किया कबीर आदि पर नाथ पंथ का भी प्रभाव है।

इस्लाम धर्म और सूफी सिद्धांत- इस्लाम धर्म एकेश्वरवाद का पोषक है कलमा पढ़ना, नमाज पढ़ना, रोजा रखना, हज, जकात आदि इस्लाम धर्म की प्रधान प्रवृत्तियाँ है। संतों की निर्गुण-उपासना और प्रेम-साधना पर इस्लामी एकेश्वरवाद और सूफियों पर प्रेम पद्धति का प्रभाव है। सूफी-संत-साधक-कवि इश्क मिजाजी से लेकर इश्क हकीकी की ओर जाते हैं। और अंत में रूपक तल के माध्यम से सम्पूर्ण कथा को आध्यात्मिक संकेत से अन्वित करते हैं।

सामाजिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य- निर्गुण में संत काव्यधारा-साहित्य और समाज का संबंध बहुत गहरा है। संत काव्य में व्यंजित सामाजिक संस्कार और सामाजिक रीतियाँ। प्रत्येक समाज में विशिष्ट-विशिष्ट अवसरों-अवस्थाओं के लिए विशेष-विशेष संस्कार होते है ये संस्कार हमारी संस्कृति के बोधक-परिचायक होते है।

विवाह- विवाह के बारे में कबीरदास ने कहा है कि विवाह के समय समग्र परिवेश (मंगलगान) ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रोच्चारण भांवर आदि के बारे में लिखते हैं कि-

'दुलहनी गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार'[2]

सूफी काव्य में समाज- प्रेमाख्यानक काव्यों में उल्लिखित सामाजिक प्रसंगों के आधार पर कहा जा सकता है कि रचनाकारों ने अपनी कृतियों को सामाजिक धरातल के दर्शन कराये हैं उक्त कृतियों के माध्यम से कवियों ने मध्यकालीन भारतीय हिन्दू और मुस्लिम समाज के सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को अत्यंत सहज रूप से अपने काव्यों में पिरोया है।

दीपावली- पद्मावत में तरुण स्त्रियों के द्वारा गीत गाने तथा अंगों को मोड़ मोड़कर झूमक कर गाते हुए दीपावली मनाने का उल्लेख हुआ है।

'सखि झूमक गावहिं अंग मोरी, हों झूरौ बिछरी जेहि जोरी
सखि मानहिं तेवहार सव गाइ देवारी खेलि'[3]

रामकाव्य धारा का समाज- 'सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस ने हमारे आलोच्य युग से लेकर आज तक भारत के जनमानस को अनुप्राणित किया है।'[4] रामकाव्य में संस्कृति और समाज का स्वरूप दो प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है। एक तो आदर्श पक्ष है। दूसरे उसकी समकालीन वस्तु स्थिति है। तुलसी ने समकालीन समाज की आर्थिक विषमता प्रकाश डाला है। 'कवितावली' के वर्णन अपेक्षाकृत अधिक यथार्थपरक, वास्तविक और मार्मिक है। कलिकाल में दरिद्रता, दुर्भिक्ष, दुख और कुशासन दिनों-दिन दूने होते जा रहे हैं, सुख और अच्छे कार्य घटते जा रहे हैं-

'दिन-दिन दूनो देखि दारिदु, दुकालु, दुख,
दुरितु, दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।'[5]

कृष्ण काव्य का समाज- सूर ने जिस समाज की सृजना अपने काव्य में की वह स्पष्ट रूप से ग्रामीण तथा नगर जैसी दो संस्कृतियों में बँटा हुआ समाज है। नगर का प्रतिनिधित्व मथुरा नगरी करती है तथा ग्रामीण संस्कृति की व्याख्या नंदगाँव, बरसाना, गोकुल आदि के माध्यम से की गई है।

नागरिक समाज-सूर ने मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन करते समय जिन ऊँचे-ऊँचे महलों, ऊँची-ऊँची हीरा रत्न से मणिमय युक्त भवनों का चित्रण किया है वे निश्चित रूप से उस सामंतवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित नगरों की समृद्धि की ओर संकेत करते हैं।

'चितवन मन्दिर भए आवासा।
महल-महल लागे मनि पासा।'[6]

ग्रामीण समाज- कृष्ण का जन्म नन्द परिवार की ही खुशी का कारण नहीं है प्रत्युत पूरे गाँव के लिए हर्ष का विषय है तभी तो नन्द के घर मेला लगा हुआ है।

'आजु नन्द के द्वारै भीर
इक आवतं इक जात विदा, है, इक ठाढे मन्दिर कै तीर'[7]

धर्म और अर्थ के परिप्रेक्ष्य में- संत काव्यधारा- संतों के समय धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप हो गया था लोगों ने

बाह्यचारों एवं बाह्यडम्बरों को ही धर्म का मूल रूप मान लिया था इसलिए संतों ने ब्राह्यचारों एवं ब्राह्यडम्बरों के खण्डन से लोक मानस को धर्म के मूल रूप को समझने के लिए उद्‌बोधित किया, जातीय एकता की स्थापना की, कबीर ने लिखा है। निर्गुण संतों ने सत्य को सबसे बड़ा धर्म और पुण्य माना है ये संत की सबसे बड़ी तपस्या और असत्य को सबसे बड़ा पाप मानते हैं जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में ईश्वर का निवास होता है यानी वह ईश्वर तुल्य होता है।

'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप।'[8]

आर्थिक जीवन- कबीर ने लिखा है कि उस समय बड़ा दुख होता है जब समाज का एक वर्ग तो भक्ति-भजन में निग्मन है और दूसरा वर्ग खूब परिश्रम करके (हरि स्मरण) छोड़कर भी अपने पूरे परिवार का पालन-पोषण नहीं कर पाता उसके परिवार वाले जब भूखे मरते हैं तो उन्हें दुख होता है।

'हरि का सिमरन छाडि कै पाल्यौ बहुत कुटंब
धंधा करता रहि गया, भाई रहा न बंधु।'[9]

सूफी काव्यधारा- मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्यों में हिन्दू धर्म तथा उसमें प्रचलित विभिन्न मत का उल्लेख मिलता है विशेष रूप से जायसी इत्यादि कवियों ने तद्‌युगीन समय में प्रचलित पंथों को स्पष्ट रूप से निर्देश प्रस्तुत किया है।

धार्मिक ग्रंथ- पद्‌मावत में हीरामन सुग्गा गुरु के प्रतीकार्थ प्रयुक्त हुआ है। एक अवसर पर वह रत्नसेन से कहता है कि मैं चारों वेदों का पण्डित हूँ।

'चतुर वेद हौं पंडित हीरामनि नाँउ'[10]

आर्थिक जीवन- मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्यों में कथानक का केन्द्र बिन्दु समाज का उच्च राजकीय वर्ग रहा है। तदयुगीन समाज के आर्थिक जीवन की झाँकी दिखाई पड़ती है इन रचनाओं में व्यापार, उद्योग-धंधों, विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख हुआ है।

रामभक्ति शाखा में धार्मिक जीवन- वेद-पुराण तथा श्रुति आदि शास्त्रों के प्रति भारत के आध्यात्मिक जीवन के अन्तर्गत श्रद्धाभावना का संस्कार चिरकाल से प्रतिष्ठित है। तुलसीदास ने लिखा है-

'तुलसी सुमिरत राम, सुलभ फलचारि
वेद-पुराण पुकारत, कहत पुरारि
आगम-निगम पुराण कहत करि लीक
'तुलसी रामनाम-कर सुमिरन नीक'[11]

तीर्थराज प्रयाग तथा त्रिवेणी-संगम आदि के सांस्कृतिक का वर्णन किया गया है।

'कासी विधि बसि तन तजै हठि तनु तजे प्रयाग
तुलसी जो फल सो सुलभ, रामनाम अनुराग'[12]

राम काव्य में आर्थिक जीवन- 'मानस' के कलियुग-वर्णन के प्रसंग पर इनके जो निर्देश मिलते हैं उनके आधार पर किसान के पास खेती नहीं है। भिखारी को भीख नहीं मिलती, वणिक का व्यापार बंद है, चाकर को चाकरी नहीं मिलती जीविका-विहीन होकर दुखी लोग इधर-उधर घूमते हुए एक-दूसरे से कह रहे हैं कहाँ जाए, क्या करें।

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी
जीविका विहिन लोग सीद्यमान सोच बस
कहै एकएकन सो कहा जाई का करी'[13]

सूर काव्य की धार्मिक भावना- मध्ययुग में सामान्य जनमानस में राम और श्री कृष्ण दोनों को भू-भार उतारने वाला परमब्रह्म का अवतार मानता था। सूर ने कृष्ण के अतिरिक्त ब्रह्म जो पौराणिक देवता है उनका भी वर्णन किया है 'बाल-वत्सहरण' प्रसंग में ब्रह्म-ब्रज के बछड़ो का हरण करके उन्हें ब्रह्मलोक पहुँचा देते हैं और ब्रह्म के अवतार कृष्ण उनकी पुनः सृष्टि करके ब्रह्म का गर्व हरते हैं।

'बाल- बच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म लोक पहुँचाए
सूरदास प्रभु गर्व विनासन, नवकृत फेरि बनाए।'[14]

कृष्ण काव्य की आर्थिक व्यवस्था- पशुपालन भारत का प्राचीन व्यवसाय रहा है। सूर ने अनेक प्रसंगों में इसकी ओर संकेत किया है गाँवों में बसने वाले गरीबों कृषकों के सुरक्षित जीवन का आधार गोधन ही होता जिसके माध्यम से वे दधि-माखन का व्यवसाय किया करते थे। सूर की गोपियां तो दही बेचने प्रातःकाल ही मथुरा शहर की ओर चल पड़ती हैं।

'ब्रज जुवतीं मिलि करतिं विचार
माखन, दधि धृत साजातिं मटुकी मथुरा जान बिचारै॥'[15]

राजनीति के परिप्रेक्ष्य में- संत काव्यधारा मध्यकाल में शासन व्यवस्था दीवान, मंत्री और सूबेदारों के माध्यम से चलती थी। कबीर ने लिखा है, कि गाँव का किसान पटवारी से आक्रांत रहता था। वह पटवारी बड़ा धूर्त है। वह बेगार लेता है और अनेक प्रकार से तंग करता है।

'हरि के लोगा मोकौ नीति डसै पटवारी
उपर भुजा करि मैं गुरु पहि पुकारा तिन हौ लिया उबारी'[16]

सूफी काव्य- पद्मावत में कवि ने प्रतिनायक के रूप में अलाउद्दीन को प्रस्तुत किया है। शासन व्यवस्था ऐसी है कि अलाउद्दीन संकेत देते हुए कहता है कि सातों द्वीपों से चुन-चुन कर लाई गई स्त्रियाँ उसके महल में हैं। इनकी संख्या सोलह सौ बतलाई गई है।

'सप्त दीप महँ चुनि-चुनि आनी। मोरे सोरह सौ रानी'[17]

रामकाव्य की राजनीतिक जीवन- भारतीय संस्कृति के इस पक्ष को राम काव्य के अन्तर्गत दो प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है- राजनीतिक आदर्श, समकालीन परिस्थितियाँ रामराज्य कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं है वह ब्रह्मनन्द या अमृत सरोबर का रस पीने या परमसमाधि की स्थिति नहीं है वह संसार के दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त हो जाने की स्थिति है।

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा'[18]

रामराज्य में अयोध्यावासी उदार परोपकारी ही नहीं है विप्रों के चरण सेवक भी है-

'सब उदार सब पर उपकारी, विप्र चरन सेवक नर नारि॥'[19]

सूर काव्य में राजनीति-शासन-व्यवस्था में नंद को भी कंस ने दस गाँव दान में दे दिए, जिससे उन्हें वहाँ के स्थानीय निवासी सरदार कहकर बुलाते हैं।

'कंस दई यह लोक बड़ाई, गॉउ दसक सरकार कहाई'[20]

संत काव्य की सांस्कृतिक चेतना- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके सांस्कृतिक महत्व का जो समुचित मूल्यांकन किया है उनकी मुख्य बातें उल्लेखनीय हैं। 'इसमें सन्देह नहीं है कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य किया गया है। मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म-गौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। अशिक्षित और निम्न श्रेणी पर इन संतो-महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। आचारण की शुद्धता पर जोर देकर आडम्बरों का तिरस्कार करके आत्म गौरव का भाव उत्पन्न करके उन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुल्य प्रयत्न किया।'[21] कहा जा सकता है आचार्य शुक्ल का ये कथन उनके युगानुरूप सांस्कृतिक जागरण तथा साधना क्षेत्रीय आन्दोलन का द्योतन करता है। जातिगत उफँच-नीच की भेद-भावना की स्थिति में बल तथा प्रलोभन दोनों के द्वारा हिन्दू समाज के दुर्बल तत्व इस्लाम की ओर उन्मुख हो रहे थे और यह तत्कालीन भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक समस्या थी। अत: उनके निदान की दृष्टि से देखा जाए तो सन्त काव्य तथा उसके प्रेरणाओं द्वारा परवर्तित यह सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्क्रांति का नि:सदिग्ध रूप से ऐतिहासिक महत्व है।

सूफी काव्य की सांस्कृतिक चेतना- सांस्कृतिक समन्वय के कार्य में सूफी संतों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। सूफी संतों ने जहाँ इस्लाम के शान्तिपूर्ण प्रचार में योगदान किया। इसके साथ ही उनके प्रभाव से भारतीय हिन्दू जाति में भी पीरो के मजारों की पूजा होने लगी। अनेक सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य को अलंकृत किया प्रेम-साधना तथा सूफी प्रेमाख्यान काव्यधारा इन्हीं की देन है कहा जा सकता है। इस हिन्दू-मुस्लिम के परिणाम स्वरूप दोनों ही समाजों ने एक-दूसरे की रीति-नीतियों सामाजिक प्रथाओं तथा उपासना पद्धति की भी अनेक बातें सीखीं। वास्तु चित्र, नृत्य तथा संगीत आदि कलाओं से संबंधित विवेचन से यह युग भारतीय कलाओं के क्षेत्र में नवोन्मेष का रहा है। जिससे सभी कलाओं के विकास को समुचित अवसर मिला है। प्रेमाख्यानक काव्यों के आधार पर समकालीन संस्कृति के स्वरूप का जो विवेचन किया गया है उससे प्रकट है कि रचनाओं के अन्तर्गत मिलने वाले निर्देश अनेक ऐसे तथ्य भी प्रकाशित करते हैं जो कि इतिहास-ग्रंथों में स्थान पाने से अछूता ही रहे।

राम भक्ति काव्य की सांस्कृतिक चेतना- भारत में सांस्कृतियों का जो विराट समन्वय हुआ है, रामकथा उसका अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीक है। सबसे पहले तो बात यह है कि इस कथा से भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है एक ही कथा-सूत्र में अयोध्या, किष्किंधा और लंका तीनों के बंध जाने के कारण सारा देश एक ही दिखता है, दूसरे इस कथा पर भारत का सभी प्रमुख भाषाओं में रामायणों की रचना हुई। जिनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में लोकप्रिय रही। तुलसी आदि कवियों ने धार्मिक एवं सामाजिक कट्टरताओं पर कबीर आदि की भाँति तीक्ष्ण प्रहार न करते हुए उसके स्थान पर समन्वय की भावना खड़ी की तथा इस भावना को आधार बनाकर उन्होंने हिन्दू धर्म के अन्तर्गत प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के द्वेष-भाव को समाप्त करने का प्रत्यन्न किया है। इन्होंने राम के चरित्र-चित्रण में एक सर्वांगीण सम्पन्न जीवन का चित्र अंकित किया है। साथ ही यह भी बताया है कि जीवन को हमें किस रूप में देखना चाहिए जीवन की पूर्णता का

अनुभव और उसके प्रति कर्तव्य-भावना जागृत करने वाला आधुनिक युग के लिए तुलसी का सन्देश महत्वपूर्ण है। उनकी वाणी आज भी हमारे लिए प्रेरक है। संस्कृति की दृष्टि से अगर भाषा पर विचार किया जाए जन भाषा द्वारा ही रामचरित का गान प्रस्तुत किया और वह रचना सर्वजनोपयोगी बनी।

कृष्ण भक्ति काव्य की सांस्कृतिक चेतना- कृष्ण काव्यधारा में भक्त कवियों ने अपनी आध्यात्मिक विचारधारा में कृष्ण के लोक रंजनकारी स्वरूप को प्रतिष्ठित करते हुए जन साधारण को आध्यात्मिक अधिष्ठान प्रदान करके उसके कल्याण का मार्ग प्रस्तुत किया। अराध्य के बाल्य तथा मधुर रूपों की प्रधानता प्रतिष्ठा होने के कारण उसमें आकर्षण के साथ ही हृदय स्पर्शी सरसता विद्यमान है। जीवन की मान्यताएँ सत्संग तथा ब्रज भूमि के प्रति श्रद्धाभावना प्रदान की है। इस युग की राजनीतिक परिस्थितियाँ, राजकर्मचरियों के अनुकूल तथा जन-साधारण की सुख-समृद्धि के दृष्टिकोण से प्रतिकूल कही जा सकती है। समकालीन जन जीवन के पर्वोत्सवों, क्रीडा-विनोद, सामाजिक रहन-सहन एवं संस्कारों आदि सामान्य जनता के पारिवारिक जीवन के मनोरम दृश्यों, जन साधारण में प्रतिष्ठित कला के विविध लौकिक एवं स्थानीय रूपों के जैसे मार्मिक और विशद चित्र उनमें मिलते हैं। वे भावुक भक्तों को रसमग्न करने के साथ-साथ देश के सांस्कृतिक इतिहास के अनेक अपरिचित किन्तु महत्वपूर्ण तथ्यों को प्रकाश में लाते हैं। कह सकते हैं कि इस कारण इस धारा की रचनाएँ केवल काव्य कला की उत्कृष्टता मार्मिकता अथवा भावुक भक्तों की रसमग्न करने वाली सरसता के ही दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत उनका सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, पीजीडीएवी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल- gaurav.verma39@pgdav.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन- डॉ. देवराज, पृष्ठ 38
2. कबीर ग्रन्थावली- डॉ. श्यामसुंदर दास, पद-1, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
3. पद्मावत- व्याख्याकार वासुदेव शरण अग्रवाल, नागमती वियोग-खण्ड, पृष्ठ 421-22, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010
4. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति- मदनगोपाल गुप्त, पृष्ठ 377, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
5. लोकवादी तुलसीदास- विश्वनाथ त्रिपाठी, पृष्ठ 87, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. सूरसागर- सं. धीरेन्द्र वर्मा, दशम स्कंध-पद 3109, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन इलाहाबाद, पंचम संस्करण, 1986
7. वही, पद 15
8. कबीर ग्रंथावली- संपा. श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ 79, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
9. कबीर ग्रंथावली- श्यामसुन्दर दास, साखी पद-169, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
10. पद्मावत- व्याख्याकार वासुदेव शरण अग्रवाल, स्तुति-खंड, पृष्ठ 12, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010
11. बरैव रामायण- तुलसीदास, बरवै संख्या-3
12. दोहावली, तुलसीदास, दोहा-14
13. लोकवादी तुलसीदास- विश्वनाथ त्रिपाठी, पृष्ठ 87, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
14. सूरसागर- सं. धीरेन्द्र वर्मा, दशम स्कंध, पद 436, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन इलाहाबाद, पंचम संस्करण, 1986
15. वही, पद-4148
16. कबीर ग्रथावली श्यामसुन्दर दास, पद-30, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
17. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 580, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
18. लोकवादी तुलसीदास- विश्वनाथ त्रिपाठी, पृष्ठ 103, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
19. वही, पृष्ठ 105
20. सूरसागर- सं. धीरेन्द्र वर्मा, दशम स्कंध, पद-885, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, प्रकाशन इलाहाबाद, पंचम संस्करण, 1986
21. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 60, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, तेइसवां संस्करण, 1990

शोध-पत्र

दलित साहित्य में प्रामाणिक अनुभव और उसकी सार्थकता का पुनर्मूल्यांकन

प्रिंस गुप्ता*

सारांश

विगत कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य के क्षेत्र में दलित साहित्य एक अत्यंत चर्चित एवं विवादास्पद विमर्श के रूप में उभरकर सामने आया है। इसके उद्‌भव के साथ ही साहित्य-जगत में दलित साहित्य की परिभाषा, उसके लेखक की पहचान, उसकी वैधता तथा प्रामाणिकता जैसे अनेक प्रश्न सक्रिय हो गए हैं। प्रारंभिक दौर में यह बहस भाषा, शिल्प और आवश्यकता तक सीमित थी, किंतु समय के साथ यह विवाद इसके औचित्य और साहित्यिक मान्यता तक पहुँच गया।

दलित साहित्य की विषय-वस्तु व्यापक है, क्योंकि यह केवल दलित समाज तक सीमित न रहकर सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा और समानता जैसे मूलभूत प्रश्नों को केंद्र में रखता है। यह साहित्य डॉ. भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा से प्रेरित होकर जाति-आधारित शोषण, उत्पीड़न और अपमान की वास्तविकताओं को उजागर करता है। दलित साहित्यकार अपने जीवनानुभवों के आधार पर नए साहित्यिक प्रतिमान गढ़ते हैं, जिससे उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में तीव्रता तथा विद्रोह की चेतना दिखाई देती है।

इस शोध-पत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि दलित साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति उनकी अनुभवजन्य प्रामाणिकता है, जिसका सशक्त रूप दलित आत्मकथाओं में दिखाई देता है। अंततः दलित साहित्य न केवल दलित समाज की पीड़ा की अभिव्यक्ति है, बल्कि समूची मानवता को जागरूक करने और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरित करने वाला साहित्यिक आंदोलन है।

बीज शब्द

दलित आत्मकथा, जाति-व्यवस्था, शोषण और उत्पीड़न, सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा, समानता, प्रतिरोध और विद्रोह, सामाजिक परिवर्तन

शोध-पत्र

विगत कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य के क्षेत्र में दलित साहित्य एक अत्यंत चर्चित एवं विवादास्पद विमर्श के रूप में उभरकर सामने आया है। इसके उद्‌भव के साथ ही साहित्यिक जगत में अनेक प्रश्न सक्रिय हुए हैं दलित साहित्य की परिभाषा क्या है, इसे लिखने का अधिकार किसे है, तथा इसका वास्तविक प्रतिनिधि किसे माना जाए? साथ ही इसकी प्रामाणिकता एवं सार्थकता को लेकर भी व्यापक बहसें चल रही हैं। प्रारंभिक चरण में यह विवाद इसकी आवश्यकता, भाषा और शिल्प के इर्द-गिर्द केंद्रित था, किंतु समय के साथ यह बहस अब इसके औचित्य और वैधता तक पहुँच गई है।

दलित साहित्य की विषय-वस्तु अत्यंत व्यापक है, क्योंकि यह केवल दलित समाज तक सीमित न रहकर मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय और समानता जैसे मूल प्रश्नों को केंद्र में रखता है। भारतीय समाज में यह समकालीन युग की एक ज्वलंत सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या के रूप में सामने आया है। दलित साहित्यकारों और मार्क्सवादी विचारधारा में शोषण-विरोधी चेतना के स्तर पर कुछ साम्य भी दिखाई देता है। मार्क्स के बाद यदि किसी साहित्यिक धारा ने सर्वाधिक विवाद उत्पन्न किया है, तो वह दलित साहित्य ही है, जिसे अभिजात्य वर्ग का साहित्यिक समाज पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पा रहा है।

मुख्यधारा साहित्य के प्रतिमान दलित साहित्य के प्रतिमानों से भिन्न हैं, इसलिए दलित रचनाकार अपने जीवन अनुभवों के आधार पर नए साहित्यिक प्रतिमान निर्मित कर रहे हैं। उनकी भाषा, शिल्प, कथ्य और संवेदना में दलित जीवन का यथार्थ सीधे रूप में प्रकट होता है, जिसके कारण उन पर अश्लीलता जैसे आरोप भी लगाए जाते हैं। किंतु यह तथाकथित अश्लीलता वास्तव में दलित जीवन की कटु सच्चाई है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में ''सवर्ण आलोचकों को दलित लेखन में कलात्मक अभिव्यक्ति की कमी दिखाई देती है। दलितों के कष्टमय करूण जीवन की अभिव्यक्ति अभिजात भाषा में लपेटकर नहीं रखी जा सकती है।''[1]

निश्चित ही भाषा, साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण आधार है। दलित साहित्य की भाषा को लेकर जो प्रश्न उठाए गए हैं; वे दार्शनिक दृष्टि से चाहे उचित प्रतीत हों, लेकिन उन्हें किसी भी स्थिति में साधारण या महत्वहीन मानकर नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। दलित साहित्य की भाषा के बारे में चर्चा करते हुए दलित लेखक कंवल भारती कहते हैं कि ''मैं यहाँ स्पष्ट कहना चाहूँगा कि बलात्कार की शिकार कोई भी स्त्री, श्रृंगार की मोहक भाषा नहीं बोलेगी और अत्याचार से पीड़ित व्यक्ति की भाषा भी साहित्यिक नहीं होगी; वह बगावत की भाषा ही होगी। शिक्षा और सम्मानित जिंदगी से दलित सदियों से वंचित रहे हैं। उन्हें संस्कृत भाषा में बोलने तक का निषेध था। प्रांजल और साहित्यिक भाषा में कल्पना से सुन्दर चित्र तो खींचे जा सकते हैं; पर यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती।''[2]

जो साहित्य अपने युग और समाज के लिए हितकारी एवं प्रासंगिक होता है, वही वास्तव में सार्थक साहित्य कहलाता है। दलित साहित्य भी पूरी तरह इसी दिशा में निरंतर आगे बढ़ रहा है। यह साहित्य डॉ. भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा को अपना मूल आधार मानता है। इसलिए जब हम दलित साहित्य की परिभाषा या उसकी सीमाओं पर विचार करते हैं, तो उस मूल विचारधारा का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि वही इसकी प्रेरणा और उत्पत्ति का स्रोत है। डॉ. अम्बेडकर की चिंतन-धारा के केंद्र में मनुष्य था, इसी कारण उनकी दृष्टि की परिधि में संपूर्ण मानवता समाहित हो जाती है। वर्तमान समय में दलित साहित्य का क्षेत्र लगातार विस्तार प्राप्त कर रहा है। अब यह मुख्यधारा साहित्य के रूप में अपनी पहचान स्थापित कर रहा है। दार्शनिक एवं चिंतक डॉ. तुलसीराम के अनुसार ''आज की तारीख में डॉ. अम्बेडकर की व्यापकता ही दलित की मुख्यधारा है।''[3]

सामान्यत: किसी भी साहित्य की सार्थकता तभी पूर्ण रूप से स्वीकार की जाती है जब उसके विषय, भाषा, शैली, स्वरूप, संरचना तथा दायरे को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया जाए। किंतु दलित साहित्य के उद्‌भव के साथ ही कुछ विवाद भी जन्म लेने लगे। इन विवादों पर ध्यान देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि दलित साहित्य की सार्थकता को समझने, दलित दृष्टि का विकास करने तथा इसकी सीमाओं और स्वरूप को पहचानने में यह सहायक सिद्ध होती है। दलित साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें समाज के सभी वर्गों के लिए स्थान और संवेदना मौजूद है, जबकि अभिजात्य साहित्य लंबे समय तक सामाजिक यथार्थ और वंचित वर्गों की पीड़ा से प्राय: दूर ही रहा। इस दृष्टि से दलित साहित्य न केवल सामाजिक चेतना का दस्तावेज है, बल्कि साहित्य की सार्थकता और व्यापकता को भी नई दिशा प्रदान करता है।

''दलित साहित्य का लेखक कौन हो?'' इस प्रश्न पर रमणिका गुप्ता विस्तार से विचार करते हुए कहती हैं कि जब कोई दलित साहित्यकार जाति-व्यवस्था की सबसे निचली सीढ़ी पर रखे गए लोगों को मनुष्यता का अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष करता है और उनके पक्ष में लिखता है, तब उसका उद्देश्य केवल दलित समाज तक सीमित नहीं रहता। वह वास्तव में समाज की पूरी सोपानात्मक संरचना को समाप्त करने की दिशा में सक्रिय होता है। ऐसी स्थिति में उसका केन्द्र दलित नहीं, बल्कि समूची मानवता बन जाती है। यह आंदोलन केवल दलितों की लड़ाई नहीं रह जाता, क्योंकि इसमें मनुष्य होने के अधिकार की मांग शामिल होती है, जो सार्वभौमिक है। साथ ही दलितों को वंचित करने वाला सवर्ण समाज भी इस विमर्श में एक पक्ष के रूप में उपस्थित रहता है। दलित साहित्य का केन्द्र वह व्यक्ति है जो सदियों से हाशिए पर जीने को मजबूर रहा, गाँवों के बाहर बसाया गया, अपमानित किया गया और जिसे पशुवत जीवन जीने पर विवश कर दिया गया। उसकी परछाई, हवा और अस्तित्व तक को अशुभ और अछूत मान लिया गया। दलित साहित्य ऐसे व्यक्ति को उसकी गुलामी, पीड़ा और अपमान का एहसास कराता है, साथ ही ऊँचे वर्गों की मानसिकता को बदलने का प्रयास भी करता है। यह साहित्य समाज को चेतावनी देता है, जागरूक करता है, समता और प्रेम का मार्ग सुझाता है तथा संगठित शक्ति के माध्यम से

परिवर्तन के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार मानसिकता-परिवर्तन का प्रयास दलित साहित्य के क्षेत्र को और अधिक व्यापक बना देता है। रमणिका गुप्ता के अनुसार यह कार्य एक दलित लेखक अधिक प्रामाणिकता से कर सकता है, क्योंकि उसने भेदभाव और शोषण की सच्चाई को स्वयं झेला है। इसलिए दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया साहित्य अंतत: समूची मानवता को संबोधित करता है। मानवता और समानता की बात करते हुए डॉ. एन. सिंह लिखते हैं-

''दुकान हमारी भी है और तुम्हारी भी
ये बात और है कि हमारी दुकान पर बिकता है जूता
और तुम्हारी दुकान पर रामनामी
हमारे लिए जूते का महत्व वही है
जो तुम्हारे लिए रामनामी का
आओ समानता का तार पकड़े एकता का सूत्र गढ़े
साथ बढ़े।''[4]

दलित साहित्य की प्रामाणिकता इस बात में है कि दलित लेखक अपने संघर्षपूर्ण जीवन को स्वयं जीकर रचनाओं में वास्तविकता भरते हैं। अजय नावरिया के अनुसार, दलितों पर गैर-दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य भले ही दलित साहित्य कहलाए, पर वास्तविक दलित साहित्य वही है जिसे दलित स्वयं लिखें। दलित लेखक जब अपने समाज के जीवन और अनुभवों को शब्द देते हैं, तो उनकी भाषा में जो तीव्रता, ऊर्जा और सच्चाई होती है, वह गैर-दलित लेखन में प्राय: नहीं मिलती। जाति-आधारित पीड़ा के कुछ अनुभव ऐसे हैं जिन्हें वही व्यक्ति गहराई से समझ सकता है जिसने उन्हें स्वयं सहा हो। इसलिए इनका प्रामाणिक चित्रण गैर-दलित लेखक उतनी संवेदना से नहीं कर सकता, जैसे स्त्री जीवन के अनुभवों को स्त्रियाँ अधिक सच्चाई से व्यक्त कर पाती हैं। ज्योतिबा फुले का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है कि ''गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है, जलने का अनुभव, कोई और नहीं।''[5] दलित साहित्य की प्रामाणिकता तो दलित आत्मकथाएँ पूर्ण करती हैं, जो पूरी शिद्दत व तन्यमता के साथ यथार्थ के धरातल पर दलित साहित्यकार उतार कर रख देते हैं। दलित साहित्यकार अपनी आत्मकथा ही नहीं लिखते बल्कि पुन: आँसू की घूंट पीकर जीते हैं। डॉ. तुलसीराम इसे स्वीकार करते हुए कहते हैं कि ''इस बात को स्वीकार करने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि 'मुर्दहिया' जब मैं लिखता था, खास करके रात के समय अकेले कमरे में रहता था तो मैं रोते हुए लिखता था और उसी समय 'प्रभात खबर' बिहार का बहुत बड़ा अखबार है। उसने एक इंटरव्यू लिया, तो मैंने यही बात कह दी थी कि आत्मकथा जो है वो लिखी नहीं जाती बल्कि रोयी जाती है।''[6]

साहित्य, समाज को उसकी वास्तविकता से परिचित कराता है और उसे आत्मचिंतन का अवसर देता है। वह समाज को अपने अतीत से सीख लेने की प्रेरणा देता है तथा भविष्य को अधिक सुंदर और बेहतर बनाने का मार्ग भी दिखाता है। किंतु यह सब तभी संभव है जब साहित्य उपयोगी, सार्थक और समाज द्वारा स्वीकार्य हो। दलित साहित्य की सार्थकता का आधार उसकी प्रामाणिकता ही है, क्योंकि उसी में उसकी वास्तविक शक्ति निहित है। प्रामाणिकता के संदर्भ में प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं-''दलित साहित्य वर्ण जाति के भेदभाव की विषमतामूलक समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह के रूप में आता है। यह साहित्य ब्राह्मण भी लिख सकता है। बुद्ध से प्रेरित अश्वघोष और मार्क्स से प्रेरित राहुल इस कोटि में आ सकते हैं। हिन्दुओं के समाज व संस्थाओं से बहिष्कार की पीड़ा इन्होंने नहीं भोगी थी, इसलिए इनका दलित साहित्य वैसा प्रामाणिक नहीं होता जैसा कि एक भुक्त भोगी का होगा। लेकिन ब्राह्मणवाद का समर्थन न होने के कारण इस सामाजिक लोकतंत्र के अनुकूल ठहरते हैं। अत: ऐसे गैर-दलित विचारक दलित साहित्यकारों के मित्र हैं।''[7]

नि:संदेह साहित्य समाज को सही दिशा और जागरूकता प्रदान करता है। वास्तविक साहित्य वही होता है जो सभी के कल्याण की भावना से प्रेरित हो। इसी प्रकार दलित साहित्य भी समाज के व्यापक हित और भलाई के लिए प्रतिबद्ध साहित्य है। विजेन्द्र प्रताप सिंह वंचित संवेदना का साहित्य, संपादित किताब में दलित साहित्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि ''साहित्य वही है जो समाज के यथार्थ का चित्रण करे, समाज को समाज के सत्य से परिचित कराते हुए आगामी काल के लिए मार्गदर्शन प्रदान करें। इसीलिए साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब भी कहा जाता है। जिन संदर्भों की सामान्यत: दलित साहित्य के अन्तर्गत साहित्य रचना की जा रही है। वे तीन ही वर्ग हैं। आदिवासी समाज, दलित समाज तथा नारी समाज इन तीनों के ओत-प्रोत रचित साहित्य को दलित साहित्य संवेदना का साहित्य आदि नामों से अभिहित किया जाता है।''[8]

दलितों का दु:ख और संघर्ष आज का नहीं है, बल्कि वे इस पीड़ा को सदियों से सहते आए हैं। उनकी कई पीढ़ियाँ भेदभाव और अत्याचार की आग में झुलसती रही हैं। लंबे समय तक उन्हें उनके मूल अधिकारों से वंचित रखा गया, लेकिन आज जब उन्हें आगे बढ़ने का अवसर मिला है, तो वे पीछे कैसे रह सकते हैं? यह अवसर उनके सदियों पुराने निरंतर संघर्ष और बलिदान का ही परिणाम है। इस संबंध में प्रो. मैनेजर पाण्डेय का यह कथन भी अत्यन्त सार्थक है, कि ''दलितों को अपनी बात कहने का अब तक अवसर कहाँ था, अब वह अपनी बात स्वयं कहने की स्थिति में हैं, तब वह अन्य लेखकों के लेखन को अपनाएं या खारिज करें।''[9]

शिष्ट साहित्य और दलित साहित्य की तुलना से स्पष्ट होता है कि शिष्ट साहित्य में भाषा की शालीनता तो है, पर यथार्थ का चित्रण अक्सर कमजोर रहता है। रमणिका गुप्ता के अनुसार दलित साहित्य की प्रामाणिकता का आधार जीवनानुभव है, जिसे अभिजन या शिष्ट साहित्य सही रूप में व्यक्त नहीं कर पाता। दलित साहित्य अनुभवजन्य होने के कारण अधिक यथार्थपूर्ण है, इसलिए इसमें आत्मकथा को विशेष महत्व मिलता है। इन आत्मकथाओं में लेखक केवल अपनी नहीं, बल्कि पूरे समाज की पीड़ा और संघर्ष को स्वर देता है। जहाँ अभिजात्य साहित्य प्राय: कल्पना और मनोरंजन तक सीमित रहता है, वहीं दलित साहित्य जीवन के कठोर यथार्थ और सामाजिक सच्चाइयों का साहित्य है। इस संबंध में अजय नावरिया का मानना है कि ''आखिरकार दलित साहित्यकार क्यों और किस आधार पर गैर-दलितों के दलित विषयक लेखन की विश्वसनीयता को खारिज करते हैं? प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व समाजगत परिवेश, संस्कार, सोच, दर्शन, भाषा पहनावा तथा खान-पान के संश्लिष्ट ताने-बाने से रूपरंग पाता है। ये जीवनानुभव तथा बोध जो वह परिस्थिति अथवा परिवेश विशेष में संचित करता है। साहित्य के सृजन काल में नए रंगों में तथा कल्पना की तूलिका से नई आभा में रूपायित होती है। अनुकूल स्थितियां पाकर यह सर्जनात्मक अभिव्यक्ति विभिन्न बिम्बों तथा प्रतीकों के माध्यम से जीवंत रचना का रूप पाती हैं।''[10]

यह बिल्कुल सत्य है कि जिसने स्वयं पीड़ा नहीं झेली, वह उसका वास्तविक वर्णन नहीं कर सकता। यही बात साहित्य पर भी लागू होती है। केवल शब्दों की सजावट से रचना बन सकती है, पर उसमें आत्मा वही डाल सकता है जिसने उस यथार्थ को जिया हो; जैसे युद्ध का सच्चा वर्णन वही योद्धा कर सकता है जो युद्धभूमि से लौटकर आया हो। दलित साहित्य के संबंध में ओमप्रकाश वाल्मीकि का स्पष्ट मत है ''गैर-दलित जो भी दलितों के बारे में लिखता है। उसकी प्रामाणिकता इसलिए संदिग्ध होती है कि दलितों के जीवन के बारे में गैर-दलित सिर्फ उतना ही जानते हैं, जितना उनका सम्पर्क श्रम से संबंधित होता है। उनके अंतर्भाव, उनकी सोच, उनकी मान्यताओं, जीवन मूल्य या उससे जुड़ी हुई अन्य चीजों को गैर-दलितों के पास जानने का कोई साधन नहीं है। यदि कभी उन्होंने कोशिश भी की है तो इन चीजों पर लिखने से उनके सामाजिक रिश्ते सिर्फ उपयोग तक हैं। इसलिए गैर-दलित दलितों के घरों में होने वाले संघर्षों को तो जानते ही नहीं। यदि ऐसा न होता तो हिन्दी साहित्य में दलितों के चित्रण को लेकर सवाल ही न उठते।''[11]

आज के समय में दलित साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण और विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे अपने अनुभवों के आधार पर प्रामाणिक तथा सार्थक नए साहित्य का सृजन कर रहे हैं और इसी माध्यम से साहित्य का एक नया सौंदर्यबोध विकसित कर रहे हैं। ऐसे साहित्य का निर्माण गैर-दलित साहित्यकारों को भी करना चाहिए तथा नए साहित्यिक प्रतिमान स्थापित करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। वास्तव में दलित साहित्य आत्ममंथन और आत्मचिंतन का साहित्य है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि दलित साहित्यकार अपने साहित्य की पूर्णता को बनाए रखते हुए गैर-दलित साहित्यकारों के सार्थक लेखन को भी स्वीकार करें। तभी ऐसा साहित्य समाज के हित में उपयोगी सिद्ध होगा और व्यापक रूप से सर्वमान्य बन सकेगा।

दलित समाज में यह पहला शिक्षित वर्ग है, जिसमें दलित साहित्यकार अपनी पीड़ा और अनुभवों को स्वर देकर एक नए समाज के मानक निर्मित कर रहे हैं। इस साहित्य में नायक कोई अन्य नहीं, बल्कि स्वयं लेखक या उसके समाज के सामान्य लोग होते हैं, जैसा कि अधिकांश दलित आत्मकथाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यही दलित साहित्य की वास्तविक सार्थकता है। इसके साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि अब युवा दलित लेखक निरंतर तैयार हो रहे हैं। दलित साहित्य को पढ़कर उन्हें अपने जीवन और समाज की बात कहने की शक्ति प्राप्त हो रही है। वे उससे प्रेरणा लेकर हतोत्साहित नहीं होते, बल्कि और अधिक उत्साह तथा तेज गति से साहित्य के नए-नए प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं। यही

दलित साहित्य की प्रामाणिकता और उसकी सार्थकता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

★पी.एच.डी. शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई.मेल - prince.gupta.rewa.mp@gmail.com

डॉ. संतोष कुमार
शोध-निर्देशक
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित चेतना (लेख), संचेतना, आगरा, सितम्बर-दिसम्बर संस्करण, वर्ष-1994, पृ. 83
2. मीनू, रजत रानी, हिन्दी दलित कथा साहित्य-अवधारणाएँ और विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 2010, पृ. 247-248
3. सिंह, पुन्नी, प्रसाद, कमला व शर्मा, राजेन्द्र संपादक, भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष - 2003, पृ. 325
4. वही, पृ. 328
5. वही, पृ. 397
6. सिंह, विजेन्द्र प्रताप, संपादक, वंचित संवेदना का साहित्य भाग - एक, आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 2015, पृ. 42
7. सं. सदानंद शाही, दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, वर्ष 2000, पृ. 105
8. सिंह, विजेन्द्र प्रताप, संपादक, वंचित संवेदना का साहित्य भाग - एक, आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 2015, पृ. 95
9. सिंह, पुन्नी, प्रसाद, कमला व शर्मा, राजेन्द्र संपादक, भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष 2003, पृ. 307
10. सिंह, विजेन्द्र प्रताप, संपादक, वंचित संवेदना का साहित्य भाग - एक, आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 2015, पृ. 310
11. सिंह, विजेन्द्र प्रताप, संपादक, वंचित संवेदना का साहित्य भाग - एक, आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 2015, पृ. 310

तलत जेबा

कुबेरनाथ राय कृत 'प्रिया नीलकण्ठी' निबन्ध संग्रह का अध्ययन

शोध-सार

'प्रिया नीलकण्ठी' में राय जी की वैचारिक अनुभूति कल्पना पर आश्रित है। इसलिए इसमें भाव और मस्तिष्क का समन्वय देख सकते हैं। विभिन्न परिवेशों से राय जी पाठकों के सामने आने के कारण ये दोनों आत्मीय बन गए हैं। राय जी ने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रकट कर सामाजिक समस्या पर गंभीर विचार करते हैं। विषय चाहे पौराणिक हो, सामाजिक हो, वैचारिक हो या साहित्यिक हो सब में कहीं न कहीं प्रकृति के प्रति मोह है। प्रकृति के प्रति विशेष प्रीति होने के कारण सर्वत्र सौन्दर्य की झलक है। ग्रामीण और नगरीय संस्कृति की झलक इस निबन्ध संग्रह में दिखाई देती है। औद्योगिकरण के दुष्परिणाम का चित्रण इनके निबंधों में दिखाई देता है। अंधविश्वास को दूर करने की बात राय जी इस निबन्ध संग्रह में करते हैं। भाषा ललित, मनोरंजक, संवादात्मक, आत्मीय, काल्पनिक और वैयक्तिक है। इनकी कल्पना शैली भावनाओं की वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त बन गई है। गूलर के फूल, हेमन्त ऋतु, वसन्त ऋतु, विभिन्न वृक्ष, चण्डीथान आदि के द्वारा राय जी ने समाज की जिन समस्याओं की ओर ध्यान दिया, वे इस ललित निबन्ध-संग्रह की गरिमा को बढ़ाते हैं।

बीज-शब्द

कुबेरनाथ राय, ललित निबंध, प्रिया नीलकण्ठी, मानववाद, शहरीकरण, संपाती के बेटे, रस आखेटक, मधु माधव, हेमन्त की संध्या

कुबेर नाथ राय हिन्दी ही नहीं समस्त भारतीय भाषाओं में ललित निबन्ध विधा के श्रेष्ठ व सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने इस विधा को एक विशिष्ट ऊँचाई प्रदान की है तथा इसके कई अनोखे व अनजाने आयामों का भी उद्घाटन किया है। कुबेरनाथ राय ललित निबन्धकार होने के साथ-साथ एक मौलिक साहित्य चिंतक भी हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'ललित' की विवेचना करते समय सौन्दर्य और ललित को पृथक किया है। वे सौन्दर्य को प्राकृतिक और ललित को मानव-रचित मानते हैं 'लालित्य, अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला मानव-रचित सौन्दर्य'।[1]

ललित निबन्ध अपने मूल में रससिक्त विधा है। चिन्तनशीलता, भावात्मकता, वैयक्तिकता, संस्कृतिनिष्ठता, शास्त्रज्ञता, लोकनिष्ठता, रागात्मकता, स्वच्छन्दता, एकसूत्रता, संक्षिप्ता और काव्यात्मकता ललित निबन्ध के तत्त्व हो सकते हैं। ललित निबन्ध भारतीयता और भारतीय जीवन की मूल्यवत्ता की सार्थक एवं जीवन्त अभिव्यक्ति है।

कुबेरनाथ राय ने विभिन्न विषयों की जानकारी के लिए जहाँ प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन किया, निजी अनुभवों और अनुभूतियों का आश्रय लिया वहाँ अनेक बड़े-बूढ़ों के ज्ञान का भी सहारा लिया है। वे स्वयं कहते हैं- 'गुणी जनों और वृद्धों की संगत करके मृगों के बारे में मुझे अद्भूत बातें ज्ञात हुई।'[2]

किसी भी विषय का विवेचन करते हुए उनकी चेतना में सुप्त ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिक, मिथकीय साहित्यिक सन्दर्भ सक्रिय हो उठते हैं इसलिए प्राय: उनके सभी निबन्ध बहुआयामी हैं। कुबेरनाथ राय का चिन्तन तार्किक सूक्ष्म गहरा विश्लेषपरक और वैज्ञानिक हैं वे किसी भी विषय का विवेचन करते समय

पक्ष और विपक्ष दोनों को पूरे बल से प्रस्तुत करते हैं। कुबेरनाथ राय ने लिखा है- 'मैंने क्लासिक शिल्प, लोक संस्कृति और आधुनिक चिंतन तीनों से मधुकरी ग्रहण की है परन्तु उनके सहज-स्वाभाविक 'मुख' को ही स्वीकारा है मैं न तो प्राचीनों के 'मुखकमल' के पीछे भटका हूँ और न नवीनों के 'मुखोश' का ही गर्व किया है'[3] कुबेरनाथ राय के चिन्तन का एक अन्यतम गुण है- मौलिकता से विभिन्न विषयों पर अपने एकदम नए और निजी विचार प्रकट करते हैं। वे आधुनिकता को नई और पुरानी दो श्रेणियों में विभाजित करके चलते हैं। राम को नारायण का और रावण को प्रति-नरायण का प्रतीक मानना, महाभारत को क्रोध की त्रासदी मानना और रामायण को काव्य की त्रासदी मानना श्री राय की निजी धारणाएँ हैं।

कुबेरनाथ राय का कृतित्व-कुबेरनाथ राय जी ने सैंकड़ों निबन्ध, लेख, रिपोर्ताज इत्यादि लिखकर हिन्दी गद्य तथा निबन्ध विधा को समृद्ध किया है। और अपनी लेखनी द्वारा आधुनिक एवं नूतन युगबोध को मुखरित करने का प्रयास किया है। इनके निबन्धों की पृष्ठभूमि भले ही पुरातन क्यों न हो, किन्तु इनके भाव, विचार, कल्पना, शैली इत्यादि सभी अपने आप में आधुनिकता लिए हुए हैं। 'कुबेरनाथ राय ने परम्परागत भारतीय जीवन और संस्कृति को आधुनिक दृष्टि से देखने समझने की चेष्टा की है। उन्होंने भारतीय चिन्तन धारा के अतिरिक्त आधुनिक समाजवादी एवं अस्तित्ववादी विचारधाराओं का भी अध्ययन किया है।'[4] कुबेरनाथ राय जी के निबन्ध संग्रह निम्नलिखित हैं-

कुबेरनाथ राय के लगभग 25 निबन्ध संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 1. 'प्रिया नीलकण्ठी' (1968 ई.), 2. 'रस आखेटक' (1970 ई.), 3. 'गंधमादन' (1972 ई.), 4. 'विषाद योग' (1973 ई.), 5. 'निषाद बाँसुरी' (1974 ई.), 6. 'पूर्ण मुकुट' (1978 ई.), 7. 'महाकवि की तर्जनी' (1979 ई.), 8. 'मणि पुतुल नाम के नामपत्र' (1980 ई.), 9. 'मन पवन की नौका' (1982), 10. 'किरात नदी में चन्द्रमधु' (1983 ई.), 11. 'दृष्टि-अभिसार' (1984 ई.), 12. 'त्रेता का बृहत् साम' (1986 ई.), 13. 'कामधेनु' (1990 ई.), 14. 'मराल' (1993 ई.), 15. 'उत्तर-कुरू' (1994), 16. 'चिन्मय-भारत' (1996 ई.), 17. 'वाणी का क्षीर-सागर' (1998), 18. 'अंधकार में अग्नि शिखा' (1998 ई.), 19. 'रामायण महातीर्थय' (2002 ई.), 20. 'आगम की नाव' (2005 ई.)।

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर से जुड़कर ही परिभाषित हुआ है। कुबेरनाथ राय अपनी सम्पूर्ण निबन्ध यात्रा में मनुष्य को स्वयं अपरिचित नहीं होने देते, बल्कि उसे अपनी वास्तविक पहचान दिलाने के लिए उसके वर्तमान में उगी हुई जगड़त, सीमाओं को तोड़ते है। वे अपने ललित निबन्धों में संस्कृति-सम्पन्न स्वाधीन मनुष्य का स्वप्न बुनते हैं।

'विद्यानिवास मिश्र की तरह कुबेरनाथ राय भी हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्थान के निबन्धकार है, फर्क यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं जबकि कुबेरनाथ उनसे मुक्त होकर नई भंगिमा अपनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। उनके निबन्ध-संग्रहों 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रस आखेटक', गंथमादन' में सांस्कृतिक सन्दर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झाँकते जीवन को देखा जा सकता है।'[5]

कुबेरनाथ राय कृत 'प्रियानील कण्ठी' निबन्ध संग्रह

श्री कुबेरनाथ के इस पहले ही ललित निबन्ध संग्रह को हिंदी भाषी पाठकों ने बेहद पसंद किया। ललित निबन्धकार के रूप में इस कृति ने श्री कुबेरनाथ राय को न केवल प्रतिष्ठा दिलाई प्रत्युत हिंदी गद्य में कुबेरनाथ राय की सशक्त उपस्थिति भी दर्ज कराई। इस संग्रह की लोकप्रियता का यह आलम है कि आज कुबेरनाथ राय जी का मूल्यांकन इसी संग्रह के आधार पर किया जा सकता है।

'प्रिया नीलकण्ठी' में श्री कुबेरनाथ राय शुद्ध रूप में ललित निबन्धकार हैं। इस संग्रह की वैचारिक पृष्ठभूमि में भारतीय साहित्य की क्लासिकल परंपरा शाक्त-वैष्णव मनोभूमि और आधुनिक-बोध तीनों रहे हैं परस्पर पूरक रूप में। निबन्ध के विषय प्राय: आस-पास के परिवेश से ही लिए गए हैं अथवा भारतीय साहित्य से। वे कृत्रिमता से सर्वथा दूर यथार्थ के परिवेश से परिपूर्ण हैं, इनमें निबन्धकार ने अपनी बात कहकर पाठकों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। कुबेरनाथ राय के 'प्रिया नीलकण्ठी' निबन्ध संग्रह पर 1971 ई. में उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' पुरस्कार भी मिल चुका है।'[6] कुबेरनाथ राय का प्रथम निबन्ध संग्रह 'प्रिया नीलकण्ठी' 1969 ई. में प्रकाशित हुआ। 'इस निबन्ध संग्रह में लेखक ने दो बिम्ब उभारे हैं, जो भारतीय साहित्य और धर्म के प्रति उनकी निष्ठा और आस्था के उज्ज्वलतम पक्ष को उजागर करते हैं। पहला बिम्ब 'प्रिया नीलकण्ठी' जो इस निबन्ध का नाम है, जिसे निर्वासन और

नीलकण्ठी नामक निबन्ध से निकाला गया है। 'शिव तो नीलकंठ के नाम से विख्यात हैं ही। मेरी कल्पना मेरी प्रतिज्ञा भी विषपायी नीलकण्ठी है। दुख या उल्लास दोनों के भीतर जहर होता है। उस जहर को खींचकर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है और धरती को जो कुछ देती है और वह शुद्ध प्राण और रस रहता है।... एक दूसरा भी बिम्ब है, जो नए साहित्य का केन्द्रीय बिम्ब बना हुआ है: सलीब पर यंत्रणा भोगता मसीहा। मसीहा सारे विश्व की यंत्रणा को स्वयं भोगता है, जिससे विश्व यंत्रणा से मुक्त हो जाये। पर 'प्रिया नीलकण्ठी' की 'इमेज' (बिम्ब) उक्त यंत्रणा भोग और इसके विषपान में साम्य होते हुए भी अधिक स्वस्थ और 'स्व' - स्थ है। सलीब पर टंग जाने पर चरम क्षण में मसीहा की आस्था टूट जाती है, ईश्वर उसका साथ छोड़ देता है।'[7]

इस संग्रह में भूमिका की जगह 'गूलर का फूल' (एक अरण्य कथा) नामक एक कहानी दी गई है जिसमें एक रात्रि काक-बक-उलूक, गूलर का फूल देखने की कामना से उस वृक्ष पर अतिथि रूप में आते हैं। अपने अतिथियों की कामना पूर्ण करने में असमर्थ गूलर बेहद निराश है कटहल जब गूलर से निराशा का सबब पूछता है तब गूलर उद्घाटित करता है अपने फूलों की रहस्य-कथा। हिरण्यकश्यप का पेट चीरने के पश्चात् नरसिंह के नखों में ज़हर की ज्वाला धधक उठी। उस ज़हर से मुक्ति देने को कोई तैयार नहीं था। गूलर से नारायण की पीड़ा सहन नहीं हुई और उसने अपना शरीर नारायण के नखों को सौंप दिया। उसी ज़हर का प्रभाव रहा कि सदियों बाद भी गूलर में फूल नहीं आते। विकसने से पूर्व ही वे भस्म हो जाते हैं। गूलर की कथा सुनकर काक-बक-उलूक धन्य हो जाते हैं। इसमें गूलर और कटहल की कल्पित वार्ता द्वारा कुबेरनाथ राय ने यह स्थापना की है कि वास्तविक सौन्दर्य बाहरी रूप में नहीं, अन्त: हृदय में होता है।

इस संग्रह में भूमिका के अतिरिक्त कुछ पंद्रह ललित निबन्ध है। जिसमें आरंभिक पाँच शुद्ध रूप से प्रकृति, ग्रामीण-प्रकृति के अद्भुत सौंदर्य का सरस उद्घाटन करते हैं।

'हेमन्त की संध्या' ललित शैली में लिखित चिन्तनपरक निबन्ध है। इस निबन्ध की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रकृति सौन्दर्य के साथ-साथ व समानांतर साहित्य-समाज-संस्कृति आदि भी प्रस्फुटित होते चलते है पर सहज और स्वाभाविक रूप से ही। हेमन्त का वर्णन और पत्तों का झरना तो मानों एक बहाना है, मुख्य है-वर्तमान युग का विषाद, उसकी जड़ता और समाज की दिशाहीनता। ''करूणा विषाद की रोमांटिक अवस्था है। वही अनुभूति जब क्रूर रूप में घटित होकर कठोर सत्य बन जाती है तो हम विषाद कहते हैं मृत्यु का बोध विषाद है।''[8] इस सूत्र कथन के पश्चात् लेखक तत्कालीन साहित्य व समाज बोध पर गहन चिंतनात्मक टिप्पणी करते हैं-

''विषाद में सारे मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं। आधुनिक युग को हम विषाद का युग कह सकते हैं। आज जो घटित हो रहा है वह ट्रेजेडी नहीं। ट्रेजेडी से तो मनुष्य का धरातल सदैव ऊँचा उठता है। हमारा युग स्नेह और प्रीति में तो रिक्त है ही, करूणा में भी यह अति दरिद्र है।''[9]

'मधु माधव' प्रकृति पर आधारित ललित निबन्ध है। इसका प्रारम्भ बसन्त और उल्लास से होता है। 'मेरे मन के बौर से लदे हुए उल्लास-मत आम्र-वृक्ष पर भनभनाते हुए झुण्ड के झुण्ड मधुवा, उनके अन्तराल में छिपी कूकती कोयल... चित्र खूब फास दृष्टिगत हो रहा है।'[10] इसमें ग्रामीण जीवन लोक-आस्था, फागुन-गान, उल्लासमय स्मृतियों के प्रसंग आते हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति के जितने भी तत्त्व हैं उन सभी का संबंध श्री राय के ललित निबन्धों से है। ऐसा ही एक प्रतीक है नीम। नीम के महत्त्व से लगभग सभी परिचित ही है पर सनातन नीम में नीम का कुछ और ही रूप नज़र आता है। नीम का एक दृश्य इस प्रकार है-'नभचारी-सभा के समाप्त होते ही रात्रि की धूम-लेखा आकाश के मस्तक से उतरकर धरती पर आ जाती है। धीरे-धीरे नीम की टहनियों, पत्तियों और फुनगियों पर साहित्य छाने लगता है। प्रहर रात जाते-जाते पत्तियों पर कविता उग आती है लहरात्री टहनियों पर भावों की नौकाएँ अपना पाल तान देती हैं। सप्त नाड़ी में उपन्यास लिखा जाने लगता है। रस की यह रचना सनातन है।'[11] इस निबन्ध में कुबेरनाथ जी ने अपनी निजी अनुभूतियों का वर्णन किया है। 'सनातन नीम' में लोकहितकारी, शुभ और लाभकारी नीम के पेड़ के प्रति अनुराग प्रकट किया है। इसमें विभिन्न ऋतुओं का भी वर्णन किया गया है।

'मनियारा साँप' का प्रारम्भ कृष्ण की प्रतीक्षा में आतुर राधा के प्रसंग से होता है। कुबेरनाथ जी ने नए साहित्यकारों को सन्देश दिया है कि भावुकता सहस्त्रफन शेषनाग के समान सृष्टि की मूल है। 'आधुनिक साहित्य की जो भावी प्रतिक्रिया होगी, उसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रूमान एवं

भावुकता से अवश्य होगा। भावुकता सहस्त्रफल शेष है। वह हमारी सृष्टि के मूल में कुण्डली मानकर बैठी है। शेषनाग जब एक फण से दूसरे फण पर धरती को लेते हैं, तो भूकम्प आता है।'[12]

'डूबता हुआ देवयान' आधुनिक युगबोध पर आधारित अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीकात्मक निबन्ध है। प्रारम्भ में अनातोले फ्रांस और ईश्वर की चर्चा और नीत्से द्वारा ईश्वर की मृत्यु की घोषणा है। परिणामस्वरूप, श्रद्धा का अन्त और बुद्धिवाद का जन्म हुआ। बुद्धिवाद ने ईश्वर को, श्रद्धा को, विश्वास को ललकारा है। 'बौद्धिक जगत में भौतिक दर्शन, यान्त्रिक मनोविज्ञान और अन्त में मार्क्सवाद ने श्रद्धा प्रधान विश्वासों को पंगु कर दिया। ईश्वर के स्थान पर मानवमुक्ति के प्रति नवीन श्रद्धा का बीजारोपण किया गया... इस समूची प्रक्रिया का प्रारम्भ उस दिन से होता है जिस दिन बुद्धि ने ईश्वर को, विश्वास को ललकारा था।'[13]

मानव आज इस भयग्रस्त समाज में अकेला है। उसे एक सखा की ज़रूरत अवश्य है। 'आछी का पेड़, पैशाची, जरथुस्त्र और मैं' में कुबेरनाथ राय आछी के पेड़ को अपना दोस्त मानते हैं। कुबेरनाथ राय का विश्वास है कि आछी के पेड़ में प्रेतात्माओं का वास है। राय जी आशा करते हैं कि प्रेताविष्ट पेड़ होने पर भी अकेलेपन से ज़रूर ही अच्छा होगा। 'प्रेत आविष्ट पेड़ ही सही। कुछ भय घटता है। सारे भय के मूल में शायद यही अकेलापन था। अब तो हम दो हैं। एक मैं और दूसरा वह पेड़। मेरा भई, मेरा सखा पेड़।'[14] राय जी इस पेड़ के माध्यम से समाज में व्याप्त अजनबीपन को दूर करने के प्रयत्न में है। इस प्रकार हर एक अपने को एक सखा ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करें तो हम एक श्रृंखला बना सकते हैं और अस्तित्व जमा सकते हैं।

आछी के पेड़ पर दृष्टि डालने पर राय जी भावना में डूबते हैं, 'अचानक नज़र पड़ने पर उसकी आकृति सादे आसमान की पृष्ठभूमि पर ऊँटनुमा प्रेम-यान की तरह लगती है...।'[15] हमें ऐसा लगता है कि यह पेड़ हमारे सामने है। रात के परिवेश में कुबेरनाथ राय का मन घूम रहा है, यह इस ललित निबन्ध में देख सकते हैं। इसमें लोगों के अंधविश्वास दूर करने का प्रयत्न भी है।

कुबेरनाथ राय को अपने गाँव में 'हनुमान विलाप' का अभिनय देखकर ऐसा लगता है कि अब भी गाँव में त्रेता जीवित है, पर उसके संचारी भाव बदल गया है। 'अवरुद्ध त्रेता: प्रतीक्षारत धनुष' इसकी सूचना देता है। हनुमान विलाप की आकृति बदल गयी है। उत्साह के स्थान पर खोझ उसका स्थायी भाव बन गया है। राय जी त्रेतायुग को भारतीय साहित्य के वीररस का प्रतीक मानते हैं। 'त्रेतायुग वीरगाथा युग है, भारतीय साहित्य का। हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काव्य में पराजय का आक्रोश है। पर इस भारतीय साहित्य के वीरगाथा काव्य में सनातन विजय का उद्घोष है। यह शुद्धतम वीररस का प्रतीक है, जिसमें कुछ भी हीन और अमानवीय नहीं है।'[16]

कुबेरनाथ राय ने सनातन काल को वर्तमान में निहित त्रेता-द्वापर और अनागत को किसी उपनिषद् या ईलियट के फोरक्वार्टेट्स के माध्यम से न देखकर आसपास के जीवन के द्वारा देखा है। 'जब कभी वर्तमान का मुखौटा भूल से सरक जाता है, तो त्रेता का तेजदीप्त त्रिपुण्ड्रधारी ललाट, द्वापर की खमदार भौंहें और खंजन नयन तथा अनागत का सरल कुण्ठाहीन और ताज़ा नयी हँसी से भरा हुआ किशोर मुख झलक जाता है।'[17] राय जी अनागत का स्वप्न देख रहे हैं। वे रामलीला के मंच से भविष्य की ओर जाते हैं। यह उनकी भावात्मक प्रतिभा का दृष्टान्त है। इस भाव के अन्दर जीवन का उज्ज्वल भविष्य निहित है।

'संपाती के बेटे' शीर्षक निबन्ध में संपाती को माध्यम बनाकर साहित्यकार की स्थिति व्यक्त करते हैं। संपाती (पौराणिक पात्र है) ने सूर्य को छूने के प्रयत्न में अपने पंख नष्ट कर दिये। पैगम्बर या साहित्यकार ऐसे संपाती हैं जो अपने पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते और दु:खी भी नहीं होते। चारों ओर पराजय, निराशा, रिक्तता और दुर्गन्ध हों तो भी पछताते नहीं। इससे भिन्न एक दूसरा वर्ग भी है, वे जटायु की तरह निरावरण सत्य की खोज में चलते हैं। तेज के स्पर्श की इच्छा होते हुए भी चुनौती स्वीकार करके सूर्य तक जाने का साहस नहीं करते।

प्रतिकूल परिस्थिति में भी लक्ष्य की पूर्ति साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। राय जी के मत में ये संपाती के बेटे हैं, जो कष्ट सहने पर भी नयी वस्तुओं की खोज करते हैं। संपाती का परिचय देकर नयी पीढ़ी को जगाना राजयी का उद्देश्य है। इस संग्रह के अधिकांश निबन्धों में कुबेरनाथ राय अपने आस-पास की प्रकृति का चित्रण करते हैं, जो उनके जीवन का अंश भी हैं। 'हाँ, मेरी खिड़की के पास ही पुराना पीपल का पेड़ है जिस पर-से समय-कुसमय गृध्र-युग्मों के काम-सीत्कार के घोर रव सुन पड़ते हैं।'[18] यहाँ उनकी भाषा का सौन्दर्य बढ़ गया है।

रसात्मक भावना की अनुभूति झलकती है।

गाँव की भोली-भाली जनता पर भी राय जी दृष्टि डालते हैं। उनके जीवन-रीति, वेश-भूषा, अंध विश्वास, भोलापन आदि का अध्ययन कर पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। संस्कृति का चित्रण विशेषकर लोकजीवन का परिचय ललित निबन्ध की विशेषता है। 'चण्डीथान' लोकजीवन पर आधारित ललित निबन्ध है, जिसमें चण्डीथान की देवी को वहाँ के असंस्कृत लोग अपना सर्वस्व मानते हैं, राय जी ने इस निबन्ध में व्याप्त अंधविश्वास को दिखाया है- 'घर-घर कथा प्रचलित है कि जब शलिवाहन ने इस 'बावन' क्षेत्र पर आक्रमण किया तो इस भैरवी ने सरसा की तरह मुँह फैलाकर सारे क्षितिज को ढक लिया और अत्याचारी जान लेकर भागा... यह भी प्रचलित है कि प्रति अमावस्या की घोर रात्रि में सबके सो जाने पर चुपके से यह देवी पाँच वर्ष से नीचे के प्रत्येक शिशु के सिरहाने आकर खड़ी होती है, उसका मुख देखने के लिए।'[19]

बालकों का मन शंकाओं से भरा हुआ है। किसी भी वस्तु पर वे तरह-तरह के प्रश्न करते हैं और शंका-निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। 'निर्गुण नक्शे: सबुज श्याम धरती' नामक निबन्ध ऐसे एक बाल मनोवैज्ञानिक चित्रण से आरंभ होता है। एक नक्शे को देखकर बचपन में राय जी को अनेक शंकायें थीं, '...जमीन हरी है, आकाश नीला है, खपरैल लाल हैं तो इन सबका इस नक्शे के निर्गुण चित्र में लोप कैसे हो गया।'[20]

'निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया' में वसन्तागमन के साथ-साथ धरती अपनी सारी दरिद्रता को भूलकर एक महाराग में लीन हो गई है। इसमें श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि अलग न होकर एक के भीतर दूसरा समाया जाता है। इस प्रकार महारस की उत्पत्ति होती है, इस परिस्थिति में राय जी महाराग के गड्डलिका प्रवाह से निर्वासित है। वे अनुमानित करते हैं, 'वर्तमान युगबोध में निर्वासन का संचारी भाव प्रधान बोध-सा लग रहा है। यह दु:खमय अवस्था है। पर आनेवाले अनाहूत अनागत के लिए दिशा-निर्देश इसी निर्वासन से मिलेगा-एक ऐसा दिशा-निर्देश जो समुद्र संतरण करवायेगा, जो प्रत्यभिज्ञान प्राप्त करवायेगा, स्वर्णपुरी में कैद व्यथापीड़ित सत्यों से साक्षात्कार करवायेगा, और जिससे साहस और वीरता के विकास के लिए अवसर मिलेगा।'[21] 'साहित्य में निर्वासन स्थायी भाव नहीं, स्थायीभाव है नित्य अकेलापन। निर्वासन बरदाशत नहीं कर पाता हूँ। अवश्य मुझे अकेलापन चाहिए जहाँ मैं अपने ''स्व'' के साथ रह सकूँ। पर मुझे यह पसन्द नहीं कि निर्वासन की पीड़ा को रस मानूँ।'[22] इसमें राय जी वसन्त के महाराग से निर्वासित अवस्था से होकर साहित्य के निर्वासन और अकेलापन तक पहुँचते हैं। मतलब है कि आधुनिक भावबोध पर वे ध्यान देते हैं। इसके आधार पर ही राय जी ने इस संग्रह का नाम 'प्रिया नीलकण्ठी' रखा है।

राय जी ने ललित निबन्धों की रचना के लिए महाभारत, रामायण जैसे स्रोतों की सहायता ली है। उनके अधिकांश निबन्धों में यह देख सकते हैं। 'शमी वृक्ष पर लटकते शव' में महाभारत के वनपर्व में प्रतिपादित शमी वृक्ष को आत्मतेज धारण करने वाली हमारी जातीय संस्कृति का प्रतीक माना गया है। शमी के अग्निगर्भा नाम पर भी प्रकाश डाला गया है। 'देवताओं ने अग्नि को शमी से बाहर निकाला और शमी वृक्ष को अग्नि का पवित्र वास-स्थान नियत किया। इससे इसे 'अग्निगर्भ' कहते हैं।'[23] राय जी को पेड़-पौधे की ध्वनि मोहक लगती है। 'मुझे लगता है कि बागों की बनी-ठनी लेटी हुई क्यारियाँ और फूलों की महफिलें कलियुग हैं, ये ध्यानस्थ बैठे गाँव के वट-पीपल द्वापर हैं, पर जंगलों के ये लग्धड़-बेमरम्मत, उद्दण्ड खड़े पेड़ त्रेता है और ये यदि चल देंगे तो सतयुग का साकार रूप सामने आ जायेगा।'[24] यहाँ राय जी भावना में डूब जाते हैं।

कुबेरनाथ राय आशा करते हैं कि आज के धार्मिक नेतृत्व जल्दी ही समाप्त हो जाय तो कितना अच्छा होता, क्योंकि पुरोहित वर्ग सनातन को गलत अर्थ में पकड़ लिया है। उनके अनुसार सनातन का अर्थ जड़ता, अपरिवर्तनवादिता और स्थिति शीलता है। राय जी के मत में, हमें जिस प्रकार एक संविधान चाहिए, एक सरकार चाहिए वैसे ही एक धर्म भी चाहिए। समूह का काम न तो कोरे बुद्धिवाद से चल सकता और न कोरे वैज्ञानिक मानववाद से, जो अध्यात्म निरपेक्ष होता है। अत: अध्यात्मसापेक्ष धर्म चाहिए। यहाँ कुबेरनाथ राय का स्वर वैचारिक बन गया है।

अपने बुनियादी स्वरूप में समाज परंपरा का अविच्छिन्न प्रवाह है। रीति-रिवाज, कर्मकांड, संस्कारों आदि के माध्यम से परंपरा का निर्वाह होता है। कुबेरनाथ राय का परंपरागत समाजबोध बेहद संतुलित व वैज्ञानिक है। वे अतीत के प्रत्येक शुभपक्ष को सहर्ष स्वीकारते हैं और अशुभ को धिक्कारते भी हैं। उनके सृजन जगत से परंपरागत समाज बोध की कुछ झलकियाँ द्रष्टव्य हैं- 'बहुरूपी' निबन्ध में वे लिखते हैं- ''इस देश का साठ प्रतिशत तो सनातन से गरीब है। इस साठ

प्रतिशत को वर्णाश्रित समाज-व्यवस्था ने अनंतकाल के लिए भूख और दरिद्रता के हाथों बेच दिया है। मेरा तात्पर्य निचली श्रेणी के वैश्यों और शूद्रों से हैं परंतु पहले वे रास, लोकगीत और लोकनृत्य के माध्यम से अभिरूचि को तेज़ और धारदार किये रहते थे। लोहारों के टोले में, चमारों के टोले में अपनी-अपनी मंडली बैठती थी, हर बिरादरी की अपनी लोकगाथा थी।... कई बिरादरियों का अपना लोक-नृत्य भी था।''[25]

राय जी संस्कृति और जीवन के रूचि परिवर्तन को औद्योगिक क्रान्ति का कारण मानते हैं और शहरीकरण के कारण ग्राम संस्कृति, गीत-नृत्य नष्ट हो रहे हैं। नगर-संस्कृति प्रगतिशील है जिसके लिए राय जी चिंतित है। 'गाँवों में शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है। औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति, दोनों का दायरा विस्तृत होता जा रहा है: फलत: गाँवों का मन बदल रहा है। उनके संस्कार बदल रहे हैं... ग्रामों के माध्यम से ही हम हिन्दुस्तान के व्यक्तित्व की, उसकी निजी सनातन अस्मिता की रक्षा कर सकते हैं।... गाँवों की नयी पीढ़ी अपने मन को जिस दिशा में विकसित कर रही है, वह है शहरी मन की दिशा।'[26]

'प्रिया नीलकण्ठी' के शेष निबन्ध अंतिम दो को छोड़कर, साठोत्तरी हिंदी साहित्य तथा बाङ्ला-असमिया साहित्य में व्याप्त हताशा, कुंठा, अवसाद, अजनबीपन आदि की सार्थक समीक्षा करते हैं। इस सबकी पृष्ठभूमि में असम तथा ग़ाज़ीपुर की लोकसंस्कृति व प्राकृतिक परिवेश की उपस्थिति सतत रहती है। कुबेरनाथ राय जी का यह ललित निबन्ध संग्रह निबन्ध विधा में अपनी अमिट छाप छोड़ता है।

राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कुबेरनाथ राय के निबन्धों के बारे में लिखा है-

'कुबेरनाथ राय के निबन्धों में काव्यात्मक संवेदन के साथ विविध प्रसंगों को लेकर सूक्ष्म पर्यवेक्षण होते हैं। भाषा का प्रभाव बराबर समरस रहता है और बीच-बीच में कुछ बौद्धिक विवेचन का क्रम बना रहता है। यात्रा-प्रसंगों के साथ मानसिक ऊहा-पोह भी चलता है। यों निबन्ध का विधान यहाँ पूरी तरह तोषप्रद बना है।'[27]

शिल्प पक्ष

साहित्य मूलत: भाषिक कला है। सामान्य भाषा से तात्पर्य 'ऐसी भाषा से है जिसे समाज के सभी या सामान्य लोग समझ सके सामान्य-भाषा कही जाती है जो वर्ग-जाति या स्तर-विशेष की न होकर सर्वसामान्य की भाषा है।'[28]

भाषा ही साहित्य को रूपाकार प्रदान करता है। ललित निबन्ध की भाषा अपेक्षाकृत सुसंस्कृत व उदात्त होनी चाहिए। कुबेरनाथ जी ने अपनी भाषिक संस्कृति को संस्कृति से जोड़ा तो ज़रूर पर उनकी तत्समता से उनकी भाषा थोड़ी जटिल हुई तो थोड़ी क्लिष्ट भी।

उदाहरण स्वरूप- 'मेरे बनैले आरण्यक मन को वनपर्व बड़ा ही अच्छा लगता था।' उसमें कुछ पेड़ों के नाम बार-बार आते थे, यथा: शमी, अर्जुन, खदिर, देवदारू, शाल और भूर्ज आदि।''[29]

बिंब- किसी भाव, विचार, वस्तु घटना आदि का इंद्रिय संवेद्य काल्पनिक शब्द-बद्ध संमूर्तन बिंब है। कुबरेनाथ राय जी की बिंब योजना की झलक-

'इस कजरीवन में यदि हरित कचनार फूटे, यदि वायु यहाँ की कच्ची उमर की हरियाली का मर्दन कर नशीली रति-गंध से भर उठे, सेमल और पलाश पर कामना का चटक लाल नशा छा जाये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।'[30]

प्रतीक- कुबेरनाथ राय जी की भाषा उनकी अभिव्यक्ति प्रतीक-बहुल और कभी तो प्रतीक-बोझिल भी हो जाती। उदाहरण ''हर एक साहित्यकार थोड़ा-बहुत संपाती होता है और प्राय: सभी तथ्यों की प्रखर ज्वाला में अपनी यूटोपिया के पंखों को झुलसा हुआ पाते हैं।''[31]

लोकोक्तियाँ- लोक-रस और लोक-रंग को लालित्य और सौन्दर्य समाहित किये रहती है।

कुबेरनाथ जी ने अपने निबन्ध संग्रहों में प्रस्तुत किये हैं- 'बाबा से कहा करते थे' लड़के की जड़ इतनी पुख्ता कर रहा हूँ कि सदैव फर्स्ट पास न हुआ तो गधे के पेशाब से मूँछें मुड़वा दूँगा, बाबू साहब। बाबा इसी पर खुश होकर दूध-दही की हाँडी भिजवा देते थे।[32]

सुक्तियाँ- रचनाकार के चिन्तन की उपज हैं। ललित निबन्ध में विचार अन्त: सलिला की तरह प्रवाह्मान रहता है।

कुबेरनाथ जी लिखते हैं- 'ईश्वर को अस्वीकृत करके मनुष्य ने बुद्धि को स्वामिनी और कामिनी बनाया।'[33]

कल्पना- 'कल्पना एक अदृश्य भावलोक की सृष्टि करती है और कुबेरनाथ राय अमृत-पुत्र की तरह बोले पड़ता है।'' जब प्राण और रस का सहचर मेरा चन्द्रमा पुण्य क्षीण होकर पांडुर वर्ण हो जाएगा, जब मरण-सूर्य का उदय मेरे सिरहाने होगा और उसके तेज की वर्षा से मेरे शीश का पुण्य अभिषेक होगा, जिससे मेरा समस्त कर्दम भस्म हो जाएगा, उस महान

क्षण में यही त्रिपुर-सुन्दरी 'मृत्यु-प्रिया' के रूप में मेरे सम्मुख आएगी।'[34]

शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल talat.du2015@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. लालित्य तत्व, कालिदास की लालित्य योजना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 1964
2. रस आखेटक, कुबेरनाथ राय, प्रकाशन- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1979, पृष्ठ 141
3. दृष्टि अभिसार, कुबेरनाथ राय, प्रकाशन- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1984, पृष्ठ 75
4. हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्व-विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, दशम् संस्करण-2015, पृष्ठ 90
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र तथा सह-सम्पादक डॉ. हरदयाल, प्रकाशक-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, चवालीसवां पुनर्मुद्रक: 2015, नई दिल्ली, पृष्ठ 699
6. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार, डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, प्रकाशक- विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ 396
7. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकण्ठी अंत में, पृष्ठ 127
8. हेमन्त की संध्या, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 10
9. वही, पृष्ठ 10
10. मधु माधव, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 18
11. सनातन नीम, पिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 24
12. मनियारा साँप, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 45
13. डूबता हुआ देवयान, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 39
14. आछी का पेड़, पैशाची, जरथुस्त्र और मैं, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 58
15. वही, पृष्ठ 53
16. अवरुद्ध त्रेता: प्रतीक्षारत धनुष, प्रिया नीलकंठी कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 65
17. वही, पृष्ठ 69
18. संपाती के बेटे, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 71
19. चण्डी-थान, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 82
20. निर्गुण नक्शे: सबुज-श्याम धरती, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 97
21. निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 111
22. वही, पृष्ठ 112
23. शमी वृक्ष पर लटकते शव, प्रिया नीलकण्ठी कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 118
24. वही, पृष्ठ 116
25. बहुरूपी, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 10
26. वही, पृष्ठ 129-130
27. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रकाशन- लोकभारती, बाइसवाँ संस्करण, पृष्ठ 255
28. भाषा विज्ञान कोश, भोलानाथ तिवारी, प्रकाशक- ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृष्ठ 698
29. शमी वृक्ष पर लटकते शव, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 87
30. निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 104
31. संपाती के बेटे, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 76
32. सनातन नीम, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 26
33. डूबता हुआ देवयान, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 39
34. चण्डी-थान, प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 73

प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता

रंजन कुमार पंडित* डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार ब्रजेश**

प्रभा खेतान ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री अस्मिता के वैचारिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों का विश्वलेषण किया है। इन्होंने उपन्यासों में आधुनिक, शिक्षित और आर्थिक आत्मसम्मान की जटिलताओं को संवेदनात्मक गहराई के साथ प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्य में स्त्री अस्मिता का प्रश्न केन्द्र में आया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी साहित्य में स्त्री-चेतना एक सशक्त आंदोलन के रूप में उभरी। इस काल में स्त्री ने स्वयं को केवल पारिवारिक भूमिकाओं तक सीमित मानने से इंकार किया और अपनी स्वतंत्र पहचान की खोज आरंभ की। प्रभा खेतान का उपन्यास इसी खोज का सजीव दस्तावेज है। वे स्वयं एक सफल व्यवसायी और चिंतक थीं। उनके लेखन में आत्मनिर्भर स्त्री की जटिल मानसिकता का यर्थाथ चित्रण मिलता है।

स्त्री अस्मिता की अवधारणा

स्त्री का स्वतंत्र पहचान, अस्तित्व और आत्मसम्मान ही ''स्त्री अस्मिता'' का अर्थ है। भारतीय समाज में स्त्री की पहचान परंपरागत रूप से पुरुष-केन्द्रित रही है। भारतीय समाज में लंबे समय तक स्त्री को पुरुष के अधीन माना गया। उसकी पहचान पिता, पति या पुत्र के नाम से जुड़ी रही। स्त्री अस्मिता का प्रश्न तब उठता है, जब स्त्री अपने अस्मिता को पुरुष से अलग पहचान दिलाने का प्रयास करती है। वह केवल 'किसी की पत्नी', 'किसी की पुत्री' या 'किसी की माँ' नहीं रहना चाहती, बल्कि स्वयं एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में स्वीकार की जानी चाहती है। स्त्री अस्मिता का मुख्य उद्देश्य इसी संरचना को चुनौती देना है।

'सिमान द बोउवार' ने कहा था - '' स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है।'' यह कथन पितृसत्तात्मक संरचना की ओर संकेत करता है। हिन्दी साहित्य में यह चेतना धीरे-धीरे विकसित हुई और प्रभा खेतान के उपन्यासों में परिपक्व रूप से दिखाई देती है।

प्रभा खेतान का साहित्यिक परिचय

प्रभा खेतान का जन्म 1942 ई. में हुआ और वे एक सफल व्यवसायी होने के साथ-साथ संवेदनशील लेखिका भी थीं। उन्होंने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को अपने साहित्य का विषय बनाया। उनके प्रमुख उपन्यासों में -

- ⋆ छिन्नमस्ता
- ⋆ पीली आँधी
- ⋆ आओ पेपे घर चलें

आदि उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों में उन्होंने आधुनिक, शिक्षित, आर्थिक रूप से सक्षम स्त्री की भी आंतरिक पीड़ा और सामाजिक बंधनों को उजागर किया है।

''छिन्नमस्ता'' में स्त्री अस्मिता

छिन्नमस्ता प्रभा खेतान का अत्यंत चर्चित उपन्यास है। इसमें नायिका के जीवन के माध्यम से स्त्री के भावनात्मक सामाजिक और मानसिक संघर्ष को चित्रित किया गया है।

आत्मसंघर्ष - उपन्यास की नायिका शिक्षित और आत्मनिर्भर है, लेकिन उसके निजी जीवन में उसे प्रेम और सम्मान नहीं मिलता। वह एक ऐसे पुरुष से प्रेम करती है, जो

उसे सामाजिक मान्यता नहीं देता। यहाँ स्त्री की स्थिति 'दूसरी स्त्री' के रूप में दिखाई गई है।

नायिका का संघर्ष केवल प्रेम पाने का नहीं बल्कि अपनी गरिमा बनाए रखने का है। वह समझती है कि केवल प्रेम के सहारे जीवन नहीं चल सकता, आत्मसम्मान भी उतना ही आवश्यक है।

देह और मन का द्वंद्व – इस उपन्यास में स्त्री द्वारा देह को लेकर समाज की सोच पर भी प्रश्न उठाया गया है। स्त्री को अक्सर उसकी देह तक सीमित कर दिया जाता है। लेकिन प्रभा खेतान दिखाती हैं कि स्त्री केवल शरीर नहीं, बल्कि संवेदनशील मन और विचारों से भरी हुई व्यक्तित्व है।

नायिका अपने संबंधों में भावनात्मक सुरक्षा चाहती है। जब उसे यह नहीं मिलता, तो वह अपने आत्मसम्मान के लिए स्वयं निर्णय लेती है। यही निर्णय उसकी अस्मिता की घोषणा है।

'पीली आँधी' में स्त्री अस्मिता

'पीली आँधी' में प्रभा खेतान के द्वारा स्त्री के सामाजिक और पारिवारिक संघर्षों को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में नायिका पारंपरिक परिवार में रहते हुए भी अपने विचारों और इच्छाओं को महत्व देती है।

पितृसत्तात्मक समाज का दबाव – भारतीय समाज में पितृसत्ता गहराई से जमी हुई है। स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह परिवार की मर्यादा बनाए रखे, चाहे उसकी अपनी इच्छाएँ क्यों न कुचल जाएँ।

उपन्यास की नायिका इन अपेक्षाओं से जूझती है। वह अपने जीवन के फैसले स्वयं लेना चाहती है।

आर्थिक स्वतंत्रा और अस्मिता – प्रभा खेतान स्वयं एक सफल व्यवसायी थीं। इसलिए उनके लेखन में आर्थिक स्वतंत्र का महत्व बार-बार दिखाई देता है। वे मानती हैं कि जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं होगी, तब तक उसकी अस्मिता अधूरी रहेगी।

'पीली आँधी' में नायिका का आत्मविश्वास उसकी शिक्षा और आर्थिक स्थिति से जुड़ा है। वह समझती है कि आत्मनिर्भरता ही सम्मान का आधार है।

'आओ पेपे घर चलें' में स्त्री अस्मिता

यह उपन्यास आधुनिक शहरी जीवन की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। इसमें स्त्री के अकेलेपन और भावनात्मक रिक्तता को चित्रित किया गया है।

आधुनिकता और विघटन – आधुनिकता जीवन में बाहरी चमक-दमक हैं, लेकिन भीतर से व्यक्ति अकेला है। नायिका के पास सुविधाएँ है, लेकिन भावनात्मक संतोष नहीं।

यहाँ स्त्री अस्मिता का प्रश्न भावनात्मक स्तर पर उठता है। वह केवल आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना ही पर्याप्त नहीं मानती, बल्कि अपने भीतर की शांति और संतोष भी चाहती है।

आत्मस्वीकृति – स्वयं को स्वीकार करना ही उपन्सास का मुख्य संदेश है। जब स्त्री अपनी कमियों और खूबियों को स्वीकार कर लेती है, तभी पूर्णता की ओर बढ़ती है। यह आत्मस्वीकृति ही अस्मिता की पहली सीढ़ी है।

प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता के प्रमुख आयाम

आत्मनिर्भरता – उनकी नायिकाएँ शिक्षित और आत्मनिर्भर हैं। वे परिस्थितियों से समझौता तो करती हैं, लेकिन अपनी पहचान नहीं खोती।

प्रेम और आत्मसम्मान – उनके उपन्यासों में प्रेम का महत्व है, लेकिन आत्मसम्मान उससे भी बड़ा है। यहाँ नायिका प्रेम के लिए स्वयं को पूरी तरह समाप्त नहीं करती है।

सामाजिक बंधनों से संघर्ष – पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाएँ स्त्री को बाँधती हैं। लेकिन प्रभा खेतान की नायिकाएँ इन बंधनों पर प्रश्न उठाती है।

मनोवैज्ञानिक गहराई – उनके लेखन में स्त्री के मन की गहरी पड़ताल है। वे स्त्री के भीतर चल रहे द्वंद्व को सूक्ष्मता से प्रस्तुत करती है।

देह की मुक्ति – वे स्त्री की देह को पाप या लज्जा का विषय नहीं मानतीं। स्त्री की कामनाएँ भी स्वाभाविक हैं। इस दृष्टि से उनका लेखन साहिसिक है।

भाषा और शैली

प्रभा खेतान की भाषा सरल, संवेदनशील और प्रभावशाली है। वे जटिल भावनाओं को भी सहज शब्दों में व्यक्त करती है। उनके उपन्यासों में संवाद शौली का प्रयोग अधिक है, जिससे पात्र जीवंत हो उठते हैं।

स्त्री अस्मिता के प्रश्न को उठाने में प्रभा खेतान की विशेषता यह है कि उन्होंने उच्चवर्गीय और शिक्षित स्त्री की आतंरिक पीड़ा को प्रमुखता दी है।

निष्कर्ष

प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता केन्द्रीय विषय है। उनकी नायिकाएँ परंपरा और आधुनिकता के बीच झूलती

हुई दिखाई देती है। वे प्रेम करती हैं, टूटती हैं, संघर्ष करती हैं, लेकिन अंततः अपने आत्मसम्मान को प्राथमिकता देती है।

उनके उपन्यासों में स्त्री को स्वयं अपनी पहचान बनाने का संदेश दिया गया है। समाज से मान्यता मिलना आवश्यक है, लेकिन उससे भी अधिक जरूरी है आत्मस्वीकृति और आत्मसम्मान।

प्रभा खेतान ने अपने लेखन के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि स्त्री कोई वस्तु नहीं, बल्कि संवेदनशील, विचारशील और स्वतंत्र व्यक्तित्व है। उनके उपन्यास आज भी स्त्री अस्मिता की खोज में मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार प्रभा खेतान का उपन्यास स्त्री अस्मिता की महत्वपूर्ण धरोहर है, जो आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करता रहेगा।

***पी-एच.डी., शोधार्थी**
मानवीकी संकाय हिन्दी
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर
****शोध निर्देशक**
सहायक प्राध्यापक
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
कार्यानन्द शर्मा स्मारक महाविद्यालय
लखीसराय-811311

सन्दर्भ सूची

- प्रभा खेतान। छिन्नमस्ता, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
- प्रभा खेतान। पीली आँधी, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
- प्रभा खेतान। आओ पेपे घर चलें, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
- सिमोन द बोउवार। द सेकंड सेक्स।
- नामवर सिंह। आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृतियाँ।
- रामविलास शर्मा। भारतीय साहित्य और संस्कृति।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी। हिन्दी साहित्य की भूमिका।
- अन्य ऑनलाइन स्त्रोतः प्रभा खेतान के योगदान पर लेख।

शोध-पत्र

शिखा मिश्रा

फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य में वर्णित मिथिला की लोक-परम्पराएँ : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के इतिहास में फणीश्वरनाथ रेणु का आगमन एक युगांतरकारी घटना के रूप में देखा जाता है। रेणु ने साहित्य के केंद्र को नगरों के सुसंस्कृत ड्राइंग-रूमों से निकालकर सुदूर ग्रामीण अंचलों की धूल, कीचड़, लोक-गीतों और आदिम संवेदनाओं के बीच ला खड़ा किया है। उनका कथा-साहित्य केवल कहानियों का संग्रह नहीं है, बल्कि वह मिथिला और पूर्णिया के अंचल का एक जीवंत सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय दस्तावेज है। इस शोध पत्र का मुख्य केंद्र रेणु के साहित्य में रची-बसी मिथिला की वे लोक-परंपराएँ हैं, जो वहाँ के जनजीवन का अनिवार्य हिस्सा रही हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु (4 मार्च, 1921-11 अप्रैल, 1977) आधुनिक हिंदी साहित्य के एक कालजयी कथाकार और 'आंचलिक उपन्यास' की अवधारणा के जन्मदाता थे। उनकी लेखन शैली की सबसे बड़ी विशेषता 'आंचलिकता' है, जहाँ अंचल स्वयं एक जीवंत चरित्र की तरह उभरता है। उनकी प्रमुख कृतियों में 'परती परिकथा', 'जुलूस' (उपन्यास) तथा 'तीसरी कसम', 'रसप्रिया' और 'ठेस' (कहानियाँ) अत्यंत लोकप्रिय हैं। रेणु ने अपनी रचनाओं में लोक-गीतों, लोक-भाषा और ग्रामीण मुहावरों का ऐसा सजीव प्रयोग किया कि पाठक को उस माटी की सोंधी सुगंध का अनुभव होता है। उन्होंने शोषितों और वंचितों की पीड़ा को स्वर दिया और मानवीय संवेदनाओं को एक नया धरातल प्रदान किया।

रेणु के साहित्य में वर्णित लोक-परंपराओं का फलक अत्यंत विस्तृत है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से, लोक-परंपराएँ किसी भी समाज की 'सामूहिक चेतना' का प्रतिबिंब होती हैं। मिथिला, जो अपनी दार्शनिक प्रखरता और सांस्कृतिक सुदृढ़ता के लिए विख्यात है, रेणु के यहाँ एक भौगोलिक खंड मात्र नहीं, बल्कि एक 'चरित्र' के रूप में उभरती है। रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' जैसे कालजयी उपन्यासों तथा 'रसप्रिया' एवं 'ठेस' जैसी कहानियों में मिथिला की उन परंपराओं को उकेरा है, जो आधुनिकता की आंधी के बावजूद ग्रामीण जीवन की धड़कन बनी हुई थीं।

रेणु के साहित्य में वर्णित लोक-परंपराओं का फलक अत्यंत विस्तृत है। इसमें जहाँ एक ओर 'सामा-चकेवा', 'मधुश्रावणी' और 'कोहबर' जैसे उत्सवों और संस्कारों का वर्णन है, वहीं दूसरी ओर विद्यापति के पद, 'बारामासा' और 'जट-जटिन' जैसे लोक-नृत्यों की गूँज है। एक समाजशास्त्रीय अध्येता के लिए ये परंपराएँ महज मनोरंजन के साधन नहीं हैं, बल्कि ये जातिगत संरचना, जेंडर संबंधों और आर्थिक वर्ग-भेद को समझने की चाबी हैं। रेणु ने बड़ी सूक्ष्मता से दिखाया है कि कैसे मिथिला की लोक-संस्कृति में सामंती मूल्यों और ग्रामीण सरलता का द्वंद्व चलता रहता है।

इस शोध का उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि रेणु ने मिथिला की इन लोक-परंपराओं का उपयोग केवल 'स्थानीय रंग' भरने के लिए नहीं किया, बल्कि उन्होंने इनके माध्यम से उस अंचल के सामाजिक यथार्थ, अंतर्विरोधों और मानवीय जिजीविषा को स्वर दिया है। रेणु का आंचलिक बोध दरअसल एक गहरा समाजशास्त्रीय बोध है, जो यह परखता है कि कैसे परंपराएँ व्यक्ति के व्यवहार और सामाजिक संबंधों को संचालित करती हैं।

महत्वपूर्ण शब्द : फणीश्वरनाथ रेणु, कथा साहित्य,

लोक-परम्परा, मिथिला, समाजशास्त्र

फणीश्वरनाथ रेणु की आंचलिकता

फणीश्वरनाथ रेणु की आंचलिकता हिंदी साहित्य के इतिहास में एक ऐसी क्रांतिकारी परिघटना है, जिसने कथा-साहित्य की पारंपरिक सीमाओं को तोड़कर उसे एक नई ऊँचाई और मौलिकता प्रदान की। रेणु की आंचलिकता का अर्थ केवल किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र का चित्रण मात्र नहीं है, बल्कि उस अंचल की समग्रता उसकी धूल, कीचड़, लोक-गीत, अंधविश्वास, जातिगत वैमनस्य, और वहाँ के मनुष्य की आदिम जिजीविषा को शब्दों में बांधना है। 'मैला आँचल' के माध्यम से उन्होंने जिस पूर्णिया और मिथिला के सीमावर्ती क्षेत्रों को केंद्र में रखा, वह केवल एक पृष्ठभूमि नहीं बल्कि स्वयं एक जीवंत 'चरित्र' बनकर उभरता है। रेणु ने 'अंचल' को उसकी समस्त कुरूपता और सुंदरता के साथ स्वीकारा; उन्होंने वहाँ के शोषितों के आँसुओं को भी स्वर दिया और उनकी लोक-धुनों की मिठास को भी। उनकी आंचलिकता में एक ऐसा 'जादुई यथार्थवाद' झलकता है, जहाँ लोक-कथाएँ और आधुनिक राजनीति एक ही धरातल पर आकर मिलती हैं। वे गाँव के बाहरी ढांचे के बजाय उसकी 'आंतरिक लय' (Inner Rhythm) को पकड़ते हैं, जहाँ लोक-भाषा की गूँज और मुहावरों की खनक पाठक को सीधे उस माटी की सोंधी खुशबू से जोड़ देती है। रेणु की दृष्टि में अंचल केवल पिछड़ापन नहीं है, बल्कि वह मानवीय संवेदनाओं का वह उर्वर क्षेत्र है जहाँ प्रेम, ईर्ष्या, संघर्ष और करुणा अपने नग्न और शुद्ध रूप में विद्यमान रहते हैं।

दूसरे व्यापक परिप्रेक्ष्य में, रेणु की आंचलिकता का समाजशास्त्रीय और भाषाई महत्व अतुलनीय है। उन्होंने हिंदी की खड़ी बोली को मिथिला और अंगिका के शब्दों, लोक-धुनों और गालियों से सींचकर एक ऐसी 'नूतन गद्य शैली' विकसित की, जो बनावटीपन से कोसों दूर है। उनकी आंचलिकता में 'लोक' (Folk) और 'शास्त्र' (Classical) का अनूठा संगम है; जहाँ एक ओर विद्यापति के पदों की सांस्कृतिक विरासत है, तो दूसरी ओर 'खैनी' की चुटकी और 'बथान' की गपशप का यथार्थ। रेणु ने दिखाया कि एक अंचल के भीतर ही कैसे अलग-अलग 'टोले' और जातियाँ अपनी विशिष्ट पहचान और परंपराओं के साथ अस्तित्व बनाए रखती हैं। उनकी रचनाओं में अंचल की स्वायत्तता इतनी प्रबल है कि वह राष्ट्रीय राजनीति (जैसे स्वतंत्रता संग्राम या जमींदारी उन्मूलन) को भी अपने स्थानीय चश्मे से देखती है। बावनदास और कालीचरण जैसे पात्र इसी आंचलिक चेतना की उपज हैं, जो वैश्विक विचारधाराओं को अपने ग्रामीण परिवेश में ढालने की कोशिश करते हैं। रेणु की आंचलिकता दरअसल मनुष्य की जड़ों की तलाश है; यह उस आदिम मनुष्य का जयगान है जो अभावों और विसंगतियों के बीच भी ढोलक की थाप पर थिरकना और 'बिरहा' गाना नहीं छोड़ता। इस प्रकार, रेणु ने आंचलिकता को एक संकीर्ण दायरे से निकालकर उसे 'वैश्विक बोध' का हिस्सा बना दिया, जिससे उनकी कहानियाँ और उपन्यास आज भी हर उस व्यक्ति को अपनी ओर खींचते हैं जो अपनी मिट्टी से जुड़ा होना चाहता है।

मुख्य विषयवस्तु का विस्तृत प्रतिपादन

फणीश्वर नाथ रेणु के साहित्य में मिथिला की सामाजिक संरचना

फणीश्वर नाथ रेणु का साहित्य मिथिलांचल की सामाजिक संरचना को केवल अभावों में नहीं, बल्कि वहाँ की अदम्य जिजीविषा और सांस्कृतिक उल्लास के संगम के रूप में देखता है। उनके आंचलिक जगत में समाज का ताना-बाना लोक-कलाओं, गीतों, और पारंपरिक उत्सवों से बुना गया है, जहाँ विपन्नता के बीच भी सामूहिक सहभागिता का अनूठा सौंदर्य झलकता है। रेणु ने दिखाया है कि यहाँ का जनमानस प्रकृति के साथ गहरे आत्मीय संबंधों में बँधा है, जहाँ मिट्टी की सोंधी महक और कोसी-कमला जैसी नदियों का प्रवाह जीवन की धड़कन है। उनकी रचनाओं में सामाजिक संरचना का सकारात्मक पक्ष आपसी मेल-जोल, सामूहिक श्रम, और कठिन परिस्थितियों में भी एक-दूसरे का संबल बनने वाली मानवीय संवेदनाओं में निहित है, जो इस अंचल को एक विशिष्ट और जीवंत पहचान प्रदान करता है। रेणु के साहित्य में मिथिला का 'टोला-विभाजन' इसी सामाजिक संरचना का अंग है। 'मैला आँचल' में मेरीगंज गाँव का विवरण रेणु इसप्रकार देते हैं—

''अब गाँव में तीन प्रमुख दल है कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति है। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हुए है।''[1]

'परती परिकथा' में जातियों के द्वंद्व को रेणु बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं। लुत्तो जो खबास जाति से है। मुंशी जलधारीलाल की जातिगत वर्णन पर नाराज हो जाता है। लुत्तो कहता है—

''हुजूर, जाति की बात लेकर बात बढ़ी तो बात बिगड़ जायेगी। समझा दीजिए मुंशी जलधारीलाल को। कायस्थों के बारे में मैं भी बहुत कटहा बात कह सकता हूँ।''[2]

रेणु दिखाते हैं कि कैसे राजनीति ने इन जातिगत परंपराओं को अब 'वोट बैंक' की नई परंपरा में बदल दिया है।

''जाति की बात ऐसी है कि सभी बड़े-बड़े लीडर अपनी-अपनी जाति की पाटी में हैं।-यह तो राजनीति है!''[3]

इस प्रकार रेणु के साहित्य में मिथिला में व्याप्त जातिगत विभाजन एवं उनके बीच के द्वन्द को स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। यह भौगोलिक संरचना लोक-परंपराओं को भी प्रभावित करती है। जब गाँव में 'विद्यापति-पर्व' मनाया जाता है, तो उच्च जातियों के लोग पंडाल में आगे बैठते हैं, जबकि अन्य जातियाँ परिधि पर होती हैं। यहाँ लोक-परंपरा सामाजिक मर्यादा और ऊँच-नीच के सोपानक्रम को बनाए रखने का माध्यम बनती है।

मिथिला की लोक-परम्पराओं का परिचय

मिथिला की लोक-परम्पराएँ सदियों के सांस्कृतिक संचयन का परिणाम हैं। यहाँ का जनजीवन उत्सवधर्मी है, जहाँ प्रत्येक ऋतु, कृषि-चक्र और मानवीय संबंधों के लिए विशिष्ट अनुष्ठान निर्धारित हैं। फणीश्वरनाथ रेणु ने इन परम्पराओं को केवल पृष्ठभूमि के रूप में नहीं, बल्कि कथा के प्राण-तत्व के रूप में प्रयोग किया है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्सव

सामा-चकेवा (भाई-बहन के प्रेम का उत्सव) :

यह मिथिला का अत्यंत लोकप्रिय लोक-पर्व है, जो कार्तिक मास में मनाया जाता है। यह भाई-बहन के पवित्र प्रेम और पर्यावरण के प्रति जुड़ाव का प्रतीक है। रेणु के कथा-साहित्य में इस पर्व की गूँज सुनाई देती है, जहाँ ग्रामीण युवतियाँ मिट्टी की मूर्तियाँ बनाकर लोक-गीत गाती हैं। 'मैला आँचल' में रेणु इस परिवेश को जीवंत करते हुए लिखते हैं :

''कार्तिक की चाँदनी रात में सामा-चकेवा के गीतों से सारा गाँव गूँज उठता है

''गोड़ तोरा लागों भइया, परवारनसिंध सिपैहिया-या
कि पैयाँ पड़ो ना!
काहे शामा मोर छिपावला
कि छोड़े देहु ना, मोरा शामों रे चकेवा राम,
खोलि देह ना!''[4]

इसमें बेटियाँ अपने भाइयों के दीर्घायु होने की कामना करती हैं।

मधुश्रावणी :

यह नवविवाहिताओं का पर्व है, जिसमें शिव-पार्वती की कथाओं के माध्यम से दाम्पत्य जीवन की शिक्षा दी जाती है। यह पर्व मिथिला की स्त्रियों की सांस्कृतिक स्वायत्तता का परिचायक है। रेणु ने अपनी रचनाओं में 'मधुश्रावणी' के कठिन व्रतों और उसके समाजशास्त्रीय महत्व को दर्शाया है, जहाँ प्रकृति (नाग-पूजा) और मनुष्य का संबंध अटूट दिखता है।

मिथिला चित्रकला (मधुबनी पेंटिंग) एवं कोहबर :

मिथिला की स्त्रियाँ दीवारों और आँगन (अरिपन) पर जो आकृतियाँ बनाती हैं, वे केवल चित्र नहीं, बल्कि तांत्रिक प्रतीकों और लोक-विश्वासों का मिश्रण हैं। 'कोहबर' विवाह के समय का वह कक्ष है जहाँ वंश-वृद्धि और प्रेम के प्रतीक चित्रित किए जाते हैं। 'परती परिकथा' में रेणु ने इन चित्रों की सूक्ष्मता का वर्णन किया है :

''दीवारों पर लिखे हुए कोहबर के चित्रों में नैना-जोगिन और बांस के झुरमुट जैसे स्त्री-पुरुष के मिलन और सृजन के आदिम संकेत छिपे हैं।''[5]

सीकी और शीतलपाटी शिल्प :

मिथिला में घास (सीकी) से कलात्मक वस्तुएँ बनाना एक प्राचीन लोक-परम्परा है। यह शिल्पकार की दक्षता और उसके सामाजिक सम्मान से जुड़ा है। 'ठेस' कहानी में 'सिरचन' के हुनर का वर्णन करते हुए रेणु लिखते हैं :

''मोती की झालर वाली सीकी की तीलियों की झेंपी, शीतलपाटी और चिक... सिरचन की उँगलियाँ जब घास के साथ खेलती थीं, तो लगता था जैसे कोई जादूगर अपनी कला बिखेर रहा हो।''[6]

विद्यापति के पद और रसप्रिया :

मिथिला की हवाओं में महाकवि विद्यापति के पद रचे-बसे हैं। यहाँ का लोक-संगीत श्राग और फागश का सम्मिश्रण है। 'रसप्रिया' कहानी में 'मृदंगिया' के माध्यम से लोक-संगीत की शक्ति का वर्णन मिलता है :

''विद्यापति के पदों की वह तान—'कुसुमित कानन हेरि कमलमुखी...' जब मृदंग की थाप पर छिड़ती है, तो समय ठहर जाता है। यह केवल गीत नहीं, मिथिला की आत्मा का क्रंदन और आनंद है।''[7]

जट-जटिन और झिझिया :

ये लोक-नृत्य सामूहिक उल्लास और सामाजिक व्यंग्य

के माध्यम से समाज की विसंगतियों पर चोट करते हैं। जट-जटिन में गृहस्थ जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों का नाट्य रूपांतरण होता है। 'मैला आँचल' में जट-जटिन के खेल का प्रसंग ग्रामीण उल्लास को दर्शाता है :

''ततमाटोला, पासवानटोला, धानुक-कुर्मीटोला तथा कोयरीटोला की औरतें हर साल ऐसे समय में इंद्र महाराज को रिझाने के लिए, बादल को सरसाने के लिए, 'जाट-जटिन' खेलती हैं।''[8]

''रात भर जट-जटिन का खेल होता रहा। हँसी-ठिठोली और गीतों के बीच कब भोर हो गई, किसी को पता ही नहीं चला।''[9]

लोक-विश्वास और पौराणिक मान्यताएँ

मिथिला का लोक-जीवन तंत्र और मंत्र से भी प्रभावित है। यहाँ 'विषहरी' (सर्प देवी) की पूजा और 'डीहवार' (गाँव के रक्षक) की मान्यता अत्यंत गहरी है। रेणु ने दिखाया है कि कैसे विज्ञान के इस युग में भी ग्रामीण मानस अपनी समस्याओं के समाधान हेतु इन लोक-शक्तियों की ओर मुड़ता है। यह समाजशास्त्रीय जड़ता और सुरक्षा-बोध का एक मिला-जुला रूप है।

मिथिला की ये लोक-परम्पराएँ रेणु के साहित्य को एक विशेष 'आंचलिक पहचान' प्रदान करती हैं। ये सिद्ध करती हैं कि मनुष्य भले ही गरीबी और अभावों में जी रहा हो, लेकिन उसकी सांस्कृतिक विरासत उसे टूटने नहीं देती।

मिथिला की लोक परम्परा को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

वर्ग एवं जाति-व्यवस्था का प्रभाव

समाजशास्त्री की 'प्रभु-जाति' (Dominant Caste) की अवधारणा[10] रेणु के साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। मिथिला की लोक-परंपराओं पर सत्ताधारी वर्ग का नियंत्रण रहा है।'' यह वर्ग-चेतना लोक-गीतों में भी झलकती है। पिछड़ी जातियों के गीतों में जहाँ विद्रोह और श्रम की खुशबू है, वहीं प्रभु-जातियों की परंपराओं में 'शुद्धतावाद' (Puritanism) और प्रदर्शन की प्रधानता है। रेणु दिखाते हैं कि कैसे राजनीति ने इन जातिगत परंपराओं को अब 'वोट बैंक' की नई परंपरा में बदल दिया है।

लोक-विश्वास, धर्म और जादुई चेतना (Sociology of Religion and Beliefs)

मिथिला का समाज जितना दार्शनिक है, उतना ही लोक-विश्वासों और 'टोटकों' में डूबा हुआ है। समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास के 'संस्कृतिकरण' के विपरीत यहाँ 'वि-संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया भी दिखती है, जहाँ उच्च जातियाँ भी लोक-देवताओं की शरण में जाती हैं। 'मैला आँचल' में कालीथान का प्रसंग और महामारी के समय लोक-मानस की स्थिति का वर्णन देखिए :

''मुरला की माँ कहती है देवी माई का कोप है। अचका-अचकी सगरो गाँव में हैजा फैल गया। बाभन टोला में भी कोनो जंतर-मंतर काम नहीं दे रहा।''[11]

यहाँ विज्ञान (डॉ. प्रशांत) और अंधविश्वास (गाँव की परंपरा) के बीच का समाजशास्त्रीय संघर्ष स्पष्ट है। लोक-परंपरा में 'डीहवार' (गाँव के रक्षक देवता) की पूजा केवल धार्मिक कृत्य नहीं, बल्कि सामूहिक सुरक्षा की एक 'मनोवैज्ञानिक ढाल' है।

लैंगिक संबंध एवं स्त्री की स्थिति

मिथिला का समाजशास्त्रीय अध्ययन तब तक अधूरा है जब तक 'कुल-स्त्री' और 'लोक-स्त्री' के बीच के भेद को न समझा जाए। रेणु के साहित्य में स्त्रियाँ लोक-संस्कृति की संरक्षक भी हैं और उसकी शिकार भी। 'परती परिकथा' में इरावती और मल्लिका के माध्यम से रेणु स्त्री-अस्तित्व के द्वंद्व को दिखाते हैं। मिथिला की 'मधुश्रावणी' जैसी परंपराएँ स्त्रियों के लिए कठिन व्रत हैं, जो पति की दीर्घायु के लिए हैं, लेकिन क्या समाज स्त्रियों की स्वायत्तता का सम्मान करता है?

स्त्रियों के गीत केवल राग-रागिनियाँ नहीं हैं, वे उनके हृदय की वह आग हैं जो समाज की वर्जनाओं के कारण बाहर नहीं आ पाती। रेणु ने कोहबर की चित्रकारी को 'स्त्री की भाषा' माना है। समाजशास्त्र की दृष्टि से यह 'डोमेस्टिक स्पेस' में स्त्री की रचनात्मक विजय का प्रतीक है।

आर्थिक परिस्थितियाँ और लोक-संस्कृति

रेणु ने अपनी कहानियों में उन लोक-कलाकारों की व्यथा को स्वर दिया है, जो बदलती सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में हाशिए पर चले गए हैं। संस्कृति का आर्थिक आधार (Economic Base) ही उसकी आयु तय करता है। रेणु ने दिखाया है कि जब आर्थिक संकट आता है, तो लोक-परंपराएँ या तो दम तोड़ देती हैं या उनका स्वरूप विकृत हो जाता है। 'ठेस' कहानी का 'सिरचन' इसका सबसे सशक्त उदाहरण है। वह एक 'शिल्पकार' से 'बेगार' बनकर रह जाता है :

''खेती-बारी के समय उसे कोई नहीं पूछता... सिरचन को लोग 'चटोर' भी कहते हैं। लेकिन वह कलाकार है, उसकी उँगलियों में जादू है।''[12]

यह समाजशास्त्रीय सत्य है कि जैसे-जैसे समाज 'उपभोक्तावादी' होता गया, पारंपरिक कलाकारों (सीकी और शीतलपाटी बनाने वाले) की सामाजिक प्रतिष्ठा घटती गई। रेणु यहाँ 'श्रम के विभाजन' और 'कला के अवमूल्यन' के संकट को चित्रित करते हैं।

''सिरचन को लोग चटोर समझते हैं, क्योंकि वह मजदूरी में पैसे नहीं, बल्कि चूड़ा-गुड़ और आदर मांगता है। जब आदर मिलना बंद हो गया, तो उसने शीतलपाटी बुनना भी छोड़ दिया।''[13]

यह लोक-कला का 'सर्वहाराकरण' (Proletarianization) है। जब समाज कलाकार की आर्थिक सुरक्षा नहीं कर पाता, तो परंपराएँ 'संग्रहालय की वस्तु' बनकर रह जाती हैं। रेणु ने दिखाया कि कैसे गरीबी ने मिथिला के समृद्ध लोक-संगीत को 'भिखारियों के गान' में बदल दिया है।

सामाजिक परिवर्तन और परम्पराओं का रूपांतरण

रेणु का साहित्य स्वतंत्रता के बाद के भारतीय गाँवों का 'डॉक्यूमेंटेशन' है। समाजशास्त्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया जैसे नगरीकरण और राजनीतिक चेतना लोक-परंपराओं को रूपांतरित कर रही है। 'मैला आँचल' के अंत तक आते-आते गाँव का 'कालीथान' राजनीतिक सभाओं का अड्डा बन जाती है। लोक-चेतना अब 'मिथकीय' से हटकर 'राजनैतिक' हो रही है। गाँव का मिजाज बदल रहा है। अब लोग संक्रांति के गीतों से ज्यादा इलेक्शन के नारों में दिलचस्पी लेने लगे हैं।

यह 'परंपरा का आधुनिकता में विलीनीकरण' है। रेणु इसे बड़े दुख के साथ दर्ज करते हैं कि जहाँ ढोलक की थाप गूँजती थी, वहाँ अब लाउडस्पीकर का शोर है। यह रूपांतरण समाज की नई दिशा को दर्शाता है, जहाँ पुरानी लोक-परंपराएँ अब केवल प्रतीकात्मक (Symbolic) बनकर रह गई हैं।

लोक-संगीत और सामूहिक विरेचन (Collective Catharsis)

रेणु के कथा-साहित्य में संगीत पृष्ठभूमि संगीत नहीं है, बल्कि वह कथा का 'नैरेटर' (सूत्रधार) है। विद्यापति के पद मिथिला की आत्मा हैं। 'रसप्रिया' कहानी में 'मृदंगिया' के माध्यम से रेणु एक कलाकार के अतीत और लोक-धुनों के प्रति उसके समर्पण को दिखाते हैं :

''विद्यापति के पदों को जब मृदंगिया गाता है, तो पूरा गाँव मंत्रमुग्ध हो जाता है। रसप्रिया की तान पर पत्थर भी पिघल सकते हैं।''[14]

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, ये लोक-गीत सामूहिक एकता (Social Cohesion) का काम करते हैं। जब गाँव के लोग एक साथ बैठकर 'कीर्तन' या 'होली' गाते हैं, तो वे अपनी दरिद्रता और दुखों को कुछ समय के लिए भूल जाते हैं।

निष्कर्ष

फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य का समाजशास्त्रीय अनुशीलन यह स्पष्ट करता है कि मिथिला की लोक-परंपराएँ उनके लेखन में केवल सजावटी तत्व या 'स्थानीय रंग' भरने के साधन नहीं हैं, बल्कि वे उस अंचल की सामाजिक संरचना और सामूहिक चेतना का आधार स्तंभ हैं। रेणु ने बड़ी आत्मीयता और सूक्ष्मता से यह उद्घाटित किया है कि मिथिला का समाज अपनी परंपराओं, लोक-गीतों, पर्व-त्योहारों और लोक-कलाओं के माध्यम से ही अपनी पहचान को सुरक्षित रखता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से, ये परंपराएँ जहाँ एक ओर ग्रामीण समुदाय में 'एकता' और 'सांस्कृतिक निरंतरता' बनाए रखती हैं, वहीं दूसरी ओर ये जातिगत ऊँच-नीच और पितृसत्तात्मक जकड़न जैसे अंतर्विरोधों को भी प्रतिबिंबित करती हैं। रेणु के पात्र चाहे वह 'मैला आँचल' का बावनदास हो, 'ठेस' का सिरचन हो या 'रसप्रिया' का मृदंगिया सभी अपनी लोक-संस्कृति के जीवंत संवाहक हैं। रेणु ने यह सिद्ध किया कि एक आंचलिक समाज की धड़कन को समझने के लिए उसकी उन 'अलिखित' परंपराओं को समझना अनिवार्य है, जो सदियों से मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती आ रही हैं। उनका साहित्य इस सत्य को रेखांकित करता है कि लोक-परंपराएँ मनुष्य की आदिम जिजीविषा और प्रकृति के साथ उसके गहरे जुड़ाव का प्रमाण हैं, जो किसी भी बाहरी राजनीतिक या सामाजिक परिवर्तन के बावजूद अपनी मौलिकता को बचाए रखने का प्रयास करती हैं।

दूसरे परिप्रेक्ष्य में, रेणु की आंचलिक दृष्टि और मिथिला की लोक-परंपराओं का अध्ययन वर्तमान समय में और भी प्रासंगिक हो जाता है, जब वैश्वीकरण और मशीनीकरण के कारण लोक-संस्कृति का विलोपन हो रहा है। रेणु ने अपने साहित्य में परंपरा और आधुनिकता के बीच के उस 'संधिकाल' को पकड़ा है, जहाँ पुरानी मान्यताएँ टूट रही थीं और नई व्यवस्थाएँ अपनी जगह बना रही थीं। उनके कथा-साहित्य में

वर्णित 'विद्यापति के पद', 'कोहबर की चित्रकारी' और 'जट-जटिन के खेल' केवल मनोरंजन की वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक विशेष समाज के 'मनोवैज्ञानिक विरेचन' (Catharsis) के माध्यम हैं। समाजशास्त्रीय निष्कर्ष यह निकलता है कि रेणु ने 'लोक' को 'शास्त्र' के समानांतर खड़ा किया और यह दिखाया कि एक उपेक्षित और धूल-धूसरित अंचल की अपनी एक समृद्ध बौद्धिक और कलात्मक विरासत होती है। उनकी रचनाएँ यह चेतावनी भी देती हैं कि यदि विकास की प्रक्रिया में इन लोक-मूल्यों और पारंपरिक शिल्पों (जैसे सिरचन की शीतलपाटी) का संरक्षण नहीं किया गया, तो समाज अपनी 'सांस्कृतिक स्मृति' खो देगा। अतः, रेणु का कथा-साहित्य केवल अतीत का मोह नहीं है, बल्कि वह भविष्य के लिए एक समाजशास्त्रीय चेतावनी और सांस्कृतिक दस्तावेज है। यह शोध कार्य निष्कर्षतः यह स्थापित करता है कि रेणु ने मिथिला की लोक-परंपराओं को वैश्विक साहित्य के पटल पर रखकर उन्हें वह सम्मान दिलाया, जिसकी वे अधिकारी थीं, और उनके माध्यम से भारतीय ग्रामीण जीवन के यथार्थवादी चित्रण की एक नई परिभाषा गढ़ी।

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
मानविकी एवं सामाजिक अध्ययन केन्द्र
भगवन्त विश्वविद्यालय, अजमेर

सन्दर्भ सूची

1. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-29
2. परती परिकथा, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-333
3. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-299
4. परती परिकथा, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-476
5. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-309
6. फणीश्वरनाथ रेणु, ठुमरी, ठेस, पृष्ठ संख्या-62
7. फणीश्वरनाथ रेणु, ठुमरी, रसप्रिया, पृष्ठ संख्या-25
8. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-186
9. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-189
10. एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृष्ठ संख्या- 52
11. मैला आँचल, रेणु रचनावली-2, पृष्ठ संख्या-77
12. फणीश्वरनाथ रेणु, ठुमरी, ठेस, पृष्ठ संख्या-62
13. वही, पृष्ठ संख्या-62
14. फणीश्वरनाथ रेणु, ठुमरी, रसप्रिया, पृष्ठ संख्या-32

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रेणु, फणीश्वरनाथ; मैला आँचल; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. रेणु, फणीश्वरनाथ; परती परिकथा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. रेणु, फणीश्वरनाथ; ठुमरी (कहानी संग्रह); राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. रेणु, फणीश्वरनाथ; रेणु रचनावली (खण्ड 1-5); सम्पादक : भारत यायावर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

हिंदी बाल नाटकों के रंग की संवेदना

डॉ. संजय कुमार सेठ

शोध सार

बाल साहित्य वह रचनाएँ हैं (कहानियाँ, कविताएँ, नाटक आदि) जो बच्चों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उनका ज्ञान, नैतिकता और कल्पनाशक्ति विकसित करती हैं। बाल साहित्य बच्चों का मनोरंजन तो करता ही है साथ ही उचित उपदेश के साथ उनके व्यक्तिव का सर्वांगीण विकास भी करता है। बाल साहित्य बच्चों को भाषा से जोड़ता है, कल्पनाशक्ति को विस्तार देता है और उन्हें सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों से सहज रूप में प्रथम साक्षात्कार कराता है। इसलिए इसकी भाषा सरल और सहज होती है, जो भावबोध के स्तर पर बच्चों के अनुकूल होती है। बाल साहित्य में उपदेश प्रत्यक्ष रूप से न होकर कथा, कविता या संवाद के भीतर स्वाभाविक ढंग से समाहित रहता है, जिससे बच्चे बिना बोझ महसूस किए सीखते हैं। यही इसकी सबसे बड़ी शक्ति है कि यह शिक्षा को मनोरंजन से जोड़ देता है।

बालक का मन अत्यंत कोमल, जिज्ञासु और कल्पनाशील होता है। वह अपने आस-पास की दुनिया को समझने के लिए निरंतर प्रयास करता है। बाल मनोविज्ञान हमें यह समझने में सहायता करता है कि बच्चे कैसे सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं और किन चीजों से प्रभावित होते हैं। दूसरी ओर, बाल साहित्य वह माध्यम है जिसके द्वारा बच्चों के मन, भावनाओं और विचारों को सही दिशा दी जा सकती है। जब ये दोनों एक साथ जुड़ते हैं, तब बच्चों के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

हिंदी बाल साहित्य के विकास में अनेक साहित्यकारों का योगदान रहा है। सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताएँ बच्चों में देशप्रेम और साहस की भावना अंकुरित करती हैं जबकि हरिशंकर परसाई और नागार्जुन जैसे रचनाकारों ने बाल मन को समझते हुए सरल और जीवन-संबद्ध रचनाएँ रची। आधुनिक काल में बाल साहित्य ने नए रूप ग्रहण किए हैं, अब कथानक विज्ञान, पर्यावरण, तकनीकि और समकालीन जीवन को समेटे हुए, बच्चों की अनुकूलता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है। अब कथानक विज्ञान, पर्यावरण, तकनीक और समकालीन जीवन की झलक भी बच्चों के अनुकूल रूप में प्रस्तुत की जा रही है।

बाल साहित्य से सम्बंधित पत्रिका 'चंदामामा' के संपादक श्री बालशौरी रेड्डी, लिखते हैं, **''बाल साहित्य वह है जो बच्चों के पढ़ने योग्य हो, रोचक हो, उनकी जिज्ञासा की पूर्ति करने वाला हो। उसमे बुनियादी तत्व का चित्रण हो। बच्चों के साहित्य में अनावश्यक वर्णन न हो। कथावस्तु में अनावश्यक पेचीदगी न हो। वह सरल, सहज और समझ में आने वाला हो। सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत तथ्यों को प्रतिपादित करने वाला हो।''**[1]

बाल मनोविज्ञान और साहित्य का संबंध बच्चों की मनोवृत्ति को समझकर उनके अनुरूप ज्ञान, संस्कार और कल्पनाशक्ति के विकास में सहायक होता है।

बीज शब्द

समकालीनता, कल्पनाशीलता, मनोविज्ञान, सामाजिक बोध, संवेदनशीलता, कर्तव्यबोध, ईमानदारी, आदर्शवाद, नाट्यमंचन, यथार्थ, नैतिक मूल्य।

मूल कथन

बाल नाटक बाल साहित्य की एक सशक्त और प्रभावपूर्ण

विधा है। बच्चों की मनोवृत्ति को केंद्र में रखकर लिखे गए नाटक बाल नाटक कहलाते हैं। बच्चों के मनोभावों की अपनी अलग दुनिया होती है इसी कारण बच्चों के नाटकों में बच्चों के ही अनुभवों को केंद्र में रखना उचित होता है। बालकों का कल्पनालोक, उनके आपसी व्यवहार, खेल-कूद, चर्चाओं आदि को ध्यान में रखकर लिखे गए नाटकों को बाल नाटकों की कोटि में रखा जाता है। व्यावहारिक जीवन में तो बच्चों के खेल तथा उनका आपसी व्यवहार ही नाटक बन जाते हैं। इस संदर्भ में गेट ने कहा है, **''बालक खेल में किसी वस्तु से कोई भी वस्तु बना सकते हैं। लकड़ी की पटरी तलवार बन जाती है, कपड़े के टुकडे. गुड़िया बन जाती है और घरौंदा महल बन जाता है।''**[2] इस तरह बच्चे अपने खेल की वस्तुओं को ही साधन-सामग्री के रूप में अपनाकर नाटक खेलते हैं। बच्चे स्वयं अपने लिए नाटक की रचना करते हैं। इस संदर्भ में रामेश्वर दयाल दुबे का कथन अधिक सार्थक लगता है, वे कहते हैं कि **''बच्चे नाटक नहीं करते, पर जो भी वे करते हैं, नाटक हो जाता है।''**[3] इस खेल खेल के नाटक में स्वभावत: बच्चे अपने विषय, अपनी संवेदना तथा अपने अनुभव उकेरते हैं।

जब बालकों के लिए नाटक लिखे जाते हैं तब उनके तर्क-वितर्क, आचार-विचार, व्यवहार-वर्तन, कल्पनाशक्ति, अनुकरणप्रियता आदि का समावेश उसमें होना आवश्यक होता है। इसके संदर्भ में डॉ. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के विचार हैं- **''बच्चों के लिए नाटक लिखना, उनके साथ खिलौना बनाने की तरह है। हो सकता है खिलौना बनाते समय बच्चा जिद करे कि चिड़िया नाचे, मकान गाये और मोटर गाड़ी उड़े। आपको यह मानना होगा।''**[4] संक्षेप में कह सकते हैं कि बच्चों के अनुकूल बाल नाटकों की रचना की जानी चाहिए। बच्चों के कल्पना की उड़ान को नाटक की कथा का आधार बनाया जा सकता है, भले ही बच्चों की कल्पनाएँ बड़ों के लिए निरर्थक साबित हो किंतु उन्हें इसे स्वीकार करके उनकी कल्पनाशक्ति की ओर सर्जनात्मक दृष्टिकोण से देखते हुए नाटकों की रचना करनी चाहिए। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध बाल-साहित्यकार डॉ. हरिकृष्ण देवसरे कहते हैं-**''बच्चों के नाटक ऐसे होने चाहिए कि वे उनकी कल्पनाशक्ति को जागृत करें एवं उन्हें उत्तेजित कर सकें और साथ ही उनके अनुभव क्षेत्र का प्रसार करने में समर्थ हो।''**[5] बच्चों में यथार्थ से ज्यादा काल्पनिक एवं अद्‌भुत चरित्रों और स्थितियों के लिए बड़ा आकर्षण होता है। कल्पना को उद्विग्न करनेवाली कथाएँ उन्हें पसंद आती हैं। बच्चे अपनी अचरज भरी दुनिया में खोये रहते हैं जहाँ उनकी कल्पना को तरह-तरह की प्रधानता दी जाती है। साथ ही उन्हें यथार्थ से भी परिचित किया जाता है। क्योंकि केवल कल्पनालोक ही नहीं जीवन की असलियत से बच्चों के मन के कोने में छिपी हुई विभिन्न मनोदशाएँ जैसे खुशी, दुख, भय, क्रोध, उत्सुकता आदि भावनाओं तथा उनकी मुश्किलों का चित्रण भी बाल नाटकों में अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जी के बाल नाटक 'हाथी की पों' का एक दृश्य :-

''बच्चा—लगता है जितनी देर हम प्रार्थना कर रहे थे उतनी देर में उसे हाथी की पों मिल गयी होगी। मैं उसे देखता हूँ। (बच्चा ज्यों ही जाने लगता है, पैरों के पास एक डिब्बा मिलता है, वह उसे खोलता है।)

सभी—क्या यह हाथी की पों है?

बच्चा—यह तो एक चिट्ठी है! 'जिस चीज को भी खोजो पूरी लगन से खोजो। मेहनत से जो मिलता है, वह 'हाथी की पों' है दुनिया में सबसे कीमती सबसे सुंदर सबसे बड़ी है, उसे जिस रंग में चाहो उस में खोज लो खोजो मुझे मिल गयी है, तुम सबको भी मिल जाएगी? (बच्चा चिट्ठी फाड़कर हवा में उड़ा देता है और उछल कर पूरे उत्साह से गाने लगता है अब बूढ़े की जगह उसके साथ-साथ सब एक-एक कड़ी दोहराते गाते हैं।)

बच्चा—मिल गयी मिल गयी हाथी की पों
यहीं मिली यहीं मिली हाथी की पों
सबसे सुंदर हाथी की पों
सुख का समुंदर हाथी की पों
बाहर अंदर हाथी की पों
तुम भी खोजो हाथी की पों
लेकर जाओ हाथी की पों
यही है यही हाथी की पों
बोलो सब जै हाथी की पों
जै जै जै हाथी की पों''[6]

नाटक देखते समय बालकों को सुख-दुख, आनंद-क्रोध जैसी अनेक भावनाओं का स्पर्श होता है, वह बाल रंगमंच का नाटक माना जाता है। जिस नाटक की कथावस्तु बच्चे आसानी से समझ सकते हैं, उसे ग्रहण कर सकते हैं, जिसमें चित्रित

अनुभव बच्चों की ओर संकेत करते हैं वहीं बच्चों का नाटक होता है। स्पष्ट है कि बच्चों के नाटकों में उनकी भावनाओं तथा संवेदनाओं को समृद्ध करने का प्रयास किया जाना चाहिए। पं. सीताराम चतुर्वेदी ने बच्चों के नाटकों का मुख्य उद्देश्य **''अवसर के अनुकूल आचरण सिखाना, साथ ही मानवस्वभाव और मानवचरित्र का अध्ययन करना, भावों को व्यक्त करना, सम्यक रीति से उच्चारण करना, बोलना और अभिनय सिखाना''**[7] माना है।

बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति या क्षमता अधिक होती है। बच्चों को स्वयं कुछ करके दिखाने की प्रबल उत्कंठा होती है। उन्हें एक ऐसे मंच की आवश्यकता होती है कि वे अपने शिकवा-शिकायतें उछलने-कूदने, हँसने रोने की स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्ति कर सके। जहाँ वे स्वप्नलोक में उड़कर अपनी सृजनात्मक एवं रचनात्मक भावनाओं का विकास कर सकें, जहाँ बच्चे जातिगत द्वेष-भाव, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, छुआछूत, देश, प्रांत, भाषा आदि के संकुचित दायरों से निकलकर आदर्श नागरिक बन सके। जहाँ वे जीवन के शाश्वत मूल्यों के परिरक्षक बन सके और इन सबका एक ही सशक्त विकल्प है बाल रंगमंच। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के एक और नाटक ''अनाप-शनाप'' के एक संवाद से इन बातों को समझाने प्रयत्न करते हैं :-

''शनाप : मकान नहीं बनाएँगे? तो फिर रहेंगे कहाँ ? अगर दोस्त होना है तो साथ-साथ रहना तो होगा ही। (शनाप गाता है :)

दोस्त होना है साथ रहना है,
जो भी कहना है साथ कहना है,
जो भी सहना है साथ सहना है,
साथ रुकना है साथ बहना है।
साथ ही दोस्ती का गहना है।
दोस्त होना है साथ रहना है।

अनाप : लेकिन मैं ऐसे मकान में रह ही नहीं सकता, जिसमें...

शनाप : बेकार जिद कर रहा है। देख, कितना अच्छा नाम है हमारा तुम्हारा-अनाप-शनाप ! साथ-साथ रहने के लिए ही हम पैदा हुए हैं। साथ रहेंगे तो कितना अच्छा होगा!...''[8]

इस गीत और संवाद में 'दोस्ती' जैसे संबंधों के मूल्यों के बारे में बात की गई है 'अनाप' यह शर्त रखता है कि हम वहीं घर बनायेंगे जहां पेड़-पौधे न हों उसका मानना है कि पेड़-पौधों की पत्तियां टूटकर गिरती हैं जिससे गंदगी फैलती है। इसीलिए वह शनाप के साथ ऐसे घर में नहीं रहना चाहता किंतु 'शनाप' उसे दोस्ती के मूल्यों को गीत गाते हुए समझाता है कि अगर हम दोस्त हैं तो हमें सभी परिस्थितियों में एक दूसरे का साथ निभाना होगा, साथ नहीं छोड़ना है। दोस्ती होने का मतलब विपरीत परिस्थितियों में एक दूसरे के साथ होने से है। बाल नाटकों में दिए गए संदेश सिर्फ बच्चों के लिए नहीं होते। आज के दौर में जब सभी रिश्ते अपना विश्वास खो रहे हैं, ऐसे में नैतिक मूल्यों की सीख जितनी बच्चों के लिए जरूरी है उससे कहीं ज्यादा बड़ों के लिए भी है इसीलिए बाल नाटक सिर्फ बच्चों को लक्ष्यित करके नहीं लिखा जाता, वह समूचे समाज को भी संबोधित करता है।

'बाल नाटक' एक ऐसा विषय रहा है जिसपर साहित्यकारों की नजर थोड़ा कम ही पड़ी। अमूमन साहित्यकार समाज के यथार्थ को दर्ज करने के लिए जटिल विषयों का चुनाव करते हैं। जिसमें पात्र गंभीर विषयों पर बड़े-बड़े विचारों और आदर्शों के माध्यम से अपनी बातों को सामने रखता है, किंतु साहित्यकार की सीमा सिर्फ जटिल और गंभीर विषयों तक सीमित नहीं है। यह सत्य है कि बाल नाटकों पर साहित्यकारों की नजर कम पड़ी किंतु जिन चुनिंदा लेखकों ने इस विषय को छुआ, उन्होंने पूरी जिम्मेदार से इसपर काम किया। उन्हीं में से एक विष्णु प्रभाकर जी रहे हैं।

हिंदी साहित्य में बाल नाटक रचने वालों में विष्णु प्रभाकर का नाम प्रमुख है। हरिकृष्ण देवसरे विष्णु प्रभाकर जी के बारे लिखते हैं - **''बच्चों के लिए जिन स्वनामधन्य नाटककारों ने कलम उठाई है, उनमें विष्णु-प्रभाकर के प्रति बालसाहित्य सदैव ऋणी रहेगा। विष्णुजी ने बच्चों के क्रिया-कलापों, उनकी आदतों और उनके दैनिक जीवन की स्थितियों से अनेक कथानक उठाकर नाटक लिखे हैं।''**[9]

विष्णु प्रभाकर के बाल नाटक प्राय: नैतिक और मानवीय मूल्यों पर आधारित है। सत्य, ईमानदारी, साहस, सहयोग, करुणा और कर्तव्यबोध जैसे मूल्य कथानक के भीतर स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, उपदेशात्मक ढंग से नहीं थोपे जाते। यही कारण है कि बच्चे इन नाटकों से सीखते हैं, लेकिन उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि उन पर नैतिक शिक्षा थोपी जा रही है। कथानक में रोचकता बनी रहती है और घटनाएँ बच्चों की जिज्ञासा को लगातार सक्रिय रखती हैं। जैसे :- विष्णु प्रभाकर

के इन पात्रों और संवाद योजना को देखिए :-

''डाइरेक्टर : अच्छा तो आप लोगों ने भूख हड़ताल कर दी है। ठीक है। ठीक है। वैसे मैंने तुम्हारे लिए चाय और बरफी का इंतजाम किया है। तुम चाहो तो...

नरेश : हमारी मांगें मंजूर करो। तब तक हम कुछ नहीं खाएंगे। तुम्हारी बरफी की ओर देखेंगे भी नहीं।

राजेश : नहीं नहीं, यार, देखने में कोई हर्ज नहीं है। खाएंगे तभी, जब हमारी मांगें मंजूर होंगी। आप बहुत अच्छे हैं, हमारी मांगें मान लीजिए, हम आपकी चाय और बरफी मंजूर कर लेंगे।

डाइरेक्टर : नहीं, आपकी मांगें मंजूर नहीं हो सकतीं। हम किसी की धमकी में नहीं आ सकते।

राजेश : आप बहुत सख्त हैं, लेकिन हम उतने सख्त नहीं हैं। हम आपकी मांगें मंजूर कर सकते हैं।

नरेश : (चोलकर) क्या करते हो? तुमको अपने नेता का बिलकुल खयाल नहीं। तुम निरे पेटू हो। जाना है, तो जाओ, मैं नहीं जाऊंगा।

राजेश : तुम नहीं जाओगे, तो मैं भी कैसे जा सकता हूं? अब तो मरना ही होगा। हे भगवान, क्या तू मेरे मुंह में चुपचाप टाफी नहीं भेज सकता !''[10]

इन नाटकों में पात्र-योजना भी उल्लेखनीय है। पात्र सरल, स्पष्ट और बालमन के अनुकूल हैं। कहीं-न-कहीं हर पात्र बच्चों के आसपास के संसार से जुड़ा हुआ लगता है। नकारात्मक पात्र भी इतने कठोर नहीं होते कि वे भय पैदा करें, बल्कि वे बच्चों को सही और गलत के अंतर को समझाने का माध्यम बनते हैं। इससे बालकों में विवेक और निर्णय क्षमता का विकास होता है।

बाल नाटकों का कथानक सीधा और सपाट होता है। अगर कथानक जटिल हुआ तो नाट्यमंचन मुश्किल हो सकता है। साथ ही यह ध्यान दिया जाना जरूरी है कि बाल नाटकों का कथानक लंबा और विस्तृत न हो। बाल नाटकों की अपनी सीमाएं होती हैं वह ये नाटक ज्यादा देर तक खेले नहीं जाते। चूंकि बाल नाटकों के नाट्यमंचन में अमूमन बच्चे ही होते हैं। ऐसे में कथानक का सीधा और सपाट होना जरूरी हो जाता है। बाल नाटक में संवाद योजना लंबे और जटिल नहीं होते, बच्चों के लिए उन संवादों को याद करना और उन संवादों को प्रस्तुत करना चुनौतीपूर्ण हो सकता है। नाटककार कथानक और संवाद योजना पर बड़ी ही बारीकी से काम करते हैं जैसे नाटककार लक्ष्मीकांत वैष्णव का यह उदाहरण देखिए :-

''कुत्ता-1 : सुन वे गधे, काम हमारा यही भौंकना

कुत्ता-2 : अजनबियों को देख चौंकना।

कुत्ता-1 : सोच रखा है, आज जाएगा जो इस पथ से उसे भौंककर डांटेंगे।

कुत्ता-2 : हां, सोच रखा है जो गुजरेगा आज गली मे उसे लपककर काटेंगे।

गधा : - मगर निहत्थों को धमकाना

धर्म नहीं है, तुम जैसे ताकत वालों का धर्म नहीं।''[11]

इस नाटक का कथानक जटिल नहीं है। संवाद उतने ही लम्बे हैं जिसे बच्चे आसानी से याद कर सकें।

बाल नाटकों के लिए रंगमंच बड़ी आसानी से उपलब्ध होते हैं। चूंकि बाल नाटकों के मंचन के लिए किसी बड़े नाट्यमंच की आवश्यकता नहीं होती, बच्चों के लिए तो स्कूल का खेल का मैदान, कक्षा में थोड़ी सी खाली जगह, घर के आंगन या द्वार कहीं भी नाटक खेले जा सकते हैं। किसी विशेष प्रकाश या ध्वनि योजना की आवश्यकता नहीं होती। बाल नाटकों का रंगमंच थोड़े से संसाधनों के साथ ही तैयार हो जाता है। इस बारे में हरिकृष्ण देवसरे लिखते हैं :-

''वास्तव में बच्चे ऐसे नाटक को अधिक पसंद करते हैं जिसमें उनका भरपूर मनोरंजन तो हो ही, साथ साथ वे उसे अपने सीमित साधनों में ही मंच पर प्रस्तुत कर सकें, उसके संवाद सरल और कंठस्थ किए जा सकने वाले हों तथा दर्शकों को वह अपने साथ लेकर चले।''[12]

बाल नाटक हास्यप्रधान नाटक होते हैं। विषय चाहे जितना ही गंभीर हो, नाट्यकार उस विषय के उद्देश्य को समझाने के लिए व्यंग्य या हास्य शैली का प्रयोग करते हैं। बाल नाटकों की एक खास विशेषता यह भी है कि इसमें एक पात्र ऐसा जरूर होता है जो आदर्शवादी हो। उस पात्र का काम समय-समय पर नैतिक मूल्यों का बोध कराना, सही और गलत के बीच फर्क बताना और सही रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करना है। जैसे के. पी. सक्सेना के नाटक 'दस पैसे का तानसेन' का यह अंश देखिए जिसमें गणेश बाकी बच्चों को नजूमी के चमत्कार, अंधविश्वास और छलावे से बचाने के लिए और उन्हें सीख देते हुए बोलता है :-

''गणेश : दस पैसे मेरे पास भी हैं। लेकिन मैं उन्हें बर्बाद नहीं करना चाहता। अपना पाकिट मनी जोड़-जोड़ कर मैं अपनी पढ़ाई का सामान खरीदता हूं। पिताजी नहीं

रहे, पैसा-पैसा जोड़कर दादाजी मुझे किस तरह पढ़ा रहे हैं, मैं ही जानता हूं। तुम लोग बहकावे में मत आओ। अगर सबका भाग्य इस तोते की चोंच में ही होता, तो यह नजूमी साहब आज दस दस पैसे के लिए फुटपाथ पर नजर न आते।

नजूमी : जाओ जाओ, अपना काम देखो।

गणेश : तुम बच्चों को फुसला कर पैसे ऐंठ रहे हो। आगे चलकर हम डाक्टर, इंजीनियर, वकील, पायलेट जो कुछ बनेंगे, अपनी लगन, परिश्रम और ईमानदारी से बनेंगे, तोते की चोंच में नहीं। अभी हमें पढ़ाई में दिल लगाकर न जाने कितनी सीढ़ियां पार करनी हैं। तुम हमें बहका नहीं सकते। इस तरह बेईमानी से पैसे बटोरना पाप है।''[13]

इसी प्रकार के पात्र बच्चों को एक अच्छे इंसान, नागरिक बनने के लिए प्रेरित करते हैं। ऐसे पात्र हमें प्रेमचंद जी के कहानियों, मन्नू भंडारी के उपन्यास, भारतेंदु के नाटकों और विनोद कुमार शुक्ल की कविताओं में भी देखने को मिल जाते हैं।

निष्कर्ष- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विष्णु प्रभाकर, हरिकृष्ण देवसरे, लक्ष्मीकांत वैष्णेय और के. पी. सक्सेना के बाल नाटकों का विश्लेषण करने के बाद यह बात सीधे तौर पर निकलकर आती है कि बाल नाटकों के रंग की संवेदना में कल्पनाशीलता, सामाजिकता और सांस्कृतिक मूल्य, मनोरंजन, संवेदनशीलता इसके अभिन्न अंग हैं। बाल नाटकों का उद्देश्य साफ तौर पर बच्चों के मनोविज्ञान, उनके व्यक्तित्व निर्माण और उनका सर्वांगीण विकास करना है। इस लेख में बाल नाटकों की उन विशेषताओं का भी उल्लेख होता है जो उन्हें अन्य नाटकों से अलग करता है। जैसे संवाद योजना, पात्रों का निर्माण, नाट्यमंचन की स्थिती, शैलीगत विशेषता। बच्चों का मन बहुत संवेदनशील होता है ऐसे में बाल नाटकों की रचना करना किसी भी नाटककार के लिए एक चुनौतिपूर्ण कार्य है। किंतु आधुनिक नाटककारों ने इस चुनौती को पूरी जिम्मेदारी के साथ स्वीकार्य किया हैं परन्तु आधुनिकता की गति को ध्यान में रखते हुए बाल नाटकों में भी तीव्र परिवर्तन की आवश्यकता है जैसे- Gen-Z, बच्चों की रुचि को ध्यान में रखकर कथानक में परिवर्तन किया जाना चाहिए, उनकी भाषा और संस्कृत निष्ठ साहित्यिक भाषा में समन्वय करने का प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। नैतिक विचार व उपदेशात्मकता इतनी सहजता से प्रस्तुत की जाने की जरूरत है कि वे उनके अवचेतन मन में स्थापित हो सकें। नाटक लिखे जिन्हें बच्चे आसानी से खेल सकते हैं और जिससे नाटक विधा के विकासक्रम के साथ-साथ समाज के विकासक्रम में भी अपना योगदान दें पाएंगे।

एसोसिएट प्रोफेसर
सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110052

सन्दर्भ सूची

1. विक्रम, डॉ. सुरेन्द्र, हिंदी बाल पत्रकारिता उद्भव और विकास, प्रकाशन- साहित्यवाणी, पृष्ठ 16
2. भट्ट, चंद्रशेखर, नाट्य पद्धति द्वारा शिक्षण, प्रकाशन- गयाप्रसाद एंड संस, पृष्ठ 62
3. कक्कड़, कृष्ण नारायण, बाल रामच-कुछ जरूरी सवाल, पृष्ठ 25
4. सक्सेना, सर्वेश्वरदयाल, बच्चों का नाटक हाशिया छोड़कर लिखो (बालरंग), पृष्ठ 77
5. देवसरे, डॉ. हरिकृष्ण, बच्चों के सौ नाटक, प्रकाशन-शकुन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 8
6. जैन, वीरेंद्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली खंड 03, प्रकाशन-वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 277
7. देवसरे, डॉ. हरिकृष्ण, बच्चों के सौ नाटक, प्रकाशन-शकुन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 5
8. जैन, वीरेंद्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली खंड 03, प्रकाशन-वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 280
9. देवसरे, डॉ. हरिकृष्ण, बच्चों के सौ नाटक, प्रकाशन-शकुन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 9
10. वही, पृष्ठ 467
11. वही, पृष्ठ 585
12. वही, पृष्ठ 5
13. वही, पृष्ठ 5

प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा में स्त्री

प्राची ठाकुर

प्रस्तावना

आर्यावर्त, ज्ञान-दर्शन और आध्यात्मिकता की पवित्र भूमि है, यह महान् ऋषि-मुनियों की तपस्थली है, जहाँ उन्होंने कठोर तप, साधना और गहन चिंतन के माध्यम से मानव जीवन तथा ब्रह्म के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण किया। यह वीर-योद्धाओं और महान् नायकों की कर्मभूमि भी है, जिन्होंने धर्म, न्याय और राष्ट्र की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। इसी पवित्र भारतभूमि पर वेद, वेदांग, आरण्यक, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि ग्रंथों की रचना हुई, जिनसे एक समृद्ध और गौरवशाली ज्ञान परम्परा का उद्भव हुआ। इस ज्ञान परम्परा में न केवल भारतवर्ष को, बल्कि सम्पूर्ण विश्व को मार्गदर्शन प्रदान किया। भारतीय ज्ञान परम्परा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसमें ज्ञान को केवल भौतिक उन्नति का साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे आत्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का माध्यम माना गया, तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन स्वीकार किया गया है।आचार्य भर्तृहरि वाक्यपदीयम् में कहते हैं,

''तद्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सतम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥"[1]

यह शब्दविद्या (व्याकरण) मोक्ष का साधन है। यह विद्या वाणी के दोषों को दूर करने वाली तथा सभी विद्याओं को पवित्र करने वाली है। इसे मोक्ष का द्वार कहा गया है, जो मनुष्य को सत्य ज्ञान की ओर ले जाती है और आगे इसी क्रम में, इस शब्दविद्या को मोक्ष प्राप्ति का प्रथम आधार बताया है–

''इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥"[2]

अर्थात् यह शब्दविद्या मोक्ष-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। यह सिद्धि (मोक्ष) की ओर ले जाने वाली सीढ़ियों का प्रारंभिक चरण है। इसे मोक्ष की ओर जाने वाला सीधा और श्रेष्ठ मार्ग (राजपथ) कहा गया है।

आचार्य भर्तृहरि के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का माध्यम माना गया है और ऐसी समृद्ध परंपरा में स्त्री, जो जगत का आधार है देवी स्वरूपा है उनका स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और सम्माननीय रहा है। प्राचीन साहित्य में गार्गी, मैत्रेयी, घोषा आदि अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों को भी शिक्षा, ज्ञानार्जन और विचार-प्रकाशन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। वे केवल परिवार तक सीमित नहीं थीं, बल्कि ज्ञान, दर्शन और आध्यात्मिक चिंतन में भी सक्रिय रूप से भाग लेती थीं।

प्राचीन भारतीय परम्परा में स्त्री का स्वरूप

भारतीय संस्कृति में स्त्री को शक्ति, करुणा, त्याग और सृजन की दिव्य प्रतिमूर्ति माना गया है। वह परिवार, समाज और संस्कृति की आधारशिला है। स्त्री पर्वत के समान धैर्य और पृथ्वी के समान सहनशीलता को धारण करने वाली होती है। उसकी करुणा, गंगा के निर्मल प्रवाह के समान पवित्र और जीवनदायिनी होती है। जैसे - चन्द्रमा अपनी शीतलता से रात्रि को मधुर बना देता है, वैसे ही स्त्री अपने स्नेह और मधुर व्यवहार से परिवार और समाज को सुखमय बना देती है। भारतीय संस्कृति में स्त्री को अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥''[3]

अर्थात् जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है, और जहाँ उनका सम्मान नहीं होता वहाँ सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में स्त्री केवल परिवार का सदस्य ही नहीं, बल्कि संस्कृति की वाहक, जीवन की प्रेरणा और समाज की आत्मा मानी गई है।

प्राचीन भारत में स्त्रियों को शिक्षा, धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में भी समान अधिकार प्राप्त थे। उस समय शिक्षा का प्रमुख केंद्र गुरुकुल प्रणाली था और स्त्रियाँ भी गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त करती थीं। वे भी वेद, दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों का अध्ययन किया करती थीं। वैदिक साहित्य में अनेक ऐसी ऋषिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने वेदमंत्रों का साक्षात्कार किया। इनमें अपाला, घोषा, सूर्या, सावित्री, अदिति, लोपामुद्रा, विश्ववारा आदि प्रमुख हैं। इन विदुषी स्त्रियों ने ज्ञान और आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उस काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत सम्मानजनक थी। कई स्थानों पर संतानों की पहचान भी माता के नाम से किया जाता था। उदाहरणस्वरूप महाभारत में श्रीकृष्ण देवकीपुत्र होने से देवकीनन्दन, अर्जुन कुन्तीपुत्र होने से कौन्तेय, पृथापुत्र होने से पार्थ, भीष्म-गंगापुत्र, आदि नामों से संबोधित किया गया है। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी मातृसंबंधी शब्दों का उल्लेख मिलता है। जहां माता के नाम से ही पुत्रों को अभिहित किया गया है–

''शिक्षिता नामक स्त्री का अपत्य शैक्षितः, संस्कृता नामक स्त्री का अपत्य सांस्कृतः,
यमुना नामक स्त्री का अपत्य यामुनः, इरावती नामक स्त्री का अपत्य ऐरावतः''[4],
''गंगा नामक स्त्री का अपत्य गाङ्गेयः, दत्ता नामक स्त्री का अपत्य दात्तेयः,
गोपा नामक स्त्री का अपत्य गौपेयः, सीता नामक स्त्री का अपत्य सैतेयः, आदि।''[5]

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल और मैत्रेयी का उदाहरण है जबाला का पुत्र होने से सत्यकाम को सत्यकाम जाबाल, तथा महर्षि याज्ञवल्क्य की भार्या को मित्रा की पुत्री होने से मैत्रेयी नाम से अभिहित किया गया है। सातवाहन राजवंश के कई शासक भी अपनी माता के नाम के साथ संयुक्त करके अपने नाम का ग्रहण करते थे जैसे – गौतमीपुत्र सातकर्णि तथा वशिष्ठीपुत्र पुलुवामी आदि।

वेदों में स्त्री का बहुआयामी स्वरूप

वैदिक साहित्य में जो स्त्री का स्वरूप है, उससे यह ज्ञात होता है कि स्त्रियां केवल शिक्षा के क्षेत्र तक सीमित नहीं थीं, अपितु राजनीति, न्याय, युद्धनीति, साहित्य, कला तथा धर्म – सभी क्षेत्रों में पारंगत एवं सक्रिय भूमिका निभाती थीं। वेदों में इसके अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि उस युग की नारी केवल गृहस्थ जीवन तक सीमित न होकर समाज की संरचना और संचालन में भी समान रूप से सहभागी थी। यथा–

यजुर्वेद में राजपत्नी को देवता रूप में स्थापित करते हुए कहा गया है–

''स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद॥
निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥''[6]

इस मन्त्र में 'राजपत्नी' को राज्य-व्यवस्था की आधारशिला के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह भाव निहित है कि जिस प्रकार राजा न्याय और नीति का पालन करता है, उसी प्रकार राजपत्नी भी न्यायविद्या में निपुण होकर स्त्रियों के मध्य न्याय का संचालन करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ न्यायशास्त्र और राजनीति का गहन ज्ञान रखतीं थीं तथा प्रशासनिक कार्यों में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र

''अत्राह ते हरिवस्तो उ देवीरवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसारः।
यत् सीमनु प्रमुचो बद्धाना दीर्घामनु प्रसितिं सन्दयध्यै॥''[7]

यह दर्शाता है कि स्त्रियाँ स्वयं न्याय-प्रक्रिया में संलग्न होकर समाज में धर्म की स्थापना करती थीं। उनके द्वारा किया गया न्याय ही दृढ़ राजधर्म का आधार बनता था। इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ केवल अनुयायी नहीं, अपितु धर्म और न्याय की संरक्षिका भी थीं।

यजुर्वेद में कहा गया है–

''यं ते देवी नि;तिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्व विवृत्यम्।
तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः।
नमो भूत्यै येदं चकार॥''[8]

यहाँ स्त्री को ''न्यायाधीश'' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जो दुष्टों को दण्ड देती है और निरपराधियों का संरक्षण करती है। इस प्रकार नारी को न्याय-व्यवस्था के

केन्द्रीय स्थान पर स्थापित किया गया है।

इसी प्रकार यजुर्वेद में नारी को ''अश्वाजनी'' शब्द से भी संबोधित किया गया है

''आ जंघन्ति सान्वेषां जघनां उप जिग्घ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽ श्वान्त्समत्सु चोदय॥''[9]

''अश्वाजनी'' का तात्पर्य है - वह स्त्री जो अश्वों को प्रशिक्षित करने में कुशल हो। यह केवल पशुपालन का संकेत नहीं, बल्कि युद्धकला और सैन्य-प्रशिक्षण में उसकी दक्षता को भी दर्शाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियाँ युद्धनीति और सैन्य-विद्या में भी पारंगत थीं।

एक अन्य वैदिक मन्त्र–

''चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानिवस्ते।
तस्यां सुपूर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥''[10]

यहाँ स्त्री को ''चतुष्कपर्दा'' कहा गया है, जिसका अर्थ है - वह जो जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का गहन ज्ञान रखती हो तथा जिसे यज्ञ व वैदिक अनुष्ठानों का भी गूढ़ ज्ञान हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक एवं वैदिक ज्ञान में भी अत्यन्त निपुण थीं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियाँ ज्ञान, धर्म, दर्शन और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सक्रिय रूप से सहभागी थीं। वे समाज के विकास और संस्कृति के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

उपनिषदों में स्त्री की दार्शनिक प्रतिभा

उपनिषदों में अनेक विदुषी स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में गहन चिंतन प्रस्तुत किया। महर्षि याज्ञवल्क्य जब आश्रम का त्याग करने लगे तो उन्होंने अपनी भार्या मैत्रेयी से संपत्ति के विभाजन के लिए कहा, उस समय विदुषी मैत्रेयी ने जो प्रश्न किया वह उनके अद्भुत पांडित्य को दर्शाता है, उनके वैदुष्य को दर्शाता है। मैत्रेयी ने कहा भगवन् यदि संपूर्ण पृथ्वी का धन भी मुझे प्राप्त हो जाए तो क्या मैं उससे अमरता को प्राप्त हो जाऊंगी, महर्षि ने कहा–**''अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन।''**[11] धन-धान्य से अमरता की आशा नहीं की जा सकती, अर्थात् जैसे साधन संपन्न व्यक्ति अपना जीवन निर्वाह करते हैं वैसे ही तुम्हारा भी जीवन हो जाएगा परन्तु अमरता की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब मैत्रेयी ने कहा -**''सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेंद तदेव मे ब्रूहीति॥''**[12] उसको लेकर मैं क्या करूं जिससे मुझे अमरता की प्राप्ति ना हो, भगवन् अमर होने का जो रहस्य आप जानते हैं मुझे उसी का उपदेश दीजिए।

इसी प्रकार वाचक्नवी गार्गी ने मिथिला के राजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म और आत्मा के विषय में अत्यन्त गूढ़ प्रश्न किए, इसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है। **''यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्च इति।''**[13] अर्थात् यह संपूर्ण पृथ्वी जिस प्रकार जल में ओत-प्रोत है, सर्वत्र जल ही जल विद्यमान है तो यह जल किस में ओत-प्रोत है? **''कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्च इति।''**[14] वायु किसमें ओत-प्रोत है? इस प्रकार गार्गी निरन्तर प्रश्नों के माध्यम से ब्रह्म के परम कारण को जानने का प्रयास करती हैं। वाचक्नवी गार्गी का राजा जनक की सभा में अनेक विद्वानों के बीच इस प्रकार निर्भीक होकर दार्शनिक प्रश्न करना तथा मैत्रेयी का त्याग भाव व अमरत्व के प्रति जिज्ञासा यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियाँ उच्च कोटि के ज्ञान और पाण्डित्य से सम्पन्न हुआ करती थीं।

इसी क्रम में नारी के वैदुष्य का एक और प्रभावशाली उदाहरण महान् मीमांसक मण्डन मिश्र की भार्या विदुषी भारती का प्राप्त होता है, जो दर्शन-मीमांसा और जीवनशास्त्र का गहन ज्ञान रखतीं थी। आदि शंकराचार्य और मंडन मिश्र के बीच जब प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ, उसमें भारती को निर्णायिका का पद दिया गया था। उस शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र के पराजित हो जाने पर भारती ने शंकराचार्य से कहा–

''अपि तु त्वयाऽद्य नसमग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम्।
वपुरर्धमस्य न जिता मतिमन्नपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम्।।''[15]

आपने मेरे पति को पराजित कर दिया है, परन्तु मैं उनकी अर्धांगिनी हूं; अतः अभी मुझे भी पराजित करना शेष है। ऐसा बोलकर स्वयं शंकराचार्य से प्रश्न करना आरम्भ किया। उन्होंने धर्म, दर्शन और जीवन के विभिन्न विषयों पर अत्यन्त सूक्ष्म प्रश्न किए, जिनका उत्तर देने के लिए शंकराचार्य को विशेष अनुभव प्राप्त करना पड़ा। उस युग के महान् दार्शनिकों के मध्य होने वाले शास्त्रार्थ में निर्णायक बनना भी उनके असाधारण वैदुष्य और निष्पक्ष बुद्धि का प्रमाण है। भारती का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में नारी को

उच्च स्तर के दार्शनिक और शास्त्रीय ज्ञान में भी समान अधिकार और सम्मान प्राप्त था।

इन उदाहरणों से इसकी पुष्टि होती है कि उस समय स्त्रियों को विद्वत्सभाओं में भाग लेने और अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। स्वाभाविक है जिनको विद्वद्गोष्ठियों में शास्त्रार्थों में अपने विचारों को आदान-प्रदान करने की स्वतंत्रता हो जो प्रश्न पूछने का सामर्थ्य रखती हों वो कोई साधारण स्त्री तो नहीं हो सकती।

अष्टाध्यायी में स्त्री की भाषिक एवं सामाजिक मान्यता

महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य किया करती थीं। इस संदर्भ में अष्टाध्यायी का सूत्र **''पुंयोगादाख्यायाम्''**[16] अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ पुंयोग का अर्थ है - पुरुष के साथ संबंध। इस सूत्र के अनुसार, जब किसी स्त्री की पहचान किसी पुरुष के साथ संबंध (जैसे पत्नी होना) के कारण होती है, तब उस प्रातिपदिक में स्त्रीलिंग बनाने के लिए ङीष् प्रत्यय का विधान किया जाता है। अर्थात् यदि किसी पुरुष को उसके पद, गुण या कार्य के आधार पर कोई उपाधि प्राप्त है, और उसकी पत्नी को केवल उसी संबंध के कारण वह उपाधि दी जाती है—भले ही उसमें वे गुण न हों तो वहाँ ङीष् प्रत्यय लगाया जाता है। उदाहरण के रूप में -'आचार्य-आचार्यानी, महामात्र-महामात्री, गणक-गणकी'। इसी प्रकार आचार्यानी शब्द उस स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है, जो केवल किसी आचार्य की पत्नी है, न कि स्वयं अध्यापन कार्य करती है। यहाँ उसकी पहचान उसके पति के साथ संबंध के कारण है, इसलिए यह पुंयोग के अंतर्गत आता है। परन्तु यदि कोई स्त्री स्वयं शास्त्रों में पारंगत हो, अध्यापन कार्य करती हो, और विदुषी हो, तो उसे आचार्यानी नहीं कहा जाएगा, बल्कि आचार्या कहा जाएगा। यहाँ उसकी उपाधि उसकी स्वयं की योग्यता के आधार पर होती है, न कि किसी पुरुष के संबंध के कारण। इस स्थिति में 'आचार्या' शब्द की सिद्धि टाप् प्रत्यय **''अजाद्यतष्टाप्''**[17] के अनुसार होती है।

आचार्य पाणिनि ने केवल संबंधवाचक स्त्री-रूपों (जैसे आचार्यानी) का ही विधान नहीं किया, बल्कि स्वतंत्र विदुषी स्त्रियों (जैसे आचार्या) के लिए भी पृथक् रूप प्रदान किया। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियाँ केवल पुरुष-आश्रित नहीं थीं, बल्कि वे स्वयं भी शिक्षा, अध्यापन और विद्वत्ता के क्षेत्र में सक्रिय एवं प्रतिष्ठित थीं उनकी पहचान भाषा और समाज दोनों में संरक्षित एवं मान्य थी।

वाल्मीकि रामायण में स्त्री का बौद्धिक धार्मिक एवं कर्तव्यनिष्ठ स्वरूप

वाल्मीकि रामायण में माता कौशल्या तथा बाली की पत्नी तारा के प्रसंग के माध्यम से स्त्रियों के गहन पांडित्य, धार्मिकता और दूरदर्शिता का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

रामायण के अयोध्या कांड में माता कौशल्या के धार्मिकता, पवित्रता, तथा शास्त्रीय विधानों के अनुसार कर्म करने की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है।

''सा क्षौमवसना हृष्टा नियं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥"[18]

यह प्रसंग उस समय का है जब माता कौशल्या से श्री राम वार्तालाप के लिए आते हैं, उस समय माता कौशल्या स्नान करने के पश्चात वेद-मन्त्रों के अनुसार मंगल विधि संपन्न कर रही होती हैं और उसके बाद राम से वार्तालाप करती हैं। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उस काल में स्त्रियां वेद-वेदांग आदि की केवल शिक्षा ही ग्रहण नहीं करती थी अपितु वैदिक मन्त्रों से यज्ञ-यागादि भी संपन्न किया करती थीं।

इसी प्रकार रामायण में वर्णन आता है कि जब बाली युद्ध के लिए जा रहे थे उस समय उनकी पत्नी तारा ने उनके कल्याण और विजय की कामना से वैदिक मन्त्रों का पाठ किया—

''ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता॥"[19]

अर्थात् मन्त्रों की ज्ञान रखने वाली, तथा अपने पति की विजय की कामना करने वाली, तारा ने स्वस्त्ययन करके अंतःपुर में प्रवेश किया यहां मंत्रविद् तथा विजयैषिणी जैसे शब्द इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि तारा को वैदिक मन्त्रों का ज्ञान था और वह धार्मिक विधि-विधानों में भी निपुण थी। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियां धर्म नीति एवं शास्त्र की सूक्ष्म समझ रखने वाली थी।

निष्कर्ष

इन सभी प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में नारी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक रहा है। वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख

मिलता है जिन्होंने ज्ञान, दर्शन और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अमूल्य योगदान दिया। वैदिक काल में वह केवल गृहिणी नहीं, बल्कि न्यायविद्, राजनीतिज्ञ, योद्धा, आचार्या, तथा आध्यात्मिक साधिका इन सभी रूपों में समाज को दिशा देने वाली एक सशक्त नारी थी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में स्त्रियों को सदैव सम्मान और शिक्षा का अधिकार प्राप्त रहा है। उनके पास ज्ञान, विवेक, साहस और कर्तृत्व का अद्‌भुत समन्वय था, जो उन्हें समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सक्षम और प्रतिष्ठित बनाता था।

आज आवश्यकता है कि हम अपनी इस महान् परम्परा को समझें, उसका अध्ययन करें और समाज में स्त्री-पुरुष समानता तथा नारी सम्मान की भावना को और अधिक सुदृढ़ करें।

शोधच्छात्रा
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
ईमेल : prachi42_css@jnu.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. वाक्यपदीय 1.14
2. वाक्यपदीय 1.16
3. मनुस्मृति 3/56
4. अवृद्धाभ्यो- नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः। (4.1.113)
5. द्व्यचः। (4.1.129)
6. यजुर्वेद 10.26-27
7. ऋग्वेद 4.22.7
8. यजुर्वेद 12.65
9. यजुर्वेद 29.50
10. ऋ. 10.114.3 मन्त्र
11. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.2
12. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.3
13. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय-3, ब्राह्मण-6, मन्त्र-1
14. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय-3, ब्राह्मण-6, मन्त्र-1
15. शंकरदिग्विजय, अध्याय-9, श्लोक-56
16. अष्टाध्यायी 4.1.48
17. अष्टाध्यायी 4.1.3
18. वाल्मीकिरामायण अयोध्याकाण्ड २०.15
19. वाल्मीकिरामायण किष्किन्धा काण्ड 16.12

चंचला कुमारी

'जमीन पक रही है' काव्य- संग्रह (केदारनाथ सिंह) में लोक-पक्ष का पुनर्मूल्यांकन

'लोक' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। यह संसार, स्थान विशेष, प्रदेश, जनसाधारण, समाज आदि अर्थों की प्रतीति कराता है। परंतु 'लोक' शब्द मुख्य रूप से दो अर्थों में अधिक प्रचलित है—पहला, वेदों, पुराणों और उपनिषदों में उल्लेखित परलोक, पृथ्वी लोक, स्वर्गलोक, नरक लोक, आदि के संदर्भ में तथा दूसरा, साहित्यिक शब्दावली में 'लोक' जो आम जनमानस के लिए प्रयुक्त होता है। 'लोक' समाज और स्थान के अनुकूल अलग-अलग होते हैं। 'लोक' का शाब्दिक अर्थ है—देखने वाला अर्थात् वह पूरा जनसमुदाय जो समस्त संसार को देखता अथवा अवलोकन करता है उसे 'लोक' कहा जाता है। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- ''लोक सामान्य, लोक-सत्ता, लोक- मंगल, लोक-धर्म, लोक-व्यवहार जैसे शब्दों का समाज और संस्कृति के संदर्भ में यथास्थान प्रयोग करते हैं। परंतु कुछ विद्वान लोक शब्द के पर्याय के रूप अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं।'' (चिंतामणि प्रथम भाग)।

जो सामूहिक हैं वहीं 'लोक' है, जहाँ मैं का वर्चस्व नहीं है, वहां जो है जिसका वजूद है वह सबके लिए एक-सा है, वह जिसमें शामिल हैं पारंपरिक जीवन, रहन-सहन, विश्वास, मान्यताएँ, अवधारणाएं, लोक शैलियां, नृत्य, संगीत, लोकगीत, लोक से जुड़े पर्व, लोक कलाएं आदि। कुछ प्रश्न, कुछ जबाव, जो सदियों से ज्यों के त्यों है, वे समय के परिवर्तन का हिस्सा नहीं है, जो बदल रहा है वह समय के लिए अपेक्षित है पर लोक से कुछ सवाल, कुछ परंपराएं, मान्यताएं, अवधारणाएं, आस्था, विश्वास कभी नहीं बदले भले ही वे भुला दिए गए पर केदार जी की कविता बरबस उसी ओर खींच लिए जाती है जहां प्रकृति भी अपने होने को लोक के अर्थ में समेट रही है कहें कि लोक संस्कृति प्रकृति से विलग नहीं है। लोक कथाएं, कहावतें, मुहावरे, लोक की बोली, अर्थ-छवियों में बसा हुआ है। एक लोक-जो आधुनिकता की परिभाषा में कुछ अलग रंग भर रहा है, जो दरकिनार कर दिया गया वही अपने वजूद को फिर से उकेर रहा है, आज भी यह लोक शहरों से दूर गांव में बसा हुआ नजर आता है जिसके अपने संस्कार हैं, अपने व्यवहार हैं और आचार विचार भी शहरों से बेहद अलग से नजर आती हैं, शहरों में जो दूरियाँ हैं वे उस गाँव की लोक-संस्कृति में नहीं, शहरों में जो खालीपन अजनबियत सूनापन फैला हुआ है पर गांव की लोक संस्कृति में नहीं, यहां सब सगे से महसूस होते हैं पर शहरों में मौजूद अंतराल हर संबंध की सतही बना रहा है। आधुनिकता में परिवर्तन लाजमी है पर अपने-पराये का अर्थ भी खो चुका है, लेकिन लोक की संस्कृति में आज भी कुछ संभावनाएँ शेष है।

केदार जी कविता इसी भूले-बिसरे लोक को वहीं जाकर तलाश रही है जहां इसका होना अपनी हर संभावित सत्यता के साथ मौजूद है, जो खत्म नहीं हुआ है। सदियों से एक कहानी गाढ़ी गई है- 'लोक संस्कृति की कहानी' वह पुनः स्थापित हो रही है 'जमीन पक रही है' काव्य-संग्रह में बसा हुआ नजर आता है-गाँव जहाँ दूर-दूर तक फैला है धान की खेत, धान की सुखी पत्तियों की गंध, बोझा, खलिहान, लहलहाती गेहूँ की बालियां, मक्के की खेत, बाजरे की कालिया, मिट्टी की कच्ची पगडण्डीयाँ, नीम, पीपल, बबुल के पेड़, आम-अमरूद-कटहल के बगीचे, पेड़ों की छांह में सुस्ताते मजदूर, गीत गाती गुनगुनाती नदियाँ, चूल्हों से आती आँच की खुशबू, जलकुंभी,

दियासलाई, सर्द रातों, मौसमों की नमी, बाजार जाने से इंकार करती दाने, फागुन के गीत, विदाई गीत, धान की गीत, फसल के गीत, दोपहरी के गीत, देवी गीत, खोइछा देने की प्रथा, कुम्हार, बढ़ई, कुल्हाड़ी, कुदार, हसुआ, खुरपी, पनघट पर जाती पनहारी, चूड़ीहारिन, शाम में चिड़ियों की चहचहाहट, सुबह में कोयल की मधुर आवाज, सांझ में जंगल से आती जानवरों की झुंड, गाय-भैंस चराते चरवाहे, जानवरों का वथान, फसलों की क्यारी, आहर, मिट्टी के घर, पटवन करते किसान, कुँआ से पानी पिलाता चारवाहा, चाड चलाता मजदूर, ढेकी में चावल की कुटाई, जाता में गेहूँ की पिसाई, सिलवटा पर मसाला, पसगी जोड़ना, धान के आटी से खांज खांजना, फसलों की पिटौनी, मेह में दमाही करना, मचान, पौनिया, घास के गट्ठर, भूसे की गंध, पडरौना के बाजार, तरह-तरह के व्यंजन.. .इत्यादि। ग्रामीण समाज के बेहद नजदीक लेकर जाती है- दूर तक फैले खेत, फसलों का कटना, बोझी का बंधना, मंडी जाने से इंकार करते दाने-

''नहीं हम मण्ड़ी नहीं जायेंगे
खलिहान से उठते हुए
कहते हैं दाने''
आँसू का वजन

कवि केदारनाथ सिंह अपने जीवन के विलक्षण अनुभवों को 'जमीन पक रही है' कविता-संग्रह में संजोया है। काव्य संग्रह में कम-कम व सरल शब्दों में समाज की सच्चाई, जीवन का यथार्थ, राजनीति का कड़वापन, सब कुछ बिम्बों का सहारा लेते हुए बड़े ही सटीक रूप में, मन को सीधा उद्वेलित करते हुए, सपाटबानी से दूर रहते हुए तथा काव्य-शिल्प के नए मानदंड गढ़ते हुए, कुछ यूँ कह दिया जाता है, जो लंबे समय के लिए मानस पटल पर अपनी छाप छोड़ जाता है। उनकी कविताओं में परंपरा और आधुनिकता दोनों को एक साथ खुद में समेट लेने की विशिष्टता एवं वैचारिक सांद्रता मौजूद होती है। 20वीं सदी के अंतिम दशक में धूमिल, नागार्जुन, मुक्तिबोध व त्रिलोचन जैसे बड़े कवियों की परंपरा में कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय जैसे समकालीन कवि जुड़कर देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को उजागर किया वहीं केदारनाथ अपनी कविता में दानों के महत्व, रोटी की चिंता और मानवीय संवेदनाओं को रेखांकित किया। इन्हीं तीन बातों से जुड़कर हिन्दी काव्य-साहित्य को एक नया आयाम दिया। हालांकि उन्होंने इन विषयों से हटकर भी कविताएँ लिखीं, किंतु जहाँ भी केदार की कविताओं दानों का उल्लेख किया गया है, वहाँ कवि परंपरा की ओर जाते हुए, मनुष्य के अस्तित्व के उद्‌गम की ओर आगे बढ़ते हुए तथा किसी प्रवृत्ति के मूल की ओर जाने का प्रयास करते दिखते हैं। जहाँ भी अनाज, दानों, रोटी की बात की जाती है तो उनका संकेत भूख की ओर, संघर्ष की ओर तथा ग्रामीण जीवन की आर्थिक विषमता की ओर होती है—

''आप विश्वास करें
मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ।''

(रोटी, पृष्ठ संख्या 24)

एक ऐसे लोक को रचा जा रहा है जो सिर्फ और सिर्फ उस लोक में तलाशा जा सकता है जो आज भी गांव में बसा हुआ है। शहरों में न तो धान की गंध है, न ही आलुओं की महक, न चुल्हे की आग की खुशबू, न कटते पुआल की गंध, न ही लोकगीत...वहां है तो सिर्फ और सिर्फ धुआं उगलती गाड़ियों की शोर मचाती आवाजें, सड़े-गले मांस की गंध, दमघोंटू हवाओं की सनसनाहटे आदि। शहरों में वे लोक मौजूद नहीं है जो 'जमीन पक रही है' काव्य-संग्रह में बेहद आसानी से ढूंढा जा सकता है। 'जमीन पक रही है' काव्य-संग्रह में ग्रामीण समाज की आत्मा को, लोक जीवन-संस्कृति, बहुत गहराई से बयां करते हैं। आधुनिकता के दौर में जिन विषयों को नकारा गया है, जिस पर किसी का ध्यान नहीं गया उन विषयों एवं वस्तुओं को केदार अपनी कविता का विषय बनाते हैं, यहाँ से विषय महत्वपूर्ण हो जाते हैं। (जैसे—माँ, चक्की, बैल, बाघ, बढ़ाई, चिड़िया, कुल्हाड़ी, रोटी, सूर्य, नदी आदि) 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' एक ऐसी कविता है जो लोक पक्ष के समस्त आयामों, रीति रिवाज, लोकगीत, लोककथा, लोक परंपरा, लोक विश्वास, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सामाजिक संरचना, लोक मनोविज्ञान और ग्रामीण - शहरी द्वंद्व सभी को एक पटल पर चित्रित करता है। यह कविता एक साधारण मनोरस को असाधारण मानवीय संवेदना के माध्यम से प्रस्तुत करती है। 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' कविता में केवल एक बुढ़िया की कहानी नहीं है बल्कि संपूर्ण भारतीय ग्रामीण जीवन के श्रम, जीवन-संघर्ष और आत्मसम्मान को जीवंत चित्रण करता है। 'बुढ़िया' के माध्यम से भारतीय समाज के उस लोक-चेतना को वाणी दी है, जो कठिन परिस्थितियों में भी अपने जीवन को आत्मसम्मान के साथ आगे बढ़ाती है। खत्म

होने के दौर में सब कुछ खत्म हो रहा है लेकिन बुढ़िया इस दौर में अपने आत्मसम्मान को बचाये रखती है यही भारतीय ग्रामीण लोक संवेदना या पक्ष है।

केदार जी का कवि समेट रहा है लोक विश्वास, लोकगीत, मान्यताएँ, अवधारणाएं, रीति-रिवाज, बेहद नाजुक, बेहद सुंदर, गाँव की सारी-सारी भावभूमियाँ को, जो भारतीय सभ्यता-संस्कृति में रचे-बसे हैं तथा जो आधुनिकता के दौर में खोते जा रहा है उसे केदार जी अपनी कविता में बचा लेते हैं। गांव के ये विश्वास एक पिता पुत्र के बताते हैं-अगर कभी लाल चीटियाँ दिखाई पड़े तो समझना आँधी आने वाली है, सियार की आवाजें सुनाई पड़े तो समझ जाना बुरे दिन आने वाले हैं। यह विश्वास गांव में समाएं हैं- अगर रात में रास्ता भूल जाओ तो कुत्ते के भौंकने की आवाज से रास्ता ढूँढ़ लेना, रविवार की पश्चिम नहीं जाना, बुध को उत्तर नहीं जाना सभी विश्वास केदार जी कविता व समय के सच के रूप में नजर आ रहे हैं जिसे आज का इंसान शायद ही समझ पाए। सामाजिक यथार्थ का चित्रण कवि अपनी कविता के माध्यम से किया है। गीतों के माध्यम से कवि ग्रामीण जीवन और प्रकृति के बीच संबंध को स्थापित करते हैं। गाँव में फसल की बुनाई, कटाई करते समय महिलाओं द्वारा गीत गाए जाते हैं। जब बाढ़ या सुखाड़ की स्थिति होती है तब वहाँ उदास मन प्रकृति से भावात्मक संवाद करतें हैं। उनके गीतों में प्रकृति, गांव और मानवीय संवेदनाओं का गहरा और सुंदर चित्रण मिलता है—

''धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे,
उगेंगे हमारे खेत में!''

(धानों के गीत, पृष्ठ संख्या 140)

विदाई की क्षणों को बहुत ही भावुकता से पिरोया गया है। ग्रामीण जीवन के शादी में कई-तरह के रीति-रिवाज होते हैं। इसमें मटकोर, परिच्छावन, हल्दी कुटाई, कन्यादान आदि शामिल है। शादी के कार्ड में हल्दी और दुविया घास उसके ऊपर लगाए जाते हैं जो शुभ का प्रतीक है। कन्या के आँचल में चावल, हल्दी दिये जाते हैं जिसे खोईछा भराई कहा जाता है। ये परंपराएँ, मान्यताएँ, आस्था, विश्वास जो आज भी ग्रामीण लोक संस्कृति में मौजूद हैं और इसी लोक संस्कृति को केदार जी अपनी गीतों के माध्यम से संजो लेते हैं। जहाँ शहरों में रहकर भी कवि उस लोक को बचा लेते हैं जो आज की आधुनिकता के दौर में अपना अस्तित्व खोता जा रहा है।

''रुको, आँचल में तुम्हारी,
यह समीरन बाँध दूं!''

(विदा-गीत, पृष्ठ संख्या 148)

केदारनाथ लोक जीवन को अपनी कविता का केंद्रीय विषय बनाते हैं। उसमें पशु-पक्षी, नदी, माँद, मिट्टी, किसान, मजदूर, माँ और पूरी की पूरी ग्रामीण जीवन की सभ्यता-संस्कृति, लोकभाषा से पूर्ण है। केदार जी शहर के चकाचौंध से अधिक गांव की सादगी, गवांइपन, ईमानदारी और श्रमशील जीवन की ओर झुके दिखाई देते हैं। 'लोक' केवल गाँव नहीं है बल्कि मानव की मानव से जोड़ने की बात है। शहरीकरण और भूमंडलीकरण ने न केवल ग्रामीण जीवन, रीति-रिवाज आदि को ध्वस्त किया है बल्कि मानव की आवाज को छिन लिया है। मजबूरन केदार जी की शहरों में रहना पड़ा लेकिन इस बीच वे अपनी ग्रामीण जीवन, सादगी की जीवंत रखें और आधुनिकीकरण में ग्रामीणों की आवाज बनें। वे जड़ों की ओर लौटने की बात करते हैं जहाँ खेत-खलिहान, पेड़-पौधों, पक्षी मौजूद हैं, लेकिन आज की दुनिया इनके अस्तित्व को समाप्त किये जा रहा है। ग्रामीण जीवन के श्रम को दिखाते हैं, कवि अपने शब्दों को खेतों में, पौधों की जड़ों में, पकते हुए दानों के भीतर देखता है। चक्की की आवाज, आटे की गंध, माँ की आवाज यहाँ सब कुछ महत्वपूर्ण है जो कविता की विषय 'आवाज' बनकर आया है। पूरी कविता में लोक संस्कृति को गढ़ा गया है, एक ऐसी संस्कृति जो समय के साथ खत्म होता जा रहा है। भागम-भाग भरी जिंदगी में मानव खुद को अपनी ग्रामीण जड़ों से इतना दूर कर लिया है कि अकेलापन, घुटन-दर्द भरी जिंदगी जीने को विवश है। कवि यहाँ शहर और ग्रामीण संस्कृति की तुलना नहीं करते हैं लेकिन शहरों में जो अपनों के बीच दूरियाँ हैं, अकेलापन है, वे सब सामने आ जाता है। कवि इस काव्य-संग्रह को शहर में बैठकर गढ़ते हैं जहाँ शहरों के दमघोंटू हवाएं, भागम-भाग भरी जिंदगी में पुरानी स्मृतियाँ याद आती हैं।

स्मृतियाँ बरबस उस ओर खींच लिए जाती हैं जहाँ न दूरी है, न रिश्ते में बिखराव है, एक अपनेपन का एहसास है, सामूहिकता है, जहाँ से खुद जो एक पहचान मिलती है, यही यादें कवि को 'जमीन पक रही है' जैसी कविता लिखने को विवश करती है और पूरी की पूरी लोक संस्कृति को ग्रामीण शब्दावली के साथ बारीकी से गढ़ देते हैं।

शोधार्थी, हिंदी विशेष (चतुर्थ वर्ष)
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

1. केदारनाथ सिंह, 'जमीन पक रही है', प्रकाशन संस्थान, पंचम संस्करण–2012
2. केदारनाथ सिंह, 'अभी बिल्कुल अभी', राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995
3. केदारनाथ सिंह, 'यहाँ से देखो', राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
4. केदारनाथ सिंह, 'अकाल में सारस', राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण–1999
5. केदारनाथ सिंह, 'तात्सताय और सायकिल', राजकमल प्रकाशन, संस्करण–2005
6. केदारनाथ सिंह, 'आँसू का वजन', राजकमल प्रकाशन, 2019
7. केदारनाथ सिंह, 'मेरे समय के शब्द', राजकृष्ण प्रकाशन, 1993
8. केदारनाथ सिंह, 'मेरे साक्षात्कार', किताबघर प्रकाशन, संस्करण–2004
9. केदारनाथ सिंह, 'कवि ने कहा', किताबघर प्रकाशन, 2014
10. हेमंत कुकरेती, 'भारत की लोक–संस्कृति', प्रभात प्रकाशन 2018, पृष्ठ संख्या 1–38
11. केदारनाथ सिंह, 'बाघ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–2009, पृष्ठ संख्या–49
12. केदारनाथ सिंह, 'सृष्टि पर पहरा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2014
13. केदारनाथ सिंह, पत्ता–पत्ता बूटा–बूटा गद्य रचनाएँ प्रकाशन 2019, पृष्ठ संख्या–110
14. अज्ञेय, तीसरा सप्तक, दसवाँ संस्करण, 2005, पृष्ठ 135

शोध-पत्र

सतरंगे पंखों वाली (काव्य-संग्रह) में हाशिए के समाज का यथार्थ

दीक्षा सिंह

मनुष्य का इतिहास केवल सुख सुविधाओं और उत्सवों का इतिहास नहीं है और न केवल सत्ता, वैभव और उपलब्धियों का, बल्कि उन असंख्य आवाजों का भी है जो समय के शोर में दबा दी गईं। ये आवाजें कभी पीड़ा में चीखती हैं, कभी अपने वजूद की तलाश के प्रतिरोध में उठती हैं, कभी अपने अस्तित्व पर प्रश्न करती हैं और कभी कविता बनकर हाशिए से केंद्र की ओर प्रश्न उछालती हैं। नागार्जुन की कविताएं इसी दबी, कुंचित, कुंठित व्यवस्था और वंचना का शिकार हुए हर उस दबे कुचले वर्ग की चीत्कार है जिसमें दलित की वेदना भी है, स्त्री की पीड़ा भी है, किसान मजदूर वर्ग भी और आदिवासी का संघर्ष भी।

मैं कौन हूं? मेरा नाम क्या है? मेरा वजूद क्या है? मुझे नहीं मालूम। दरअसल, इस समाज ने मुझे न तो कोई अपना नाम दिया और ना ही वजूद। क्योंकि प्राय: मेरे जैसों को सिर्फ एक नाम से संबोधित किया गया, 'हाशिए या हाशिए के लोग।' यह नाम मुझे सामाजिक दायरों के तहत दिया गया या भौगोलिक-राजनीतिक स्तरों के तहत, मुझे नहीं मालूम। मेरे तो अस्तित्व को भी बरबस दरकिनार कर दिया गया। अपने वजूद की तलाश में, खुद के पहचान की एक बेखौफ टीस-सी उठती कि अपना नाम रख लूँ। लेकिन आखिर क्या नाम रखूँ? इतिहास खोजूँ, शब्दकोश ढूंढूँ, वेद पढ़ूँ या शास्त्रों में ढूंढूँ? शायद वहाँ मिथकों में मेरे जैसा कोई मिल जाए जिसका अपना अस्तित्व हो। जो मेरे जैसे 'हाशिए के लोग', 'असभ्य', 'पिछड़े वर्ग' को मिटा, मेरे व्यक्तित्व के वजूद को जीवंत कर दें। जो मेरे अस्तित्व, मेरे भावनाओं, मेरे विचारो, मेरी आकांक्षाओं और मेरी प्रतिभा पर उठाए गए हर उस सवालों को कुचल दे जिसने मेरे सतरंगी परों को जकड़ रखा है।

नागार्जुन हाशिए के इसी संसार को स्वरित करते हैं, जीवंत करते हैं। एक ऐसा स्वर जो अपने अस्तित्व के लिए न्याय, संवेदना और वजूद तीनों की माँग करता है। ऐसा काव्य संसार जो न केवल सौंदर्य और अनुभूति का ही नहीं बल्कि कल्पना के स्वर से परे, प्रतिरोध के स्वर को संजोती हुई उस जीवंत अनुभवों की जमीन है जहाँ भूख, बेघरपन, शोषण, अन्याय और संघर्ष का यथार्थ पल पल सांस लेता हैं।

एक ऐसा काव्य संसार जहां मौत भी है, बुढ़ापा भी है, दो टूक जमीन भी है, स्त्री भी है, किसान, झुकी हुई पीठ, तनी हुई रीढ़, मलाहों के नंग धड़ंग छोकरे, नंगे पैर, नंगा सिर, समूचा नंगा बदन, थकी पकी तनी घनी भौंहे, दुधिया निगाहें, नाकहीन मुखड़ा, नीली नसों वाले ढलके पपोटे, सादी मुस्कान, धंसे धंसे गाल, हिलते होंठ, फटी बिवाइयां, कौंधी सी चितवन, पुलकित तन- मुकुलित मन, दंतुरित मुस्कान, हथेली का स्पर्श, निराकुल सांसें, कर्णकुहार, सन्नाटा, बीड़ी, मगही पान, माचिस की तीली का घिसना, रबड़ विहीन ठूंठे पैडल, चूल्हा, चक्की, धुएं के छल्ले, सिगरेट, नरम नरम दूब की सींक, गूलर, गंगा की मछली, यमुना की मछली, काले काले भौंरे, कानी कुतिया, छिपकलियां, सतरंगी तितली, छरहरी टहनी, अमराई, अलसी के नीले फूल, कमल की पंखुड़ियां, बौने की छाल का रेशा, चमेली का तेल, रेत के कण, जहरीली घास, राजपथों की काई, मलिन धूसर केस, तिकोने नाखून वाली उंगलियां, सुर्ख नेलपालिश, कानों के मणिपुष्प, मधुमक्खी के झुंड, सुनहली धूप, शीत समीर, नीम की टहनियां, शिशिर की दुपहरी, पकी सुनहली फसलें, धान कूटती किशोरियां, गंवई पगडंडी, माघ

की ठिठुरन, गालियां, भाई का प्यार, बहन की ममता, मीत के नेह-छोह, युवक, युवतियां, आक्रोश, अभिशाप, दरिद्रता, आम जनता का असंतोष, कंकाल, कुलिश कठोर खुरदुरे पैर से लेकर अकाल और उसके बाद की परिस्थितियों का दस्तावेज शामिल है—वह कविता है नागार्जुन की।

ढाई पसली के घुमंतू जीव, तन-जर्जर दुख-दैन्य ग्रस्त व्यक्ति, गृहस्थी का भार, अपमानित, शोषित, कुंठित, निरीह, फिर भी क्या ताकत है, नागार्जुन की कविताओ में।

एक ऐसे समाज की उत्पत्ति न तो कोई आकस्मिक घटना है और न ही इसकी उत्पत्ति आधुनिक मनुष्यता के दौर में हुयी। इस समाज की उत्पत्ति तो प्राचीन युगों से (वेदों, पुराणों, ग्रंथों से चली आ रही) सहस्त्र वर्षों के सुनियोजित विचारों और बहुआयामी दमन का परिणाम है। हालांकि रामायण के युग में समाज में किसी तरह का वर्ग विभाजन नहीं रहा है उस दौर में जन्म के अनुरूप व्यक्ति की पहचान नहीं थी (जाति के आधार पर नहीं) वरन् वह पहचाना जाता अपने गुणों ,कर्मों व व्यवसाय के आधार पर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र व्यक्ति के गुणों और पेशे पर निर्भर व्यवस्था थी, एक ऐसी व्यवस्था जो कर्त्तव्य को उन नियमों से बांध रही थी जिसके दायरे व्यक्ति खुद बाखुद बनता और उनका अनुसरण भी करता जहां वह नैतिकता का उल्लंघन नहीं करता, जहां कोई भेदभाव नहीं था, राम राज्य की कहानी एक आदर्श को निभा रही थी। वनवास की राहें राम को कभी शबरी के जूठे बेर खिलाए रही थी तो कभी केवट की नैया को स्पर्श कर रही थी, न राम शबरी की जात पूछते, न केवट की। जाने कितनी आदिवासी जातियां उन्हें राहों में गले से लगा रही थीं, पर कहीं नहीं थी दूरियां, अलगाव, भेदभाव, यहां नजर आता है सिर्फ और सिर्फ वनवासी राम का निश्छल प्यार।

महाभारत का दौर आया (प्यार) और ये परिभाषा बदलने लगी अब न सिर्फ समाज बदल रहा था अब बदलने लगी मानव की सोच व्यवहार और वर्ण व्यवस्था, किंतु नैतिकता सदाचार का उल्लंघन अभी भी नहीं हुआ, वर्ण व्यवस्था कर्म पर अभी भी टिकी हुई है लेकिन सोच, विचार, तर्क ने यहां अपनी जगह बना ली और बदलने लगी मूल्य व्यवस्था महाभारत का समाज राम की सोच से अलग नजर आने लगा।

धीरे-धीरे समय बदला, सोच बदली और बदलने लगी समाज व्यवस्था। उत्तर वैदिक काल तक आते-आते वर्ण व्यवस्था ने एक अलग ही रूख अपनाया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अब जन्म से पहचान बना रहे थे, जहां दरकिनार होने लगे शूद्र, जिन संस्कारों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने व्यवहार में शामिल कर अपना हक घोषित करने लगे वहीं शूद्र उनसे वंचित कर दिए गए। यज्ञ, पूजा, पाठ, उपासना जैसे कार्य ब्राह्मणों ने ले लिए। क्षत्रिय युद्ध अस्त्र-शस्त्र से अपनी पहचान बना रहे थे, वैश्य व्यापारी हो गए और फिर दरकिनार हुए शूद्र, जाति व्यवस्था हर पल कठोर होने लगी जिसके अपने ही नियम बन्धन व अनुशासन थे। इस दौर के कुछ समयपरांत भारतीय समाज आगे चलकर जिस दिशा में आगे बढ़ा, वहाँ पर हाशिए का वर्ग न केवल उपेक्षित हुआ बल्कि इन वर्गों की पहचान अब व्यक्तिगत कर्मों से नहीं बल्कि जन्म आधारित, सामाजिक ढांचों और धार्मिक मान्यताओं संरचनाओं द्वारा निश्चित कर दी गयी। अब इनकी योग्यता, कर्म या परिस्थितियों से नहीं बल्कि धर्म, कानून, सामाजिक संरचनाओं के आधार पर इन्हें एक तय पहचान दे दी गयी। यानी व्यक्ति जो कर सकता है, जो है उससे अधिक महत्वपूर्ण हो गया वह किस वर्ग में जन्मा है। वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित होती गयी तथा शूद्र, स्त्री, श्रमिक-किसान, मजदूर वर्ग, आदिवासी, दास-दासी आदि अब केवल और केवल गरीब या अपने अधिकारों शक्तियों से वंचित नहीं रहे बल्कि व्यवस्था ने उन्हें सीमित भूमिका दे दी। जैसे किसको शिक्षा मिलनी चाहिए? किसे धार्मिक अधिकार है किसे नहीं, किसे सत्ता के, व्यवस्था के निकट होने का अधिकार है? कौन श्रम का, सेवा का अधिकारी है कौन नहीं? ये सब बातें कोई व्यक्ति विशेष नहीं बल्कि व्यवस्था तय करने लगी। संस्कारों, परंपराएं, मान्यताएं, अवधारणाएं को और गहराई तक वर्ण व्यवस्था में शामिल कर दिया, और फिर उपेक्षित हुआ हाशिए का समाज।

आगे चलकर हाशिए के दौर में परिवर्तन तो होता है, विकास होता है। साहित्य के क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में, उत्कर्ष तो हुआ पर यह उत्थान समाज के कुछ विशेष वर्गों तक ही सीमित रहा। कालिदास का साहित्य, अजंता की चित्रकला, मंदिरों की स्थापना इत्यादि धर्मों का विस्तार हुआ लेकिन इसका पूर्णत: लाभ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे सत्ता सम्पन्न वर्गों को मिला। दरबार, पढ़े लिखे, उच्च जाति के समाज तक सीमित रहा। वहीं दलित, शूद्र, स्त्री, श्रमिक मजूदर, किसान वर्ग समाज इस स्वर्ण युग से लगभग बाहर ही रहे। ''क्या यह समृद्धि सभी जनमानस के लिए समान थी'', ''ये परिवर्तन किसके लिए था?'', ''ये स्वर्ण युग किसके

लिए था''-ये प्रश्न यहीं से उठता है।

सैकड़ों वर्षों के संघर्ष के बाद जब स्वतंत्र भारत देखने का सपना पूरा होता है यहीं से हम नागार्जुन के युग में प्रवेश करते हैं। यह वह समय है जहाँ भारत विदेशी सत्ताओं की नीतियों से, उनके सत्ता स्थापना से स्वतंत्र है, मुक्त है। लोकतंत्र स्थापित हो चुका है। और आधुनिकता के इन दौर में मनुष्य केंद्र का विषय रहा है। पर मनुष्यता के इस आधुनिक दौर में भी कहीं न कहीं वो भूख, गरीबी, शोषण और असमानता अब भी जीवित है, पनप रही है। चूंकि सामाजिक रूप से चेतना में परिवर्तन रातोंरात नहीं होता। व्यक्ति की मानसिकता रातोंरात नहीं बदलती। सत्ता नीतियों द्वारा छोड़ी गई छाप लोगों की मानसिकता आजादी के बाद भी थी। नागार्जुन की रचनाओं में समाज के इन दृश्यों का बखूबी चित्रण है। इनका समाज न तो रामराज्य का समाज है और न ही महाभारत की द्वंद्व नीतियों तक सीमित है। यह वह समाज है जहाँ हाशिए पर स्थित हर वो मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहा है। और यह समाज करुणा, सहानुभूति, दया के मोहताज नहीं अपितु संघर्षरत चेतना के रूप में अडिग है।

इनका 1959 में प्रकाशित काव्य संग्रह 'सतरंगे पंखों वाली' में ना केवल सामाजिक यथार्थ का जीवंत दर्पण है बल्कि अपनी अस्मिता को कभी ना पाकर भी खो देने को विवश हो जाने वाली मर्मस्पर्शी दास्तां है। ये उस दुनिया को स्वर देते हैं जिसे समाज ने हमेशा अनसुना किया है।

यहाँ शीर्षक स्वयं प्रतीक के रूप में है, हाशियाकृत वर्ग की विविधतापूर्ण सतरंगी इच्छाओं को पंख प्रदान करने का, जो शोषण के बंधनों से मुक्ति की कामना को दर्शाता है। इस संग्रह की कविताएं स्वयं ही दलित, किसान, महिलाओं और ग्रामीण मजदूर के दैनिक संघर्षों को आशा के सतरंगे रंगों में रंगती है। जिसमें दलित की वेदना भी है, स्त्री की पीड़ा भी है, किसान मजदूर वर्ग भी और आदिवासी का संघर्ष भी।

रचनाकार अपनी इन आवाजों को एक साथ समेटता है, स्वरित करता है और यही स्वर साहित्य को सत्ता के केंद्र से निकालकर उसे दमनकारी व्यवस्था के जंजाल से मुक्त कर सामाजिक यथार्थ तक पहुंचा देते हैं। यही कारण है कि इनकी कविता केवल कला ही नहीं बल्कि मानवीय वेदना का दस्तावेज बन मुखरित होती है।

'सतरंगी पंखों वाली' काव्य-संग्रह इसी यथार्थ का रंगीन, बहुआयामी दस्तावेज है। सतरंगी शब्द ना केवल रंगों का प्रतीक हैं, बल्कि समाज के उन विभिन्न हाशियाकृत समुदायों स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर अल्पसंख्यक वर्ग के अनुभवों का, उनकी जज्बातों का, संवेदनाओं का प्रतीक है। यह पंख उसी जनता की उड़ान है जिसे इतिहास ने, सत्ता ने, समाज ने, व्यवस्था ने बार-बार जकड़ने की कोशिश की है।

जगमगा उठे धँसे-धँसे गाल
फिर तो मुसकुराई मासूम आशीष
सतरंगे पंखों वाली पवित्र तितली
खिले मुख की इर्द-गिर्द लग गई मडराने
आहिस्ते से गुनगुनाई-

(सतरंगे पंखों वाली कविता पृष्ठ सं 12)

इनके भी अपनी भावनाएं हैं, अपने विचार, अपनी आकांक्षाएं और अपनी प्रतिभाएं भी है। ये सतरंगी पंख इनकी इन्ही इच्छाओं को, इनकी आकांक्षाओं, इनके अस्मिता को पर देते हैं।

इनके लिए कविता वह आवाज है जो सत्ता के गलियारों में नहीं गूंजती, बल्कि खेत-खलिहानों, कारखानों, झुग्गियों, गलियों और चौपालों में पनपती है। कवि की नजर साइकिल पर बोझा ढो रहे श्रमिक, झुकी पीठ पर पड़े हथेली के स्पर्श, गूलर के पेड़ों, तनी हुई रीढ़, मलाहों के नंग धड़ंग छोकरों, गंगा जमुना की मछलियों, श्वेत जल, फटी बिवाईयों वाले गुठल कुलिश कठोर खुरदुरे पैरों, दूधिया निगाहों, दूर-दूर तक फैले अमराई के बगिया, नीम की टहनियों, गांव की गलियों और घरों के छतों और खपरैलों जैसे दृश्यों पर पड़ती है जो उसके हृदय में धर कर जाते हैं। प्रस्तुत काव्य संग्रह में कविता खुरदुरे पैर, तन गई रीढ़, अकाल और उसके बाद इत्यादि कविताएं इसका जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

1952 में रचित इनकी कविता, अकाल और उसके बाद में एक साधारण भारतीय परिवार एवं परिवेश के भुखमरी की नंगी तस्वीर प्रस्तुत करती है।

''कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद

कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।''

(अकाल और उसके बाद, पृष्ठ सं 32)

एक छोटी सी कविता होने के बाद भी, इसमें जो अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है, वो वाकई अद्‌भुत है कि अकाल के बाद एक साधारण भारतीय परिवार किस प्रकार से भुखमरी की पीड़ा को झेलता है। कवि केवल उसकी व्याकुलता तक ही सीमित नहीं रहते हैं, बल्कि सशक्त अभिव्यक्ति के द्वारा वह उस परिवेश के कण-कण में व्याप्त व्याकुलता को भी अपनी कविता का विषय बनाते हैं।

'चूल्हा रोया', 'चक्की रही उदास' जैसे अद्‌भुत प्रयोगों के माध्यम से अकाल के बाद अनाज के अभाव की अभिव्यक्ति और उस परिवेश में व्याप्त भूख की व्याकुलता की सशक्त सांकेतिक अभिव्यक्ति है यह कविता।

भूख केवल उन चार सदस्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि पूरे परिवेश में व्याप्त है। इस बात को महसूस करने की आवश्यकता है, जो कवि नागार्जुन ने अपनी कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

इस भूख से गरीब किसान भी पीड़ित है, हाशिए का हर वर्ग इसकी चपेट में है। नागार्जुन की कविता में हाशिए का वर्ग, ऐसा वर्ग है जिसको बार बार दरकिनार कर दिया गया, न सिर्फ उसके वजूद को नकारा गया अपितु उसके साथ साथ उसको एहसास करवाया गया जहां उसकी जिंदगी वीरान है जहां उसका मन रीढ़ गया है, रीता हुआ मन है, जहां बार-बार वो दिशाहीन हो जाता है उसे समझ नहीं आता उसकी जिंदगी उसे किस ओर ले कर जा रही है। भ्रांत सी प्रतीत होती है, कभी दुखित सा होता है कभी वो अपने होने के एहसास को लेकर दीन हीन, दलित सा महसूस करता है।

रीते मन!
छूछे मन!
खाली मन!
दिशाशून्य, इंगितहीन!
भ्रांत-क्लांत, दलित-दीन!
भीतर के भयभीत!
बाहर के युगजीत!
क्षुद्र मन, छिछोर मन!
डाकू मन, चोर मन!
बेहद भगोड़े मन!

(और तू चक्कर लगा आया तमाम, पृष्ठ सं 54)

भीतर से भयभीत है वो व्यक्ति, जिसके वजूद को समाज ने उसको इस कदर ठुकरा दिया है इस कद्र डरा है कि वो अंदर ही अंदर छिन भिन्न हो गया है। उसे नहीं मालूम, क्या है उसके अस्तित्व की परिभाषा, क्या है उसके वजूद की पहचान? या उसका अस्तित्व भी है इस समाज में? उसकी जीवन स्थितियों ने उसे एक ऐसे मकाम पर ला खड़ा कर दिया है कि वो समाज का विद्रोह करता हुआ डाकू सा मन, चोर सा मन कभी इसी समाज से पलायन करता है, निराकुल है उसकी श्वासें, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है, छितराया है, ऐसा लगता है टूक टूक होकर वो बिखर रहा है। कहीं समाज उस पर हंसता हुआ नजर आता है, कहीं गालियां कहता, कहीं आक्रोश जाहिर करता समाज है।

नागार्जुन इसी परिवेश को देखकर जनता का प्रतिरोध स्वरित करते हैं। व्यवस्था के ऊपर व्यंग्य करते हैं कि किस प्रकार ठगती हुई, स्वार्थ सिद्धि करती हुई धोखा देती हुई व्यवस्था नजर आती है। अपनी सुख सुविधाओं के खातिर वर्ग विशेष को मोहरा बनाता है।

''इकन्नी भर स्वेच्छा-सुख की खातिर सदैव तरसाया है
वक्त-बेवक्त विधि का, निषेध का बादल बरसाया है
ठगा है पग-पग पे, बात-बात में दिया है यूं ही दिलासा
खुद की सनक के पीछे रखा है तुझे भूखा-प्यासा।''

(और तू चक्कर लगा आया तमाम, पृष्ठ सं 55)

उच्च वर्ग का समाज उत्थान की ओर अग्रसर होता चला जा रहा है और निम्न वर्ग का समाज पतन की स्थिति में वहीं दरकिनार स्थिति में है इसलिए वह हाशिए पर आता चला जा रहा है। जातीयता के नाम पर आज भी लोग बँटे हैं, आज भी वही उच्च और निम्न वर्ग का भेद है। नागार्जुन की कविता में हाशिए का वर्ग, ऐसा वर्ग है जिसको बार-बार दरकिनार कर दिया गया, न सिर्फ उसके वजूद को नकारा गया अपितु उसके साथ साथ उसको एहसास करवाया गया।

नागार्जुन की यह अभिव्यक्ति जो कविता के माध्यम से बयां हुई है, किसी की भी पीड़ा को उसके हृदय को छूने की सामर्थ्य रखती है क्योंकि हृदय की संवेदनशीलता वह किसी वर्ग विशेष की मोहताज नहीं होती है।

नागार्जुन का समाज के इसी अनुभूति को इन्हीं 'जमीनी यथार्थ' से जुड़ने, कहने, जीने, कहने, सोचने, समझने और महसूसने, जुड़ने और होने को ही अपनी कलम का विषय बनाते हैं।

इनकी कविताएं अलग-अलग भावभूमि को लेकर लिखी गई हैं। कहीं पर कवि प्रकृति सौंदर्य (बसंत की अगवानी) में डूबता है और भारत की वर्तमान स्थिति (अकाल और उसके बाद) पर लौट आता है, कहीं पर वह राजनीतिक षड्यंत्रों और जालसाजी (आओ रानी हम ढोएंगे पालकी) से पीड़ित होकर व्यंग्य करता है, चोट करता है राजनीतिक व्यवस्था पर। कहीं पर मानवता की दुहाई (मनुष्य हूं मैं) देता है, अपने मनुष्य होने की बात करता है और कहीं तानाशाही शासन का विरोध (शासन की बंदूक) करता है। हाशिए के समाज का ऐसा कोई वर्ग नहीं, ऐसे कोई सच्चाई नहीं, ऐसी कोई अनुभूति नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है जिसको इन्होंने अपनी कविता का विषय नहीं बनाया हो। यही कारण है कि ये आगे चलकर जन कवि के रूप में प्रचलित होते हैं। जो केवल मौन, सहनशील ही नहीं बल्कि सजग, प्रश्नाकुल और व्यवस्था से टकराता हुआ, समाज पर, सत्ता व्यवस्था पर चोट करता हुआ दिखाई देता है। ये हाशिए का वर्ग कमजोर, शोषित, दया, सहानुभूति का मोहताज नहीं बल्कि मजबूती, संघर्ष, प्रतिरोध और अस्मिता का प्रतीक बन सामने आया है।

यहाँ हाशिया कोई कल्पनात्मक, वैचारिक अथवा अमूर्त नहीं है बल्कि 'जिया गया सत्य भोगा गया यथार्थ' है। भूखा है, अपमानित है, निरीह है, निर्बल है, शोषित है, पीड़ित है, कुंठित है, प्रताड़ित है पर चुप नहीं। वे सत्ता से सवाल करते है, व्यवस्था पर प्रश्न करते हैं, करारी चोट करते हैं। व्यवस्था को बेनकाब कर रहे हैं नागार्जुन अपनी कविताओं के माध्यम से। इनके युग में यही किसान, मजदूर, दलित, निचली जाति का वर्ग प्रतिरोध का स्वर बोलता है कि किस प्रकार कोई रचना के जरिए पूरा का पूरा युग बोल रहा है। पूरा का पूरा युग स्वरित होता दिखायी देता है नागार्जुन की रचनाओं में।

व्यवस्था का बेनकाब बेपर्द हुआ चेहरा नजर आता है। व्यवस्था का बदलता रंग इनकी रचनाओं के माध्यम से नजर आता है। एक ऐसा समाज जहां व्यक्ति के अस्तित्व की मूल्यता नहीं है।

बिकने के क्रम में आन-बान-शान, शानो-शौकत सब बिक रहा है। बिक रहा है इंसान, बिक रही है इंसानियत।

शोधार्थी, हिंदी विशेष (चतुर्थ वर्ष)
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आधार सूची

1. 'सतरंगे पंखों वाली' (काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1959
2. नागार्जुन रचनावली, खण्ड-1, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पेपरबैक संस्करण, 2003
3. नयी कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1987
4. नागार्जुन का रचना-संसार - विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009
5. नागार्जुन रचना संचयन, राजेश जोशी, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, 2005
6. नागार्जुन की कविता - अजय तिवारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संशोधित संस्करण, 2005
7. नागार्जुन अभिजात का क्लासिक, विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017
8. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1968

खुशी

''कितनी नावों में कितनी बार'' (काव्य-संग्रह) के नये सन्दर्भ

ये काव्य-संग्रह बहुचर्चित कवि अज्ञेय द्वारा रचित है जिसमें कवि ने अपने युग के परिप्रेक्ष्य अनुकूल कविताओं की रचना की है। जहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अपेक्षा से विपरीत होने की निराशा, पाश्चात्य संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव के कारण बढ़ते औद्योगीकरण व शहरीकरण की झूठी चकाचौंध में उलझा व्यक्ति कहीं खो गया है। उसका अस्तित्व मशीनीकरण सभ्यता की मशीनी पर पड़ी धूल की भांति हो गया है। यहां उसने जीवन में सब कुछ पाकर बहुत कुछ खो दिया है। भीड़ में वो नितांत अकेलापन व अजनबीयत महसूस कर रहा है। व्यक्ति के इसी मानसिक द्वंद्व व तनाव को देखते हुये अज्ञेय अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्ति को उनके अस्तित्व को पुन: खोज लेने की प्रेरणा देते हैं। उनकी कविता : 'मेरी छोटी सी ज्योति' में उन्होंने एक आशा, प्रेरणा का उदाहरण दिया है।

इस काव्य-संग्रह में 1962 से लेकर 1966 तक की कविताएँ सम्मिलित की गई हैं। इस संग्रह के संबंध में इस पुस्तक के फ्लैप पर यह टिप्पणी दी गई है '''कितनी नावों में कितनी बार' में अज्ञेय ने मनुष्य के प्रति अपनी गहरी संवेदना को एक नया संस्कार दिया है, यह कहना कवि को अपना धर्म निबाहने का श्रेय देने के बराबर होगा।'' अर्थ गर्भित शब्दों में कहें तो कवि ने अपनी अखण्ड, अटूट मानव आस्था को भारतीयता के माध्यम में प्रसारित किया व रहस्य सन्दर्भों से दूर रखा जिस प्रकार गहन आधुनिक अनास्था के साँचे से उसे हमेशा दूर रखता है। वह कहता है ''मैं 'धीर', 'आश्वस्त', अक्लान्त अपने अनबुझे जत्य के प्रभामण्डल की ओर कितनी ही नावों में कितनी ही बार आया हूं।''[1] अज्ञेय एक यायावर किस्म के व्यक्ति थे। उनका यही व्यक्तित्व उनके काव्यों पर प्रभावित रहा। उन्होंने प्रतीकों व संकेतों के माध्यम से अपनी यात्रा के हर एक अनुभव को गहराई से संवेदनात्मक ढंग से अपनी कविताओं में समझाना चाहा है जहां ये काव्य-संग्रह 'कितनी नावों में कितनी बार' भी एक प्रतीकात्मक नाम कवि हैं। जिसमें कवि नावों के माध्यम से अपने जीवन की अनेक यात्राओं के अनुभव व्यक्ति के जीवन से जोड़े है, जहां डगमग नाव, व्यक्ति के विचारों की अस्थिरता उसके जीवन के उतार-चढ़ाव का प्रतीक बनकर आई है।

'सध्या संकल्प', 'ओ निस्संग ममेतर', 'ओ एक ही कली की' आदि कई कविताएँ। 'सुनहले शैवाल' में भी संकलित है, जैसे संध्या संकल्प के अन्तर्गत आत्मचिंतन और अस्तित्व बोध का वर्णन हुआ है। जीवन का ठहराव, क्षणिक महता मनुष्य को एक क्षण की भी सुध हो उन पर बाहरी संसार की क्रियाओं का प्रभाव न पड़े उनके अन्दर आत्मिक निर्णय लेने की चेतना जागृत हो। उसके अकेलेपन में यों आत्मविश्वास हो, सजगता हो। वो अपने व्यक्तित्व अस्तित्व के प्रति किस प्रकार सजग हो इन सब वाक्यों का वर्णन है। ऐसे ही कविता 'ओ निस्संग ममेतर' की चेतना एकाकीपन से जुड़ी है। समाज से अलग खड़ा व्यक्ति जो पलायन नहीं करता, अकेलापन यहां पीड़ा बनकर नहीं सृजनात्मकता का आधार है। यहां व्यक्ति स्वतंत्र है व आत्मनिर्भरता की चेतना का भाव भी है। यह कविता एक व्यक्ति के अकेलेपन में गरिमा, सर्जनात्मक क्षमता को व्यक्त करती है। उसके अहं का त्याग 'मैं' के मोह-जाल को मुक्त होने का प्रयास निजता से उठकर संसार को तटस्थ होकर देखना मानवीय व्यापकता का प्रसार, आधुनिक चेतना

की बौद्धिक गंभीरता, स्व के विसर्जन का भाव कविता में नजर आता है।

'ओ एक ही कली की' कविता में क्षणभंगुरता व सौन्दर्य बोध का वर्णन है। जीवन और सौन्दर्य को प्रकृति, छोटी सी अनुभूति में सम्पूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति, जीवन की नश्वरता के प्रति संवेदनशीलता यह कविता क्षणिक सौन्दर्य में जीवन सत्य की खोज को व्यक्त करती है।

इस संग्रह में युद्ध संबंधी कविता भी मिलती है, जो पिछले संकलनों में नहीं है। 'यह इतनी बड़ी अजानी दुनिया' में व्यक्ति के भीड़ में मिट जाने का, काल के प्रवाह में व्यक्ति के ज्ञात एक क्षण का चित्रण है 'महानगर : कुहरा' में नगरीय बोध व्यक्त हुआ है। 'सड़कों पर ढिलती हुई अंगार- नैन गाड़ियाँ, आवर्त-विवर्त बनाती हुई अधर-टंके सब संसारों को एक कुण्डलों में बांध रही है।

उनकी कविता प्रदान करती है उत्तरों को थोपती नहीं संदेह को चेतना मानती है कमजोरी नहीं। इस समय हिन्दी कविता में नये बिंब, नई भाषा, क्षणिक महत्ता, नई दृष्टि का प्रभाव था, पाठक भी भावुक नही चितंनशील कविता चाहता था। कितनी नावों में कितनी बार काव्य-संग्रह ने इन सभी आवश्यकताओं को पुरा किया नई कविता में वैचारिक गहराई दी।

काव्य-संग्रह की रचना स्थितियां व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य-

★ **रचना-स्थिति का अर्थ-** काव्य-संग्रह जिस समय रचा गया था उस समय साहित्य किन परिस्थितियों में रचा जा रहा था किस प्रकार की काव्य-रचना में चेतना थी, किन संदर्भों व प्रतिमानों के परिप्रेक्ष्य में रचनाएं हो रही थीं, कविताओं के तत्व सामाजिक व व्यक्तिगत तौर पर कैसे सामंजस्य बैठा रहे थे। सामाजिक, राजनैतिक व साहित्यिक परिवर्तन कविताओं पर कैसी छाप छोड़ रहे थे छायावाद के पश्चात प्रगतिवाद व प्रयोगवाद में सामंजस्य बैठाकर नई कविता की चेतना के अंकुर किस प्रकार फूटे थे। सभी विषय रचना की, रचना स्थितियों में आते हैं।

⋆ भाषा की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास सामान्यत: सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवेश में होता है। ये विभिन्न धरातल और परिवेश बौद्धिक और संवेदनशील साहित्यिक धारा के साहित्यकार में उस सर्वथा नवीन प्रेरणा की प्रतिष्ठा करते हैं जिससे तत्कालीन वस्तुस्थिति को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।''[2]

(2) सामाजिक परिस्थितियाँ : अज्ञेय के इस काव्य की रचना के दौरान की स्थितियों ने काफी उथल-पुथल थी। जहां सामाजिक तौर पर भारतीय समाज गहरे परिवर्तन, विघटन व आत्मसंघर्ष की विभीषिका झेल रहा था। यह संग्रह किसी एक सामाजिक धरना का साक्षी नहीं अपितु सम्पूर्ण सामाजिक चेतना, मानसिक अस्थिरता। इसकी रचना ऐसे समय में हुई जब स्वतंत्रता प्राप्ति के दो दशक बीत चुके थे। आजादी के बाद जो आकांक्षाएँ, अपेक्षाएँ जुड़ी थीं वे पूरी नहीं हो पाई।

भारत दो युद्धों की विभीषिका भी झेल चुका था, नेहरू की मृत्यु इन सब पर घटनाओं से भारत का युवा मानसिक तौर पर पीड़ित था। शहरीकरण बढ़ रहा था, पारंपरिक जीवन मूल्य समाप्त हो रहे थे। व्यक्ति अकेलेपन व असुरक्षा, अस्तित्व की पहचान जैसे संकटों में उलझा था।

इन परिस्थितियों का अज्ञेय के काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा जहां नाव केवल यात्रा का साधन नहीं, बल्कि जीवन की अनिश्चित यात्रा का प्रतीक है।

ये नई कविता के काव्य - आंदोलन का अंतिम-चरण था जहां कई परिवर्तन हुये। छायावाद की भावुकता, रहस्यवाद, सौन्दर्यबोध का स्थान अब वास्तविक जीवन की जटिलताओं ने ले लिया। प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ से तो परिचित करवाया परंतु उसमें परंपरा व समाज व्यक्ति के आंतरिक अनुभूतियों पर हावी होने लगे। जो कि अज्ञेय को स्वीकार नहीं था। नई कविता में व्यक्ति केन्द्र में आया उनका आत्म-संघर्ष, अकेलापन, अस्तित्व बोध को प्रमुखता मिली। भाषा भी आत्मचिंतनशील बनी। कविता अनुभव की खोज पर आधारित हो गई।

अज्ञेय केवल कवि नहीं, आधुनिकता के सजग चिंतक थे। वे कविता को अनुभव की सच्चाई बोलते थे प्रचार नहीं। वे चाहते थे कवि अपने समय की जटिलताओं को ईमानदारी के साथ व्यक्त करे। इस संग्रह में अज्ञेय स्मृति व वर्तमान के बीच में झूलते नजर आते। आत्म व समाज के संबंधों को उजागर करते, जीवा की एक निरंतर परिवर्तनशील यात्रा के रूप में देखते हैं। यह वह दौर है जहां न ये पूरी तरह परंपरा का समर्थन करता और न ही आधुनिकता में स्थिर हो पाता। इस समय विश्व-स्तर पर अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद व व्यक्तिप्रधान दर्शन का प्रचार-प्रसार था। अज्ञेय पर पहले से ही पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित थे परंतु उन्होंने इन सभी विचारधाराओं का रूपांतरण भारतीय सन्दर्भ में किया है।

(3) मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना! 'कितनी नावों में

कितनी बार' का सामाजिक आधार शहरी मध्यवर्ग है। यह वर्ग न तो परम्परा से बंधा है और न ही सम्पूर्ण आधुनिक। कविताओं में मनुष्य पूर्णत: अन्दर से टूटा, निराश, कुंठित, तनाव से युक्त, असंतुष्ट और एकान्त को अनुभव करता है।[3] अज्ञेय के काव्य में व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई के रूप में भाता है। समाज कोई सामूहिक इकाई नहीं, मानव का मानसिक संसार है। समाज की भीड़ ने मनुष्य को सुरक्षित महसूस कराने की जगह उसे एकान्त से भर दिया है। यह सामाजिक यथार्थ, सम्बन्ध व नैतिकता से परिपूर्ण काव्य है जिन प्रकार 'पक्षधर' कविता में संवेदनहीन समाज में मनुष्य की कठोरता की स्थिति।

जहां मनुष्य स्वयं से लड़ाई करके; अपने भावों को संवेदनहीन बना लिया, समाज के समक्ष कठोर बन गया। उसके अन्दर एक प्रकार का भय और शंका बनी रहती है। यह आशा व निराशा के मध्य का द्वंद्व है। जहां वह स्वयं से आत्मसंघर्ष करता है। मध्यवर्गीय समाज मध्यस्थ में फंसा समाज है जो न परंपरा में रह सकता न आधुनिक बोध को समझ पा रहा न उसमे तादात्मय बैठा पा रहा। निराशापूर्ण समाज का व्यक्ति भीड़ में स्वयं को अकेला महसूस करता।

(2) अकेलापन, अस्तित्व संकट : ''इस काव्य संग्रह की प्रमुख सामाजिक समस्या है पहचान का संकट? कवि स्वयं से प्रश्न करता है 'मै हूं कौन?'[4] उसका स्वयं से संवाद व संघर्ष चलता है, उसके अस्तित्व बोध को लेकर स्वयं को जानने को लेकर। जिस प्रकार कविता 'यह इतनी बड़ी अनजानी दुनिया' में वो स्वयं को अकेला पाता है। स्वयं के प्रति संशयता व अपरिचय की भावना से परिपूर्ण है। इस काव्य संग्रह को कविता 'जीवन' है जो कि अस्तित्ववादी कविता है जहां व्यक्ति ने जीवन को निष्कर्ष रूप में नहीं, बल्कि एक प्रश्न के रूप में देखा है। 'ओ निस्संग ममेतर' में व्यक्ति स्वयं को नितांत अकेला पाता है व्यक्ति स्वयं से भी पराया हो जाता है। ऐसे ही 'गृहस्थ' कविता में गृहस्थी की जिम्मेदारियों के साथ ही व्यक्ति आंतरिक रूप में अकेला है। यह अस्तित्व का प्रश्न व्यक्तिगत रूप में नहीं बल्कि आज के मनुष्य का संवेदनशील भाव है। समाज में ढांचा निर्धारित है जिसमें व्यक्ति की आंतरिक चेतना पूर्णत: भिन्न है। यही समाज व व्यक्ति का द्वंद्व अज्ञेय की कविताओं में नजर आता है।

(3) सम्बन्धों का विघटन है : ''इस संग्रह में प्रेम भी स्थायी रूप वाला नहीं है रिश्तों में दूरियां आई है। अब सम्बन्ध किसी-न-किसी लोभ की कसौटी पर आधारित होते है।''**5** सम्प्रेषणीयता का अभाव है, भावनात्मक लगाव में कमी आई है। यही समाज का पर्याय है जहां सम्बन्ध तो है पर दिखावटी है। संग्रह की 'उधार' कविता इसी तथ्य पर आधारित है कि आधुनिक मनुष्य का जीवन इतना विवश है, कि भावनाओं को भी अभिव्यक्त नहीं कर पाता।

(1) परंपरा से विमुख और सांस्कृतिक एकाकीपन : इस काव्य संमृत में अहम् पड़ाव है परंपरा से विच्छेद। ''भारतीय संस्कृति सदियों से सामूहिक जीवन मूल्यों पर आधारित रही हैं किन्तु अज्ञेय का काव्य-नायक उन सामूहिकता से कटा हुआ दिखाई देता है।''**1** यहां संस्कृति किसी आधार की तरह नहीं बल्कि एक स्मृति की तरह प्रकट होती है। इस स्मृति से मनुष्य को सुरक्षा नहीं प्रतीत होती है बल्कि उसे अकेलेपन का अनुभव होता है। यह सांस्कृतिक अकेलापन आधुनिक सभ्यता की देन है। ''यहां मनुष्य की स्थिति युग के संवेदनशील मानव-व्यक्तित्व के लिए नितांत 'अकेलेपन' की ही स्थिति, जो सक्रांतिकालीन आधुनिकता की एक आधारभूत विशेषता है।''**2** हमारा अतीत उच्च जीवन दर्शन, सभ्यता, संस्कृति एवं आध्यात्मिक भावना से युक्त था, लेकिन बदलती परिस्थितियों एवं विघटनों के बीच धीरे-धीरे उसमे कृत्रिमता एवं रुढ़ता आती गयी। फलत: उन उच्च मूल्यों एवं आदर्शों ने अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हुई जिसका प्रभाव आज के समय में भी देखने को मिलता है''**3** आज का नवयुवक वर्ग धीरे-धीरे एक ऐसी सभ्यता एवं संस्कृति की ओर उन्मुख होता जा रहा है जो उसके भविष्य को अधंकार के गर्त में होती जा रही है।

(2) 'नाव' का प्रतीक और सांस्कृतिक अस्थिरता : 'नाव' एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतीक है। ''नाव भारतीय संस्कृति परंपरा में जीवन की यात्रा का प्रत्येक है जो संसार एक सागर के रूप में प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत करती है और मोक्ष यात्रा से जुड़ा प्रतीक है।''**3** अज्ञेय की नाव अस्थिर है। वह बार-बार बदलती रहती है। यह परिवर्तन ही आधुनिक संस्कृति की अस्थिरता का प्रतीक बन जाती है। यहां नाव किसी-किसी परम्परागत विश्वास का सहारा लेकर नहीं बल्कि अस्थिरता को प्रस्तुत करती है। जिनमें मनुष्य की परम्परागत पहचान बनती रहती है। जीवन की यात्रा में बार-बार दिशा बदलने, निर्णयहीनता और अस्तित्वगत असुरक्षा की संवेदना नजर आती है। 'नाव' जीवन के अनेक विकल्पों का प्रतीक बनकर भाई है। 'गति मनुष्य की', मनुष्य की तेज, अस्थिर और लक्ष्यहीन गीत। यह आधुनिक जीवन की जल्दबाजी,

हड़बड़ी और बैचेनी को दर्शाती है।

मनुष्य व समय का संबंध : अज्ञेय के काव्य-संग्रह कितनी नावों में कितनी बार में समय किसी बाहरी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की चेतना के भीतर कार्यरत एक जटिल शक्ति के रूप में उभरता है। इस संग्रह की कविताएं उस आधुनिक मनुष्य की स्थिति को दर्शाती है जो समय के साथ स्वयं को ढालने के कारण अस्थिर, अनिश्चित और संक्रमण की अवस्था का अनुभव करते हैं। यहां मनुष्य और समय के मध्य एक सामंजस्य का भाव नहीं बल्कि विडंबनाओं से परिपूर्ण मनुष्य के अस्तित्व को निखारकर लाते हैं। समय हमेशा परिवर्तित होता है उसी के अनुरूप परिस्थितियों बदलती हैं परंतु मनुष्य की आंतरिक समस्याओं के द्वंद्व समाप्त नहीं होते। यही आधुनिक मानव की आंतरिक त्रासदी को प्रस्तुत करती है। इस संग्रह में मनुष्यों को उसके समय की विडंबनाओं को एक नये सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है जो कि मनुष्य व समय की जटिल सम्बन्धों को अभिव्यक्त करता है। यह संग्रह केवल व्यक्तिगत अनुभूतियों को नहीं बल्कि समकालीन मनुष्य को ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक स्थिति का गहनता से विश्लेषित करता है। अज्ञेय के यहां समय स्थिर रूप में नहीं बल्कि एक जीवंत अनुभव बनकर आता है जो मनुष्य की सचेतन, उसका अस्तित्व, उनके निर्णय और उसकी आत्मबोध को प्रभावित करता है। इसी सन्दर्भ में इस काव्य संग्रह में मनुष्य और समाज के बीच उपस्थित विडंबनाएँ अति सूक्ष्म रूप में सामने आती हैं।

मनुष्य और समय की विडंबना का आधार : मनुष्य और समय की विडंबना का मूल आधार यही है कि मनुष्य समय के भीतर जीते हुये भी समय को समझ नहीं पाता।

प्रतीकात्मक रूप में समयगत विडंबना : इस काव्य-संग्रह का शीर्षक से ही जान पड़ता है कि ये प्रतीकात्मक रूप में अपने समयगत परिस्थितियों की विडंबनाओं को एक नये सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है जहाँ 'नाव' मनुष्य के जीवन उसकी स्वचेतना और उसकी यात्रा का रूपक है, जबकि निरंतर नाव बदलना समय की बदलती परिस्थितियों, विचारधाराओं और पहचान को अस्थिरता को संकेंतित करता है। मनुष्य को हर बार अनुभव होता है कि वो सही नाव में सवार है अब उसे दिशा-दर्शन हुआ है किंतु समय की विडंबनाएं उसे फिर किसी नावों में बैठने को मजबूर कर देती है यह विवशता ही आधुनिक मनुष्य की विडम्बना है।*

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दौलत राम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डा. राजेन्द्र प्रसाद, वाणी प्रकाशन अज्ञेय, कवि और काव्य (5.27)
2. अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन, कितनी नावों में कितनी बार, 1967
3. अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन, कितनी नावों में कितनी बार (संध्या-संकल्प, ओ निस्संग ममेतर)
4. जगदीश गुप्त, विजयदेवनारायण शाही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन (इलाहाबाद) नयी कविता सैद्धांतिक पक्ष (पृ. 140-144)
5. नंददुलारे वाजपेयी, लोक भारती प्रकाशन, आधुनिक हिन्दी कविता (पृ. 214-218)
6. डॉ. नगेन्द्र, वाणी प्रकाशन, हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां
7. डा. सत्या मल्होत्रा, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, नयी कविता में सौन्दर्य चेतना (पृ. 45)
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन हिन्दी कविता, युग और प्रवृत्तियां (पृ. 256)
9. अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन, कितनी नावों में कितनी बार काव्य-संग्रह की कविताएं
10. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, कविता के नये प्रतिमान, (पृ. 143)
11. कौशलनाथ उपाध्याय, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, छायावादोत्तर हिंदी काव्य, बदलते मानदंड एवं स्वरूप (पृ. 127-128)
12. विजयदेवनारायण शाही, राजकमल प्रकाशन, अज्ञेय का काव्य (पृ. 88-92)
13. अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन, कितनी नावों में कितनी बार, (पृ.27-30)
14. अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन,कितनी नावों में कितनी बार (पृ. 9-12)

शोध-पत्र

स्वयं प्रकाश की कहानियों का समाजशास्त्र

डॉ. राजकुमार राजन

हिन्दी साहित्य में 'स्वयं प्रकाश' अद्वितीय रचनाकार हैं। उनकी लेखन-शैली की परम्परा 'प्रेमचंद' लेखन से जुड़ी है। वे अपने जीवन के प्रारंभिक दौर में कविताएँ लिखने में रूचि रखते थे। वे देश के अलग-अलग हिस्सों में मंचों पर कविताओं का पाठ भी किया करते थे। उनकी रचनाएँ जनवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं। उनका व्यक्तित्व समय के प्रभाव से निर्मित हुआ था।

वे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक मंचों पर अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहे थे। उनका सामाजिक परिवेश सहज एवं सरल था। उनका पूरा परिवार 'गाँधी' जी के नेतृत्व में चल रहे 'स्वतंत्रता आंदोलन' से प्रेरित था।

उनका जन्म सन् 1947 में हुआ था। देश की आजादी के बाद जो सामाजिक व्यवस्था बनी थी, उसमें उनका परिवार 'गाँधी' को अपना आदर्श मानता था। बचपन से ही वे 'गाँधी' के बारे में सुनते रहे थे। धीरे-धीरे उनका व्यक्तित्व 'गाँधीवाद' से प्रभावित होने लगा। वे अपने व्यस्क जीवन में देश की सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं का समाधान गाँधीवादी विचारधारा में ढूँढ़ने लगे थे।

स्वयं प्रकाश बचपन से अपने नाना जी के पास इन्दौर में रहते थे। उनके नानाजी बचपन में ही स्वतंत्रता आंदोलन के 'किस्से' उन्हें सुनाया करते थे। 'किस्सों' को बचपन से ही सुनते-सुनते उनमें कहानी के प्रति रूचि बढ़ने लगी। वे जब आठवीं कक्षा में थे, बहुत सारी कहानियाँ पढ़ चुके थे। उनके पसंदीदा कहानीकारों में प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र आदि थे।

उनका साहित्यिक निर्माण उनके परिवार के कारण हुआ था। उनका परिवार अक्सर शाम में साहित्य पर कुछ चर्चाएँ करता था। जिसके कारण बचपन से ही उनकी अभिरूचि साहित्य में होने लगी। उन्होंने मैकेनिकल इंजीनियरिंग की पढ़ाई की थी। शुरूआती दौर में पढ़ाई ने बाद मुम्बई बंदरगाह में वे नौकरी करते थे लेकिन नौकरी में उनका मन नहीं लगता था, इसलिए मैकेनिकल की नौकरी छोड़कर टेलीफोन विभाग में कुछ दिनों तक उन्होंने नौकरी की। वहाँ भी मन नहीं लगा तो फिल्म इंडस्ट्री और अन्य बहुत सारे व्यवसाय में अपनी किस्मत को अजमाने का कार्य उन्होंने किया। अन्ततः नौकरी को छोड़कर लेखन के क्षेत्र में उनकी सक्रियता बढ़ने लगी।

स्वयं प्रकाश के व्यक्तित्व में एक खास तरह की ईमानदारी है, जिसमें इंसानियत और सहअस्तित्व की भावना उनका अभिन्न हिस्सा है। उनकी रचनाओं में उनका व्यक्तित्व साफ दिखाई देता है। ''स्वयं प्रकाश की आँखें खुली रहीं तो समय का कोई भी झंझावत ओझल नहीं हुआ। कुछ भी छिपा नहीं त्वरित टिप्पणियाँ हुई, समाचार पत्रों में या अन्य माध्यमों में जहाँ भी अवसर मिला, स्वयं प्रकाश ने सटीक टिप्पणी की, बिना लिहाज के इन टिप्पणियों की विद्ग्धता देखकर हरिशंकर परसाई की याद आती है।''[1] स्वयं प्रकाश के विचार और उनकी व्यावहारिकता एक-दूसरे के पूरक हैं। उनका जीवन रहन-सहन सब कुछ वैसा ही है, जैसे उनके विचार हैं। यही विचार उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता भी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में कई स्तरीय संरचनाएँ हैं। 'जाति' एक सच्चाई है। विभिन्न जातियों की अपनी सभ्यताएँ एवं संस्कृतियाँ है। शादी एवं सहभोज जातियों की अपनी अस्मिता है। जातियों के नाम पर सदियों से शोषण हो रहा है। जातियाँ शोषण का

कब्रगाह है। स्वयं प्रकाश की रचनाएँ शोषितों एवं उपेक्षितों के हिमायती करने वाले यथार्थ का अनुभव है। जो किसी बाहरी दबाव के कारण नहीं बल्कि बड़ी ही सहजता एवं सरलता के साथ अपने अनुभव को साझा करते हैं। उनका चिन्तन पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध है। वे मानते हैं, सामाजिक व्यवस्था में जहाँ भी शोषण और असमानताएँ उत्पन्न हुई हैं, उसके प्रमुख कारण पूँजीवादी व्यवस्था है। पूँजीवादी व्यवस्था ने एक तरफ पाँच सितारा जीवन की व्यवस्था दी है, तो दूसरी तरफ सीलन और गरीबी जैसे जीवन। यह असमानताएँ समाज में एक विद्वेष उत्पन्न करती है। ''आर्थिक विकास की वर्तमान दिशा सभी गरीबों में बेरोजगारी एवं गरीबी बढ़ा रही है। सामाजिक और शैक्षिक पिछड़े भी उनका बड़ा भाग हैं। विषमता भी बढ़ रही है। ..... विकास की दिशा को बदलकर उसे जनोन्मुख और जनता के लिए कल्याणकारी बनाना जरूरी है।''[2] भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी चुनौतियों असमानताओं की विषमता को दूर कर समानता स्थापित करना है। यह चुनौतियाँ स्वयं प्रकाश की कहानियाँ में उद्धृत है। उनकी रचनाएँ सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्रण हैं। वे अक्सर इस पर विमर्श करते हैं, आखिर सामाजिक व्यवस्थाएँ विषमता भरी क्यों है। वे अन्याय विरुद्ध कलम के सारे एक क्रांतिकारी आग़ाज चलाते हैं।

स्वयं प्रकाश की साहित्यिक अभिरूचि सर्वप्रथम काव्य लिखने में थी। काव्य लिखते हुए क्रमशः गीत लिखने में भी उनकी जिज्ञासा बढ़ने लगी। गीत लिखने की उनकी असफलता ने कहानी लिखने की प्रेरणा प्राप्त की। स्वयं प्रकाश को साहित्य लिखने की परम्परा कोई विरासत में नहीं मिली थी बल्कि उनको स्वयं रास्ता बनाना पड़ा था। वे बेहद आत्मविश्वासी और मेहनती भी थे। यही कारण है कि नौकरी के साथ पढ़ाई और सृजन एक साथ करते रहे।

स्वयं प्रकाश 'कहानी विधा' को अपना सृजन का माध्यम बनाया। कहानी के संदर्भ में उनकी स्पष्ट मान्यताएँ थीं, कहानी में रोचकता और जिज्ञासा अनिवार्य रूप से होना चाहिए। एक पाठक को कहानी पढ़ने से न केवल मनोरंजन हो बल्कि एक विचार का भी उद्‌बोधन प्राप्त हो सके। किसी भी कहानी की आत्मा उसकी रोचकता में है। रोचकता के कारण ही कोई भी पाठक किसी कहानी को मनोयोग पूर्वक पढ़ता है। स्वयं प्रकाश अपनी कहानियाँ बड़ी ही सरलता, रोचकता और किस्सागोई से कहते हैं। वे सरल वाक्यों से बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कह देते हैं। उनका लेखन सामान्य जन, गरीबी के विरुद्ध, अन्याय के खिलाफ और साम्प्रदायिकता वे विरुद्ध है। वे अक्सर उन सामाजिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, जिनकी सत्ता, शिक्षा, ठेकेदारी प्रथाओं में दबंगई चलती है।

उनकी कहानियाँ सामाजिक मुद्दे को चुनौती मानते हुए उसके समाधान पर विचार करती हैं। ''आजादी के पश्चात् कहानी कला में नए आयाम विकसित होते हैं। कहानी की नई पहचान बनती है। सामाजिक आर्थिक जीवन में बदलाव आए जिससे नगर, कस्बों, गाँव में नई दिशाएँ दिखने और अनुभव की जाने लगीं।''[3] यही आर्थिक बदलाव समकालीन कहानीकारों के लिए सृजन का नया क्षेत्र बन गया। उनमें स्वयं प्रकाश बड़े समकालीन कहानीकारों के रूप में उभर कर सामने आए। समकालीन कहानीकार अपने जीवन मूल्यों का आधार सामाजिक यथार्थ से बनाते हैं। उनके लिए उनका आदर्श न अतीत में है और न ही भविष्य में। वे अपने जीवन का सौंदर्य बोध वर्तमान के सामाजिक प्रतिमान से जोड़ते हैं और उनका समाधान की चिन्ता भी रचनाओं में करते हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ की परम्परा प्रेमचंदीय लेखन परम्परा से जुड़ती है। उनकी कहानियों के विषय वस्तु वैसे ही होते हैं, जैसे प्रेमचंद अपनी कहानियों में अपने अनुभव को जगह देते हैं। स्वयं प्रकाश की कहानियों की संवेदना बहुत ही सहज एवं सरल है। सरलता उनके व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा है। सादगी उनके व्यवहारिकता की कसौटी है। उनके साहित्य में जीवन के अलग-अलग हिस्सों का अनुभव संसार है। उनकी कहानियों में कलात्मकता सहजता से प्रस्तुत होती है, जो उनकी संवेदना में कृत्रिम नहीं होती है बल्कि सरलता के साथ प्रस्तुत होती है। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन अनुभव का प्रत्यक्षदर्शी है। वे साहित्य में उन रचनाकारों के समकक्ष हैं, जो समकालीन कहानियों को नई ऊँचाइयाँ तक ले जा रहे थे। उनमें उदय प्रकाश, शिवमूर्त्ति के साथ-साथ स्वयं स्वयं प्रकाश भी हैं। वे मानते हैं कि कहानियों में विचारों की बोझिलता नहीं होनी चाहिए बल्कि मनोरंजन और जिज्ञासा भी कहानी का अभिन्न हिस्सा होना चाहिए। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जिन आशा और आकांक्षाओं के साथ विकास की प्रक्रिया चल रही थी, उस विकास की प्रक्रिया में पूँजीवाद का हस्तक्षेप बहुत ही पीड़ादायक है। ''कहना न होगा कि आजाद हुए भारत के पचासों वर्ष की विकास-यात्रा के बावजूद निम्नवर्गीय ग्रामीणों की स्थिति में कुछ खास सुधार नहीं आया है। उन्हें

अपनी जड़वत व्यवस्था और प्राकृतिक विपदाओं से जूझना, खपना ही है।''[4]

स्वयं प्रकाश का अनुभव संसार मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ है। भूमंडलीकरण के कारण भारतीय समाज की आधारभूत संरचनाएँ बदल रही थीं। उन बदलते स्वरूपों में समाज के प्रति लेखक का उत्तरदायित्व भी बदल रहा था। उन बदलते उत्तरदायित्वों में लेखक के रूप में स्वयं प्रकाश उस 'मनुष्यता' को सुरक्षित रखना चाहते हैं, जिनको उपभोक्तावादी संस्कृति निगल लेना चाहती है। बाजारवाद ने एक ऐसी अपसंस्कृति को जन्म दिया है, जो भारतीयता को नष्ट कर रही है। स्वयं प्रकाश की कहानियाँ ऐसी अपसंस्कृतियों के विरोध में खड़ी होती है, जो मनुष्यता को खंडित करती है। उनकी कहानियाँ की संवेदना भारतीयता को सुरक्षित रखने का उपक्रम करती है। उनके विचार कहानियों की आधारशीला हैं। वे साहित्य को परिवर्त्तनगामी उपक्रम मानते हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ समकालीन समय में निम्नवर्गीय एवं मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ है। आज के उपभोक्तावादी समाज में व्यक्ति किसी भी सफलता से संतुष्ट नहीं हो सकता है। स्वयं प्रकाश की कहानियाँ में से एक 'गौरी का गुस्सा' ऐसी ही कहानी है। ''अब हालत यह है कि रतनलाल अशांत को परिवार वाले अपने दुश्मन लगते हैं और घर काटने को दौड़ता है। सुबह-सुबह तैयार होकर जैसे-तैसे चाय की एक प्याली सुड़ककर घर से निकल जाता है और फिर कहाँ जाये?''[5] कभी भारतीय समाज का आधारभूत संरचना संतुष्ट होता था लेकिन आज भारतीय समाज पश्चिम के उपभोक्तावादी संस्कृति से जूझ रहा है, उसके कारण अपने ही समाज के भीतर मनुष्य अकेला होता जा रहा है। 'गौरी का गुस्सा' ऐसी ही स्वयं प्रकाश की अगली कहानी है। पूँजीवादी छद्म दिखावा उस कहानी की संवेदना है। आज का समाज दिखावे का समाज है। मनुष्य दिखावे में अपनी हर वास्तविक पहलू को भूल चुका है, जो उसे वास्तविक अर्थों में संपूर्ण मनुष्य बनाता है। 'अगले जन्म' उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण कहानियों में से एक है, जिसमें आज के समय पितृसत्तात्मक समाज के वीभत्स रूप को दिखाया गया है। जन्म के समय से ही स्त्री और पुरुष में विभाजन साफ देखा जा सकता है। यह भेदभाव न केवल अन्यायपूर्ण है बल्कि मानवता विरोधी भी है। वैश्वीकरण के इस युग में बदल रहे समाज का समाजशास्त्र स्वयं प्रकाश की कहानियों में भावपूर्ण ढंग से अंकित है। उनकी कहानियाँ सामाजिक परिवेश के उथल-पुथल को यथार्थपरक रूप से चित्रित करती है। ''स्वयं प्रकाश की कहानियों में बदल रहे मध्यवर्ग के अनेक प्रतिरूप हैं, जिनके सरोकार उपभोक्तावाद बाजारवाद से लेकर, विचारधारा और समय की चपेट में आए परिवार और समाज से जुड़ जाते हैं।''[6]

भारतीय समाज आज अपनी परम्पराओं को विस्मृत कर रहा है, जो समाज अपनी परम्पराओं को भूल जाता है, वह समाज अपनी सामाजिक मापदंड से जुड़ाव महसूस नहीं कर पाता है। आज हमारा समाज ऐसी ही स्थितियों से गुजर रहा है। स्वयं प्रकाश के साहित्यिक विचार भारतीय संस्कृति को संरक्षित करते हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में 'बली' एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। यह कहानी दर्शाती है कि आज की उपभोक्तावादी समाज में गरीब बच्चे का कोई मूल्य नहीं है। 'बली' कहानी की बच्ची एक अमीर व्यक्ति के यहाँ नौकरी करती है। गरीब होने की वजह से उस घर में उसका कोई सम्मान नहीं है। आज की पूँजीवादी समाज में मेहनतकश मजदूर वर्ग के हिस्से सिर्फ और सिर्फ शोषण है। अमीर व्यक्ति के घर में एक नौकरानी की क्या दुर्दशा होती है। यह 'बली' कहानी के मूल में है। 'नैनसी का धूड़ा' कहानी स्वयं प्रकाश की एक और महत्त्वपूर्ण कहानियों में है। हिन्दी साहित्य में यह कहानी एक अलग स्थान रखती है। 'नैनसी का धूड़ा' ग्रामीण जीवन में शोषण की मार्मिक कथा को प्रस्तुत करती है। यह कहानी अपने प्रगतिशीलता और यथार्थवादी कहानी के रूप में चिन्हित होती है। गाँव में आज भी व्यक्ति किस तरह पशुवत जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। यह कहानी उसका यथार्थ चित्रण करती है। ''आखिर मर गया। लोग कह रहे हैं, उसका नाम धूड़ा था। लेकिन मैं आपसे जोर देकर कहना चाहता हूँ कि उसका नाम धूड़ा नहीं है और सच बात तो यह है कि वह मरा भी नहीं है।''[7] इस कहानी की केंद्रीयता एक पशु पर आधारित है लेकिन वह पशु मनुष्य का पर्याय है। जिस तरह से पशुओं का शोषण एवं अत्याचार इस कहानी में हुआ है। आज की पूँजीवादी व्यवस्था में मनुष्य का शोषण भी 'नैनसी का धूड़ा' की तरह हो रहा है।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में 'मानवतावादी दृष्टिकोण' सर्वोपरि है। उनके अनुसार मानव होने का अर्थ है कि व्यक्ति के अंदर उन मानवीय गुणों का समावेश होना चाहिए, जो उसे विशिष्ट बनाते हैं। मनुष्य के अंदर करुणा, दया और परोपकार

का गुण होना चाहिए। यह परोपकार की भावना ही असली मनुष्य की पहचान होती है।

स्वयं प्रकाश एक तरफ सामाजिक असमानता से लड़ रहे होते हैं, दूसरी तरफ अपने ही साहित्यिक समाज में उपेक्षित होने के कारण अलगाव महसूस करते हैं। आज भी गाँवों में दलित बच्चों के साथ अन्यायपूर्वक व्यवहार किया जाता है, उनका व्यवहार समान्य तौर पर शिक्षा देने के क्रम में वैसा ही नहीं होता है, जैसा अन्य गरीब और उपेक्षित बच्चों के साथ होता है। ''मास्टर के नजदीक पहुँचते ही रंजीत ने पूरा हाथ हवा में घुमाकर जोर से उसके मुँह पर एक थप्पड़ दे मारा। मास्टर के हाथ से लोटा छूट गया और खुद भी धड़ाम से जमीं पर गिर पड़ा।''[8] यह सबकुछ आज भी गाँव के परिवेश में हो रहा है। सामंती सोच के लोग आज भी अपनी सामंती सोच से ऊपर उठ नहीं पा रहे हैं। स्वयं प्रकाश ग्रामीण जीवन के यथार्थ बोध के प्रिय कथाकारों में से एक हैं। उनकी कहानी उनके विचार के साथ सामंजस्य स्थापित करती है।

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ 'स्त्री-संघर्ष' की कहानी भी है। स्त्री और पुरुष दोनों इस सृष्टि की अभूतपूर्व रचना है। स्त्री और पुरुष की विभेदकारी चिन्तन से स्वयं प्रकाश आहत होते हैं। वे मानते हैं कि स्त्री और पुरुष के सामंजस्य से ही बेहतर समाज का निर्माण हो सकता है। 'सीमोन द बोउवार' की पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' स्त्री संघर्ष का इतिहास है। स्त्रियाँ दुनियाँ भर में कैसे उपेक्षा की शिकार होती है। यह उपेक्षा कोई प्राकृतिक प्रदत्त नहीं है, यह तो इतिहास और संस्कृति की उपज है। उनका स्पष्ट कहना है, 'औरत पैदा नहीं होतीं, बल्कि बना दी जाती है। ''यह दुनियाँ हमेशा पुरुष की रही, किंतु क्यों? स्त्री को अधीनस्थ रहना पड़ा। हमें प्रागैतिहासिक काल को अस्तित्ववादी दर्शन के दृष्टिकोण से देखना होगा। मैंने पहले भी लिखा है कि जब दो मानव-वर्ग साथ रहते हैं तो उनमें से प्रत्येक कोटि दूसरी कोटि पर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहती है।''[9]

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ की संवेदना स्त्री-संघर्ष से उपजी है। स्त्रियों के प्रति हर विभेदकारी नीतियों के खिलाफ वे आवाज़ उठाते रहे हैं। स्त्रियाँ वर्षों से उपेक्षा की शिकार रही हैं और वे आज भी उन चीजों से जूझ रही है। 'मंजू फालतू' नामक कहानी में मंजू अपने ही घर परिवार में कैसे फालतू हो जाती है। जब तक वह नौकरी करती है, बड़े सम्मान की जीवन व्यतीत कर रही थी।

जैसे ही नौकरी छोड़कर वह घर में बेरोजगार हो गई, वैसे ही उसका महत्त्व अपने ही घर में अप्रासंगिक होने लगा। ऐसा सिर्फ 'मंजू' के साथ ही नहीं हुआ बल्कि मंजू के समान उन लाखों भारतीय महिलाओं के साथ हो रहा है, जो अपने ही घर में वह दूसरे के लिए समझौता तो कर लेती है लेकिन वह समझौता खुद पर कितना भारी पड़ता है। यह 'मंजू फालतू' कहानी का यथार्थ है।

स्वयं प्रकाश की कहानियों का वर्ण्य विषय समाज के उन हिस्सों का यथार्थ चित्रण है, जो कभी हमारी समाज से उपक्षित रहा है। स्त्रियाँ हमारे समाज का अभिन्न हिस्सा होते हुए भी सदियों से उपेक्षित रही है। स्वयं प्रकाश की कहानियों में स्त्री विशेष पात्र के रूप में चिन्हित होती रही है। उनके यहाँ सिर्फ यही नहीं है बल्कि यदि स्त्री दिखावटीपन की शिकार होती है तो उसका भी प्रतिकार स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में करते हैं। 'बर्डे' कहानी कुछ इसी तरह की कहानी है। 'बर्डे' कहानी का बच्चा अपने स्कूल के ताँगेवाले को अपने जन्मदिन पर आमंत्रित कर देता है लेकिन बच्चे की माँ द्वारा जिस तरह ताँगेवाले के बच्चे के साथ उपेक्षित व्यवहार करती है, वह सभ्य समाज के लिए अभिशाप के समान है।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में 'बलि' एक ऐसी लड़की की कथा है, जो निम्नवर्गीय परिवार की है और वह किसी उच्च मध्यवर्गीय परिवार के घर में नौकरानी का काम करती है। उच्चवर्गीय परिवार मनुष्यता को अनदेखा करते हुए उस लड़की के साथ जो नीचतापूर्ण व्यवहार करता है, वह अमानवीय ही कहा जा सकता है। ''चारों लड़कियाँ चुपचाप लेटी-पसरी हैं। एक कुछ गुनगुना रही है। अचानक कुछ दूर से गुजरती एक चमकदार लड़की को देखकर चुप हो जाती है, कहती है ''देखो कैसे भटक रही है।''[10] यह कहानी स्त्रियों की चंचलता का प्रमाणिक दस्तावेज की तरह है।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में साम्प्रदायिकता की राजनीति बहुत ही मुखर रूपों में वर्णित हुई है। 'पार्टीशन' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। आज जबकि देश को आजाद हुए दशकों हो चुके हैं लेकिन देश के अंदर धार्मिक कट्टरता का जो भाव आज भी है, उसका यथार्थ चित्रण 'पार्टीशन' में मिलता है। ''एक दिन जब मैं पहुँचा, मेरी तरफ उनकी पीठ थी, किसी से कह रहे थे-आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था। हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है.....।''[11] समकालीन कहानीकारों में स्वयं प्रकाश ही ऐसे कहानीकार हैं, जो आज के

समय के धार्मिक उन्माद को बड़े साहस के साथ अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में चुनते हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियों में 'बाबूलाल तेली की नाक' कहानी में स्वास्थ्य के व्यापार में होने वाली दुर्घटनाओं का सजीवता के साथ वर्णन किया गया है। आज के समय में स्वास्थ्य संबंधी खोले गए सभी अस्पताल व्यापारिक गतिविधियाँ का सबसे बड़ा केंद्र बिन्दु बन गए हैं। वहाँ इलाज के नाम पर रोगी से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की प्रतिस्पर्धा है। ''मीलवाइल ... आप खून की जाँच, छाती का एक्स-रे और खोपड़ी का स्कैनिंग भी करवा लीजिए। बेहतर तो यह होगा कि एक बार ईसीजी भी करवा ही लें। मैं लिख देता हूँ।'' [12]

स्वयं प्रकाश की कई कहानियां भारतीय जीवन मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करती हैं। 'नीलकांत का सफर' कहानी में ट्रेनों में बढ़ती भीड़ के माध्यम से भारतीय संस्कृति के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है। भीड़ के कारण ट्रेनों में जबर्दस्त उमस है, चारों तरफ की खिड़कियाँ बंद पड़ी है। लेकिन मजदूरों ने खिड़की को अपने औजारों से खोल देता है। यह प्रतीकात्मक है। वर्ग संघर्ष में जब मजदूरों का राज आयेगा तो चारों तरफ उजाला हो जाएगा। स्वयं प्रकाश ऐसे कहानीकार हैं, जो अपनी कहानी के माध्यम से मजदूरों, उपेक्षितों, शोषितों को शोषण से मुक्ति का संदेश देते हैं। उनकी कहानी हर उस मनुष्य के साथ है, जो अपना मानवतावादी दृष्टि रखता है।

स्वयं प्रकाश समकालीन कहानीकारों में बड़े कथाकार है। जिनकी कहानियाँ सामाजिक जीवन में फैली तमाम विसंगतियों को न केवल उजागर करती है बल्कि उनका समाधान भी प्रस्तुत करती है। स्वयं प्रकाश की कहानियों की विषयवस्तु की विविधता उनके वैविध्य को दिखाती है। जीवन में जो भी अनुभव है, उन सभी का उल्लेख उनकी कहानियों में सजीवता के साथ वर्णित हुआ है। उनके साहित्यिक फलक का विस्तार उनके जीवन के अनुभव से समझा जा सकता है। समकालीन कहानीकारों में स्वयं प्रकाश की कहानियों का समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का यथार्थ है। भारतीय समाजशास्त्र में हिन्दी साहित्य का यथार्थ स्वयं प्रकाश की कहानियों का सामर्थ्य एवं शक्ति है।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी-विभाग
शहीद भगतसिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-17

सन्दर्भ सूची

1. सम्बोधन (पत्रिका)। जनवरी-मार्च 2007, पृ. 15.
2. समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय, सुरेन्द्र मोहन, पृ. 277
3. हिन्दी गद्य उद्भव और विकास, सं. डॉ. अनीता यादव, पृ. 9
4. बनास प्रवेशांक, सं. पल्लव, 2008, पृ. 272
5. संधान, स्वयं प्रकाश, नृ. 26
6. बनास प्रवेशांक, सं. पल्लव, 2008, पृ. 193
7. आधी सदी का सफरनामा, स्वयं प्रकाश, पृ. 121
8. सूरज कब निकलेगा, स्वयं प्रकाश, पृ. 45
9. स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बोउवार, पृ. 49
10. संधान, स्वयं प्रकाश, पृ. 53
11. चर्चित कहानियाँ, स्वयं प्रकाश, पृ. 42
12. मेरी प्रिय कथाएँ, स्वयं प्रकाश, पृ. 109

मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक में सांकेतिक परिप्रेक्ष्य

मुद्रा मिश्रा

60 के दशक में लिखा गया 'आधे-अधूरे' नाटक अपने समय के मध्यवर्गीय यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। जहां स्त्री-पुरुष के संबंधों में एक ओर लगाव नजर आता है वहीं दूसरी ओर एक अजीब-सा तनाव पूरे नाटक में फैला नजर आ रहा है। सिर्फ इतना ही नहीं इस दौर में एक कामकाजी सावित्री अपने 'मैं' की तलाश में भटक रही है किन्तु उसकी तलाश अब तक पूरी नहीं होती है वह आधी-अधूरी ही जिंदगी जीती है। नाटक का हर एक पात्र जो भी नाटक की नायिका सावित्री से जुड़ा हुआ है या यूँ कहें तो सावित्री जिनसे जुड़ी हुई है वे भी पूरे नहीं हैं वे भी आधे-अधूरे ही हैं। हालाँकि इस नाटक का माहौल उबाऊ और घुटन से भरा हुआ है और हर पात्र इन दोनों पहलुओं से ग्रस्त है। नाटक का हर एक पात्र उन अभावों से त्रस्त है जिन्हें कहीं-न-कहीं नाटककार ने बस सावित्री की जिंदगी में ही दिखाया है। सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी कभी-कभार उसके दुखों को सुनने तथा समझने का एक सहारा बन जाती है क्योंकि वो भी अपने गृहस्थ जीवन में एक अभाव से जूझ रही होती है। दूसरी तरफ उसका बेटा अशोक अपनी माँ से कटा-कटा सा रहता है क्योंकि वो अपनी माँ के संबंधों को स्वीकार नहीं कर पाता है। कई बार अशोक अपने व्यवहार के जरिए अपने ऐतराज को भी जताता है। सावित्री की छोटी बेटी किन्नी अपनी उम्र से कहीं अधिक जानकारी तथा सोच रखती है। सावित्री को अपने जीवन से कई उम्मीदें हैं पर पूर्णता की तलाश में सावित्री उन उम्मीदों से अलग होती चली जाती है और इसका कारण शायद वो खुद ही है लेकिन, वो इस बात को कभी समझ ही नहीं पाती है या यूँ कहें तो समझने की कोशिश ही नहीं करती है। उसका पति महेंद्र पति के नाम पर एक धब्बा है। सावित्री के हर पुरुष संबंधों से महेंद्र वाकिफ है और इन संबंधों को लेकर उसके मन में कई तरह की कुंठाएं भी हैं जिनकी वजह से वो जब परिस्थितियों को झेल नहीं पाता है तब सावित्री को लातों और जूतों से मारकर अपने मन की भड़ास निकाल लिया करता है।

''आधे-अधूरे'' महज एक नाटक ही नहीं बल्कि मध्यवर्गीय समाज की वह कहानी है जो की हमारे समाज का एक आईना है। अगर हम इस नाटक के पात्रों के जीवन के असफलताओं पर नजर डालेंगे तो हम इस बात पर गौर कर पाएंगे की हर एक पात्र अपूर्णता की तरफ संकेत कर रहा है। शायद इसीलिए ''आधे-अधूरे'' नाम देने में नाटककार ने बिल्कुल भी संकोच नहीं किया। ''आधे-अधूरे'' की नायिका सावित्री जिसका पति महेंद्र है तथा वह तीन बच्चों की माँ भी है और उन बच्चों की माँ जिस तरह से एक बेतरतीब जिंदगी जी रही है वो बच्चे भी उस जिंदगी को जी रहे हैं तथा महसूस भी कर रहे हैं। इन बदलावों को हम सावित्री की छोटी बेटी किन्नी के व्यवहार में भी देखते हैं कि वो किस ढंग से अपने बड़ों से बत्तमीजी भरा व्यवहार करती है जिसका कारण उसकी माँ और पिता के बिखरे हुए संबंध, उसकी माँ का कई पुरुषों के साथ संबंध होना भी है। इस नाटक में आक्रोश भी महत्व का है, विक्षेप भी महत्व का है, तनाव, घुटन, मनहूसियत भी महत्व के हैं जो अधूरेपन के संकेत बनकर हमारे सामने उभरे हैं। ये तनाव, घुटन इसलिए महत्व के नहीं हैं क्योंकि वो नाटक में चर्चित एक बहुत ही महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य हैं बल्कि वो इसलिए भी महत्व के हैं क्योंकि वो नाटक के हर एक पात्र, हर एक दृश्य, हर एक संवाद तथा हर एक वस्तु में भी मौजूद हैं या

यूँ कहें तो पूरा का पूरा नाटक ही इन भावों को पढ़ने वालों को भी महसूस करा देता है। अगर हम हैनरिक ईब्सन के ''नॉर्वेजियन नाटक द डॉल्स हाउस'' को भी पढ़ेंगे जो की मोहन राकेश के नाटक ''आधे-अधूरे'' का ही पूरक माना जा सकता है वो भी समकालीन जीवन के यथार्थ को बयाँ करता है जो हमें आज के जीवन के द्वन्द्व, विक्षेप, आक्रोश, घुटन, हर चीज को तथा हर एक परिस्थिति को दर्शाता हुआ एक नाटक है। उस नाटक में भी एक ''महिला नोरा'' की विडंबनाओं को दिखाया गया है कि कैसे एक स्त्री अपने घर तथा परिवार के लिए हर परिस्थिति को नजरंदाज करके बस अपने परिवार के बारे में ही सोचती है फिर भी अंततः उसे ही दोषी करार दिया जाता है जिसका बोझ वो सहन नहीं कर पाती है और उस घर तथा सबको छोड़कर अपने अस्तित्व के तलाश में निकल पड़ती है। ''स्वच्छंदता हर जगह सांकेतिक तथा महत्वपूर्ण है फिर चाहे वो द डॉल्स हाउस की नोरा की कहानी हो या फिर आधे-अधूरे की सावित्री की कहानी हो।''

60 के दशक में जहाँ मध्यवर्गीय जिंदगी में कई तरह के परिवर्तन नजर आ रहे थे और स्त्री स्वावलंबी होने लगती है जिसकी वजह से स्त्री पुरुष के अहम आपस में टकराने लगे जिसके टूटने की गूंज पूरे के पूरे नाटक में सुनाई पड़ती है। नाटक में एक विघटन की कहानी को रचा गया है जहाँ परिवार का हर सदस्य एक-दूसरे से कटा हुआ है और एक अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य है क्योंकि पूरे घर का माहौल ही घुटन भरा है जो की उस घर में मौजूद घर की हवा को भी जहरीली बनाती चली जा रही है। उस जहरीली हवा ने हर सदस्य को ना जाने कितनी कुंठाओं, ग्रंथियों से भी भर डाला है। जो दूरियाँ, कुंठाएं, ग्रंथाएं पति-पत्नी के रिश्ते में नजर आ रही हैं वैसी ही कुछ दूरियाँ, कुछ बिखराव, कुछ अलगाव, कुछ विघटन भाई-बहन के रिश्तों में भी नजर आता है। ना सिर्फ इन सभी के संबंधों में तनाव, अकेलापन, दूरियाँ ही संकेतों को दर्शाती हैं बल्कि इस नाटक में दर्शाई गई हर एक वस्तु भी सांकेतिक है फिर चाहे वो उस घर में रखा हुआ सोफा हो, किताबें हों, मेज हो, क्रॉकरी हो, फाईल्स हों जो धूल की परत से ढका हुआ है और उस घर की आर्थिक परिस्थिति की ओर संकेत कर रहा है वो भी संकेतिकता का एक पहलू है। यह कठिनाइयाँ उस घर में सालों से चली आ रही हैं। घर की दीवारें भी बेरंग हो गई हैं, क्रॉकरीज चटक गई हैं चादर भी मटमैले नजर आते हैं। हर एक सामान एक कहानी कहते हुए नजर आ रहा है। घर की ये वस्तुएं संबंधों में आई दूरियाँ, अलगाव, अकेलेपन को बयाँ करती हैं। इन वस्तुओं का बदरंग होना संबंधों के बेरंग होने की ओर भी संकेत कर रहा है क्रॉकरी की चटकन में संबंधों की दरारें मौजूद हैं। चादरों का मटमैलापन संबंधों के धुंधलेपन की ओर संकेत कर रहा है। जिन लकड़ी के सामानों को नाटककार ने दिखाया है एक समय में शायद वो सामान भी बेहद सलीके से रखे रहे होंगे लेकिन, समय गुजरने के साथ-साथ पहले जैसी रंगत अब उनपे नजर नहीं आती है। इनको एक सलीके से संभालने की नजरें किसी भी सदस्य में नहीं है ये बात इस ओर संकेत करता है की घर के सदस्य सामान के जैसे रिश्तों को भी सँजो कर नहीं रख सकते हैं। नाटक में वर्णित ये सारी वस्तुएं सांकेतिक हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक में सांकेतिक परिप्रेक्ष्य हर एक किरदार, हर एक संदर्भ, हर एक घटना, हर एक अल्फाज, हर एक किरदार का व्यवहार सांकेतिक नजर आता है। हर किरदार खुद को पूरा करने की कोशिश तथा जद्दोजहद में लगा हुआ है। वे सब के सब 'आधे-अधूरे' से नजर आते हैं। कहीं है एक अधूरी कहानी जो सवाल उठा रही है हर एक पर। 1960-70 के दशक में जब स्त्री कामकाजी हुई तब वो अपनी इच्छाओं को, तमन्नाओं को दबा देती है और स्त्री को अपने घर में तथा अपने पति में चैन नहीं मिलता और कामकाजी होने की वजह से उसकी पुरुषों में भी जान-पहचान है और वो उन पुरुषों में अपना चैन खोजती है लेकिन, वो भी उसके जैसे अपूर्ण तथा अधूरे ही हैं।

अगर हम 'आधे-अधूरे' के पात्र संरचना की भी बात करें तो यहाँ पर हर एक पात्र भी सांकेतिक है। इस नाटक की नायिका सावित्री इस नाटक में सांकेतिकता के रूप में एक अलग तरह से उभर कर आई है। वो एक कामकाजी तथा पढ़ी-लिखी स्त्री है जिसकी उम्र लगभग 40 साल को छू रही है अर्थात् जिसकी जिंदगी के सपने 40 वर्षों से 'आधे-अधूरे' हैं। सावित्री एक कामकाजी स्त्री होने के बावजूद भी वो एक साधारण साड़ी तथा ब्लाउज पहना करती है जिसमें वो सुरुचिपूर्ण दिखती है। एक साधारण सी ब्लाउज तथा साड़ी वो भी कामकाजी होने के बावजूद भी इसी चीज को दर्शाता है कि एक महिला अपने घर तथा परिवार के लिए सब कुछ दाँव पर लगा देती है। इस नाटक में सावित्री अपनी अस्मिता, अस्तित्व, आकांक्षा और भविष्य के लिए सतत प्रयत्नशील बनकर हमारे सामने

आती है। ''आधे-अधूरे'' में एक अपूर्ण स्त्री का जैसा मानवीय एवं संवेदनशील रूप उभरा है जो कि इस नाटक का एक नया, समयानुकूल तथा संतुलित चेहरा है। कहीं-न-कहीं नाटककार ने सावित्री को गैरजिम्मेदार दिखाकर कई कामों का दोषी बताने का प्रयत्न भी किया है। सिर्फ इसलिए क्योंकि वो घर में अकेली ऐसी है जो तमाम जिम्मेदारियों को हाथ में लिए हुए है। वो उस घर की स्थिति को बदलना चाहती है तथा अपनी अपूर्णता को भी पूर्णता में परिवर्तित करना चाहती है। सारी टूटन, लड़ाई, थकान और अतृप्ति के बाद भी उसकी कोशिशों की वजह से ही वो घर आज तक एक बंजर जमीन के जैसे खोखला नहीं हुआ है बल्कि उस घर में अभी भी कुछ-ना-कुछ शेष है जिसने उस घर के वजूद को बचाकर रखा हुआ है।

इस नाटक का अगला पात्र जो की काले सूट वाला आदमी अर्थात् महेंद्र है जो की तीन अलग-अलग पुरुषों की भूमिकाओं में है। उसकी उम्र लगभग 50 वर्ष है। यह 50 वर्ष उसकी जिंदगी की असफलताओं, आशिष्टताओं, हार, थकान, टूट, खोई हुई अस्मिता को बयाँ करते हैं। उसकी पतलून तथा कमीज तक सांकेतिक है जो की इस चीज को दर्शाती है कि वो अपने अंदर छटपटाहट लिए हुए है जो कि जिंदगी से हारने की एक पहचान का संकेत है। महेंद्र एक बहुत ही अनिश्चित पात्र है उसकी जिंदगी में कुछ भी निर्धारित नहीं है। महेंद्र को अपने ऊपर बिल्कुल भी भरोसा नहीं है क्योंकि वो इस चीज से वाकिफ है की अगर वो किसी और परिवार के साथ भी रह रहा होता तब भी वो यही कर्तव्य निभा रहा होता। उसको तब भी ये नहीं पता रहता कि उसके परिवार के प्रति उसकी क्या भूमिका है।

अगर हम नाटक के दूसरे पुरुष सिंघानिया की बात करें तो हमें यह देखने को मिलता है कि सिंघानिया सावित्री का बॉस और वो एक धनाडय वर्ग का इंसान है और उससे भी कहीं-ना-कहीं सावित्री की उम्मीदें जुड़ी हुई हैं लेकिन, शायद वो भी महेंद्र की तरह सावित्री की अपूर्णता का दूसरा कारण बनता है। इस नाटक का तीसरा पुरुष जुनेजा एक ऐसा पात्र है जो कि महेंद्र का एक अच्छा दोस्त है वो हर समय सावित्री को चरित्रहीन करार कर उसको दोषी ठहराते रहता है। सावित्री के पूर्ण पुरुषों की चाह में एक जमाने में वो भी हुआ करता था। इस नाटक का चौथा पुरुष जगमोहन है वो इकलौता ऐसा पात्र है जो सावित्री के मन को भाता है। या यूँ कहें तो जगमोहन इस नाटक का सबसे राजदार पात्र है जो कि सावित्री के जीवन के ऐसे पहलू को सामने लेकर आता है जिसमें हँसी-खुशी तथा पुरानी यादों का भी स्थान होता है लेकिन, सावित्री के जीवन की रिक्तता कभी भी जगमोहन में अपनी खुशी नहीं ढूंढ पाती है।

नाटक का एक अहम हिस्सा सावित्री के तीनों बालक भी हैं जिसमें उसका बड़ा बेटा अशोक अपनी माँ के लिए हमेशा अपने मन में एक कड़वाहट लिए रहता है अपने पिता की बेरहमी को जानते हुए भी हमेशा पिता का ही साथ देता है। सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी अपनी माँ के दुखों को सुनती है क्योंकि वो भी एक विवाहित महिला है और उसके साथ भी कहीं-ना-कहीं कुछ परेशानियाँ चल रही हैं जो कि उसको उसकी माँ की परेशानियों को सुनने तथा समझने में मदद करती हैं। सावित्री की छोटी बेटी किन्नी जो कि अभी बहुत छोटी होती है वो अपनी उम्र से बहुत बड़ी हो चुकी है क्योंकि उसको एक सही परवरिश आज तक नहीं मिल पाई है और इन्हीं सब चीजों की वजह से वो अपने आप को अपनी उम्र से बड़ी चीजों को देख तथा सुनकर वैसा ही बन गई है तथा उसने अपना बचपन एक तरीके से खो ही दिया है।

'आधे-अधूरे' में महज पात्र ही नहीं बल्कि नाटककार ने इस नाटक की बड़ी-से-बड़ी तथा छोटी से छोटी वस्तुओं को भी एक सांकेतिक महत्ता दी है तथा उन वस्तुओं को एक सांकेतिक रूप में प्रस्तुत भी किया है। जैसे नाटक के पात्र किसी ना किसी तरफ संकेत कर रहे हैं वैसे ही चीजें भी उन पात्रों की जिंदगी की टूटन, बिखरन, अलगाव, पैसे की तंगी, मांसिक तनाव तथा बैर भाव जैसी कई अन्य स्थतियों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। हर एक वस्तु इस नाटक की उलझन, अनिश्चितता हर एक पहलू की तरफ संकेत कर रही है।

'आधे-अधूरे' एक आम मध्यवर्गीय परिवार की ओर संकेत कर रहा है जिसकी कहानी विशेष है। परिस्थितियाँ भी विशेष हैं जो कि हर एक पात्र फिर चाहे वो पुरुष पात्र हों, नायिका स्वयं हो या फिर नायिका के परिवार के सदस्य हों हर एक चीज हर एक पहलू की विशेषता को बयाँ कर रहा है। अगर हम नाटक के पहले दृश्य को देखेंगे तो फिर हमें ये देखने को मिलेगा कि नायक महेन्द्रनाथ हाथ में सिगार लिए खड़ा रहता है और उसको पीते-पीते पूरे कमरे में इधर-उधर घूम रहा होता है। ये सिगार बर्बादी का संकेत है ये सिगार बतलाता है की नायक अपने बर्बादी के आखिरी मोड़ पर तथा आखिरी राह पर खड़ा है और अपनी बर्बादी को देखते हुए भी वो उसी राह पर चलता जा रहा है जो कि पाठकों को गलत

संकेत देता है। ये सिगार हमें अपने आप से ये पूछने पर मजबूर करता है कि क्या कोई इंसान अपने हालातों के तहत इतना मजबूर हो सकता है कि उसको इतना भी समझ ना आए कि वो अपनी जिंदगी को किस मोड़ पर लाकर खड़ा कर चुका है और ये मोड़ सिर्फ और सिर्फ बर्बादी का है।

नाटक के दूसरे दृश्य में हमें ये पता चलता है कि खालीपन, रिक्तता पात्रों में किस कदर भर हुआ है। और ये रिक्तता नाटक के बस उस बिखरे हुए कमरे में ही नहीं बल्कि पात्रों की जिंदगी में भी आ चुकी है। अपूर्णता भी सांकेतिक है जो की पहले पुरुष अर्थात महेंद्र की जिंदगी में भारी हुई है वो कभी भी खुश नहीं होता तथा उसने अपने ऊपर से इतना भरोसा खो दिया है की वो अपने आप को एक असफल मनुष्य की श्रेणी में ही गिनता तथा देखता है। अगर हम इसी क्रम में आगे बढ़ते हुए नाटक की नायिका की बात करें तो हमें ये दिखता नजर आएगा की उसका पात्र इस नाटक में कैसे उभर कर आ रहा है नायिका सावित्री अपूर्ण तथा मनहूसियत से भारी हुई है तथा एक ऊब से भरी हुई जिंदगी भी जी रही है। घुटन और वित्तीय मार से जूझती हुई नायिका जिम्मेदारियों के बोज के तले दबी हुई है फिर भी उसको घर में इज्जत नहीं मिल रही है और यही सब बातें नायिकी सावित्री की अपूर्णता तथा खालीपन की तरफ संकेत करती हैं। अगर हम नाटक को गौर से देखें तो हमें पता चलेगा की जगमोहन ही एक ऐसा पात्र है जो सावित्री की अपूर्णता को, अकेलेपन को दूर करता हुआ नजर आता है वो भी कहीं ना कहीं इसी अकेलेपन से जूझ रहा है क्योंकि उसकी प्रेमिका सावित्री उससे सदियों पहले ही बिछड़ चुकी है। सावित्री के तीनों बालक अशोक, बिन्नी तथा किन्नी भी इसी खालीपन से जूझते हुए नजर आ रहे हैं। माँ-बाप के बीच की लड़ाई, मार-पीट, दूरियाँ तनाव उन तीनों की जिंदगी में तनाव तथा मांसिक तौर पर झकझोर कर रख देते हैं। सावित्री का बड़ा बेटा अशोक उसको भी अपने जिम्मेदारियों की बिल्कुल भी समझ तथा एहसास नहीं है। वो अपनी जिम्मेदारियों से भागता रहता है तथा पैसे कमाने की उम्र में मैगजीन से तस्वीरें काटकर चिपकाता रहता है और उसे अपने माँ-बाप की आर्थिक तंगी की स्थिति का बिल्कुल भी ध्यान नहीं रहता है। सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी भी अपनी पढ़ाई-लिखाई करने की उम्र में पढ़ाई-लिखाई पर ध्यान ना देकर अपने आप को पूर्ण करने के चक्कर में अपने घर से भाग जाती है तथा अपने साथी मनोज से विवाह कर लेती है फिर भी उसकी जिंदगी से वो रिक्तता खत्म नहीं होती है और वो जिस खाली कमरे की वजह से भागी होती है बार-बार वहीं लौटकर आती है। सावित्री की छोटी बेटी किन्नी भी अंदर से इतनी खाली होती है की वो अपने आप को ऊल-जलूल कामों मे व्यस्त रखती है जिसका उसकी उम्र से कोई लेना-देना नहीं है। अपने माँ-बाप तथा बड़े भाई-बहन से ढंग की परवरिश ना मिलने के कारण वो खोखलेपन का भी शिकार हो जाती है। अगर हम वस्तुओं पर ध्यान देकर खाली कमरे को देखें तो खाली कमरा बस घर के खाली होने की नहीं बल्कि सबके जीव के खालीपन की ओर संकेत करता है। सोफे पर पड़ी मैगजीन इस बात की ओर संकेत करती है की पुरानी चीजें, पुराने रिश्ते सब कुछ बिखर चुके हैं फिर भी उसको अबतक ढोया जा रहा है क्योंकि वो अब जिंदगी का एक आम हिस्सा बन चुके हैं।

नाटक में तनाव भी महत्व का है क्योंकि हर रिश्ता अधूरा है। भारतीय समाज के पारिवारिक मूल्यों को यहाँ पर ठुकराया जा रहा है। भारतीय पारिवारिक संरचना में एक तरह के मंगल, पावन, शुभ जैसी अनुभूतियों को स्थान मिला है लेकिन, यहाँ पर ऐसा कुछ भी नहीं प्रतीत हो रहा है। ईमर्जन्सी के बाद एक मध्यवर्ग उत्पन्न हुआ यहाँ उसी वर्ग के टूटने की भूमिका की ओर संकेत किया गया है।

यह नाटक ओम शिवपुरी के निर्देशन में 1969 में दिल्ली की 'नाट्यसंस्था दिशांतर' में पहली बार मंचित हुआ। इससे पहले ये धर्मयुग की पत्रिका के 19 जनवरी , 26 जनवरी तथा 22 फरवरी को छप चुका था। नाटक के प्रस्तुतीकरण ने ना सिर्फ दर्शक वर्ग में अपितु साहित्यिक वर्ग में भी खलबली मचा दी। स्त्री-पुरुष के संबंधों के उतार-चढ़ाव की ये कहानी आलोचक वर्ग के लिए भी एक बड़ी चुनौती के रूप में उभरी है। हिन्दी नाटक को जहाँ एक नया विषय मिला वहीं समीक्षकों की परंपरागत सोच को बदलने में भी मोहन राकेश ने एक बड़ी भूमिका निभाई। 'आधे-अधूरे' नाटक की प्रस्तुति से पहले ही 'आधे-अधूरे' नाम कुछ आलोचकों के लिए एक लोकप्रिय नाटक साबित हुआ वहीं कुछ के लिए ये एक खोखला नाटक भी था।[1]

मोहन राकेश का यह नाटक 19 जनवरी, 26 जनवरी तथा 2 फरवरी को 'साप्ताहिक पत्रिका धर्मयुग' के तीनों अंकों में क्रमश: छपा तथा दिशांतर में इसका अभिमंचन भी हुआ और अभिमंचित होने के कुछ ही समय के अंतराल में इसको पुस्तककार तथा प्रकाशन भी मिल गया।

मोहन राकेश की रचनाओं पर उनके अपने जीवन की प्रत्यक्ष छाप भी रही है। अत: स्पष्ट है कि इसमें प्रस्तुत परिवार, परिवेश, पात्र और अनुभव का संबंध नाटककार द्वारा देखे और भोगे गए दशक के भारतीय महानगरीय, मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ से है और उसी संदर्भ में ही हमें इस नाटक को देखना चाहिए। घर की तलाश मोहन राकेश के जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य भी रहा है जोकि उनके नाटकों की प्रमुख कहानी भी है। 'आधे-अधूरे' में भी टूटते संबंधों और बिखरते परिवार के चित्रण के माध्यम से घर की तलाश को भी दिखाया है। यह आज के सामान्य वर्ग से संबंधित है जो अपने में 'आधा' और 'अधूरा' भी है। यह एक शहर के मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की तरफ धकेलती जा रही हैं। उनकी हर एक परिस्थिति उनके हाथ से निकलती जा रही है नाटकार ने उन हर एक परिस्थिति को किसी ना किसी संकेत के माध्यम से दर्शाने की कोशिश की है।[2]

प्रख्यात रंगकर्मी, निर्देशक और अभिनेता ओम शिवपुरी ने 'आधे-अधूरे' के कथ्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''एक दूसरे स्तर पर यह नाट्य कृति पारिवारिक विघटन की गाथा है। अभिशप्त कुटुंब का हर एक सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक हवा से वे सब अपने और एक-दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं। बड़ी लड़की बिन्नी मनोज रूपी हमदर्द को पाते ही बाहर निकाल कर भाग खड़ी होती है। लड़का पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटता हुआ उस मौके के इंतजार में है, जब वह भी यहाँ से निकल जाएगा। अपने पिता के लिए उसके मन में करुणा है तथा माँ के लिए आक्रोश। वह बड़ी बहन के प्रेम में विश्वास नहीं करता उसे घरसे निकालने कस एक जरिया मानता है।" ओम शिवपुरी यह भी कहते हैं कि 'एक अन्य स्तर पर यह नाट्य रचना मानवीय संतोष के अधूरेपन का रेखांकन है जो जिंदगी से बहुत कुछ चाहते हैं, उनकी तृप्ति अधूरी ही रहती है।''[3]

अगर हम बात करें रचनाकार के 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की जिस की कहानी मल्लिका के प्यार से शुरू हो कर आ ठहरती है एक और प्रतिदान पर, अपने प्यार का त्याग अपनी भावनाओं का त्याग करती मल्लिका कालिदास की जिंदगी की ऐसी अनकही सच्चाई है जो जहां से शुरू हुई वहीं आ ठहरती है, कालिदास उज्जैन नगरी के बंधनों में बंधा कभी भी मल्लिका के प्यार व त्याग को समझ ही नहीं पाया, वह छोड़ गया मल्लिका के अपने उस गांव को, जहां वह समय रहते नहीं लौटा, जब बरसों बीतने पर आया भी तो किस बीते की उसे तलाश थी, समय बीता पर जो पहले था वह भी अब बदल चुका था, पर इस बदलने के संग नहीं बदली तो मल्लिका नहीं बदली उसे इंतजार है और एक उम्मीद शेष है कि कालिदास कुछ कहे पर अंत तक वह मल्लिका को कुछ नहीं कह पाया, वो मल्लिका कालिदास के हर काव्य में मौजूद है हर नाट्य कृति की नायिका है उसे क्योंकर कालिदास ने अपनाया ही नहीं, विलोम जो मल्लिका की माँ अंबिका से मिलने के बहाने जब तब मल्लिका के घर चला आया, वही विलोम मल्लिका का प्रारब्ध था, क्या मल्लिका उस प्यार की हकदार नहीं थी जो उसे मिल कर भी नहीं मिल सका, क्यों कर मल्लिका ने कालिदास के उज्जैन का राजकवि बनने के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया, और कालिदास को गांव छोड़कर जाने दिया, अंत में जब कालिदास लौट कर आया तो क्यों कर आषाढ़ के भीगने वाले कोई अनजान होगा कहकर दरवाजा नहीं खोला और कालिदास से वो सुनने का इंतजार करती रही जो लौटकर मिलने पर भी कालिदास ने नहीं कहा, कौन सही और कौन गलत का अजब सा ताना-बाना बुना गया है आलोच्य नाटक में, क्यों आई कालिदास की पत्नी मल्लिका के गांव, किसकी तलाश थी उसे (उसे शायद खुद को जो वह नायिका समझ बैठी थी) हर जवाब मल्लिका से मिलने पर उसे नहीं मिले, जो गांव, जो घर जो हिरण कालिदास के काव्य में उसने देखें वे उसे सब मिले पर वो मल्लिका पर दबाव बना कर भी नहीं ढूंढ पाई जिसे वह तलाश रही थी कालिदास का प्यार, जो अंत में कालिदास नहीं बयां कर पाया।

'लहरों के राजहंस' नाटक में भी नाटक की सुंदरी नन्द के लिए प्रेयसी भी है और भी परंतु सम्पूर्ण संतुष्टि और सामंजस्य यहाँ भी नहीं है। बुद्ध का आकर्षण नन्द को खिचता है लेकिन उसे बाँध नहीं पाता। नन्द सुंदरी के पास वापस लौट जाता है। शुरू से लेकर अंत तक नन्द एक दुविधा में ही पड़ा रहता है।

नाटककार की हर रचना इन्हीं संकेतों को बयान करती हैं जो की ऊब, घुटन, अधूरापन, टूटन, बिखरन, अलगाव, तनाव जैसे भावों की ओर संकेत करते हैं जो कि मोहन राकेश की साहित्यिक यात्रा का सबसे बड़ा पहलू बनकर पाठकों तथा आलोचकों के सामने आया है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दौलत राम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. 'आधे-अधूरे' (निर्देशक का वक्तव्य), ओम शिवपुरी, पृष्ठ 27।
2. 'आधे-अधूरे' (भूमिका के बहाने), जयदेव तनेजा, पृष्ठ 7।
3. 'आधे-अधूरे' (निर्देशक का वक्तव्य), ओम शिवपुरी, पृष्ठ 27।

सन्दर्भ ग्रंथ

1 . 'आधे-अधूरे ', मोहन राकेश , राधाकृष्ण प्रकाशन , आठवाँ संस्करण 2025।
2. Halfway House 'Written by Mohan Rakesh translated by Bindu Batra, Worldview Publications (Edited by Dilip Kumar Basu), First Edition – 1999 .
3. 'The Doll's House' , Henrik Ibson , Gyldendalske Boghandels Forlag (F. Hegal and Son), First Edition – 1879
4. 'मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री की दुनिया : एक मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन', डॉ आभा कुमारी, आइसेक्ट पब्लिकेशन, पहला संस्करण-2025।
5. मोहन राकेश के नाटकों में अस्मिता, डॉ. सोफिया राजन, विद्या प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2018।
6. 'मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक' , नेमिचन्द्र जैन , राजपाल एण्ड सनस, द्वितीय संस्करण 1993।
7. 'आषाढ़ का एक दिन', मोहन राकेश, सुनीता प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2025।
8. 'लहरों के राजहंस', मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1968।
9. 'मोहन राकेश का नाट्य साहित्य', डॉ. दिनेश श्रीवास, नोशन प्रेस, प्रथम संस्करण 2021।
10. 'मोहन राकेश अधूरे रिश्ते की पूरी दास्तान', जयदेव तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2023।

विश्वजीत वर्मा

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ का तुलनात्मक अध्ययन

1. सामाजिक यथार्थ का तुलनात्मक अध्ययन

आधुनिक हिंदी उपन्यास की परंपरा में सामाजिक यथार्थ का एक महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक विघटन और नैतिक पतन का चित्रण है। बीसवीं शताब्दी में लिखे गए विभिन्न उपन्यासों ने अपने समय की सामाजिक संरचना में उत्पन्न दरारों, अंतर्विरोधों और मूल्य संकटों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। जमींदारी शोषण से लेकर आर्थिक अभाव, सांप्रदायिक उन्माद और शिक्षा के अवमूल्यन जैसी स्थितियाँ न केवल विभिन्न समस्याएँ हैं, बल्कि समाज की नैतिक चेतना में हो रहे क्षरण के संकेत भी हैं। इस संदर्भ में 'कर्मभूमि', 'झूठा सच', 'तमस' और 'राग दरबारी' जैसे उपन्यास अलग-अलग ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने ग्रामीण समाज की जटिल सामाजिक संरचना और उसमें मौजूद आर्थिक तथा जातिगत असमानताओं को बेहद सटीक तरीके से दर्शाया है। उपन्यास में अछूत किसानों की दशा के माध्यम से लेखक ने सामाजिक बहिष्कार, शिक्षा की कमी और आर्थिक शोषण जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों को उजागर किया है। उस समय के ग्रामीण समाज में अछूत वर्ग को शिक्षा से वंचित कर दिया गया था, जिसके कारण उनमें सामाजिक जागरूकता और आत्म-सम्मान की कमी नजर आती है। अमरकांत का पात्र इस स्थिति में बदलाव लाने का प्रयास करता है। वह न केवल अछूतों को शिक्षित करने का कार्य करता है, बल्कि उनके भीतर स्वाभिमान की भावना जगाने का भी संकल्प लेता है। ''इस इलाके के जमींदार एक महंत जी थे। ... ठाकुरद्वारे में कोई न कोई उत्सव होता ही रहता था। ... असामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थी; भेंट-न्योछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुकानी पड़ती थी; लेकिन धर्म के मामले में कौन मुँह खोलता? धर्म-संकट सबसे बड़ा संकट है। ... बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से लदे हुए दूसरे मूर्ख, न कायदा जानते, न कानून; महंत जी जितना चाहें इजाफा करें, जब चाहें बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। ... ऋण के बोझ से दबा किसान संकटों में भी जी इसलिए रहा था कि उसे मौत नहीं मिलती थी।''[1] यहां वर्णित प्रसंग केवल आर्थिक शोषण की कहानी नहीं है, बल्कि यह भी उजागर करता है कि कैसे धर्म, सत्ता और जातिगत ढांचे मिलकर अन्याय को 'स्वाभाविक' बना देते हैं। किसान की कठिनाई और उसकी चुप्पी यह दर्शाती है कि सामाजिक विकृति तब और बढ़ जाती है जब अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की जागरूकता समाप्त हो जाती है।

उसी प्रकार यशपाल ने 'झूठा सच' उपन्यास में उस समय के समाज की गंभीर आर्थिक चुनौतियों को उजागर किया है। देश में फैली गरीबी और संसाधनों की कमी ने लोगों को नैतिक रूप से कमजोर बना दिया था। आर्थिक संकट इतना गहरा हो चुका था कि लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मानवीय संवेदनाओं और नैतिक मूल्यों को अनदेखा करने लगे थे। यह स्थिति यह दर्शाती है कि आर्थिक कठिनाई केवल भौतिक जीवन को ही नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों और मानवीय गरिमा को भी प्रभावित करती है। लेखक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जब समाज आर्थिक असमानता और अभाव का सामना करता है, तब पारिवारिक और सामाजिक ढांचे भी

प्रभावित होते हैं। ''नब्बू तारा के शरीर से उतारा हुआ जेवर छिपे-छिपे लेकर घर से बाहर निकल जाता है। उस समय आर्थिक तंगी के कारण अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए लोग इस हद तक गिर जाते हैं कि वे दूसरों की स्त्रियों को भी रुपये-पैसे में बेचने से नहीं हिचकते।''[2]

'तमस' में सामाजिक विघटन साम्प्रदायिक उन्माद के रूप में चरम पर दिखाई देता है। ''इस पर सभा के धनवान प्रधानजी, जो शहर के जाने-माने व्यापारियों में से थे, सिर हिलाकर बोले : यह रकम मैं दूँगा। आप आज ही दो सौ लाठियाँ मंगवाकर युवकों में बाँट दें।'' 'वाह, वाह!' की आवाज सुनाई दी। उपस्थित सज्जनों ने प्रधानजी की उदारता की भूरि भूरि प्रशंसा की।''[3] भीष्म साहनी ने 'तमस' के जरिए यह स्पष्ट किया है कि अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति ने भारतीय समाज की एकता को भीतर से नष्ट कर दिया। मस्जिद की सीढ़ियों पर सूअर की लाश रखना सिर्फ एक सांप्रदायिक तनाव पैदा करने की घटना नहीं थी, बल्कि यह सामाजिक विघटन की एक सुनियोजित रणनीति थी, जिसने विभिन्न समुदायों के बीच अविश्वास और दुश्मनी को बढ़ाया। हालांकि स्थिति को सामान्य किया जा सकता था, लेकिन नगर के प्रभावशाली धनाढ्य प्रधानजी जैसे लोग शांति बहाल करने के बजाय युवाओं को लाठियाँ बाँटने के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे हिंसा को और बढ़ावा मिलता है। यह इस बात को दर्शाता है कि आर्थिक शक्ति का उपयोग सामाजिक तंत्र को कमजोर करने के लिए किया जा सकता है।

'राग दरबारी' में यही संकट व्यंग्यात्मक रूप में उभरता है, जहाँ नई पीढ़ी और शिक्षा व्यवस्था का अवमूल्यन नैतिक पतन का सूक्ष्म किन्तु तीखा चित्र प्रस्तुत करता है। उद्धरण- ''कहा तो घास खोद रहा हूँ। इसी को अंग्रेजी में रिसर्च कहते हैं, परसाल एम.ए. किया था इस साल से रिसर्च शुरू की है।''[4] यह कथन शिक्षा और ज्ञान की गंभीरता के हास्यास्पद रूपांतरण को व्यक्त करता है। 'घास खोदना' जैसे शब्दों के माध्यम से शोधकार्य की निरर्थकता को रेखांकित किया गया है। यहाँ बौद्धिक आलस्य और उद्देश्यहीनता सामाजिक मूल्यों के क्षरण का नया रूप है।

तुलनात्मक दृष्टिकोण से चारों उपन्यासों में सामाजिक विघटन के कारण और स्वरूप अलग-अलग हैं। 'कर्मभूमि' में जमींदारी और धार्मिक शोषण, 'झूठा सच' में आर्थिक मजबूरी, 'तमस' में सांप्रदायिक राजनीति, और 'राग दरबारी' में शिक्षा और नैतिकता का अवमूल्यन नजर आता है। हालांकि, इन सबका एक सामान्य तत्व यह है कि हर रचना समाज के मूल मानवीय आदर्शों के क्षय को उजागर करती है। एक स्थान पर धर्म को शोषण का माध्यम बना दिया जाता है, तो दूसरे स्थान पर धन नैतिकता को मिटा देता है। इसी तरह, भीड़ की मानसिकता विवेक को कुचल देती है, जबकि शिक्षा का पवित्र उद्देश्य केवल औपचारिकता में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार, सामाजिक विघटन प्राथमिक रूप से एक बाहरी संरचनात्मक समस्या है।

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में शिक्षा प्रणाली का चित्रण सिर्फ संस्थागत ढांचे की व्याख्या नहीं करता, बल्कि यह उस सामाजिक सोच का भी प्रतिबिंब है जिसमें शिक्षा कई बार अपने असली उद्देश्य से भटक जाती है। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य बौद्धिक विकास, नैतिक उन्नति और सामाजिक जागरूकता का निर्माण होना चाहिए, लेकिन अक्सर यह औपचारिकता, आर्थिक हित और दिखावे तक सीमित रह जाती है। उपन्यास 'कर्मभूमि' और 'राग दरबारी' दोनों में शिक्षा प्रणाली का यही विरोधाभासी स्वरूप विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

कर्मभूमि में शिक्षा संस्थानों की कठोर आर्थिक प्रवृत्ति पर तीखी टिप्पणी की गई है-''हमारे स्कूलों और कॉलेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। बड़े कठोर नियम हैं... देर से आइए तो जुर्माना, किताबें न खरीद सको तो जुर्माना... शिक्षालय क्या हैं, जुर्मानालय हैं...।''[5] यहाँ शिक्षा संस्थाएँ ज्ञान के केंद्र न होकर आर्थिक दंड-वसूली की संस्थाएँ बन जाती हैं। प्रेमचंद इस माध्यम से यह संकेत करते हैं कि औपनिवेशिक काल में शिक्षा प्रणाली मानवीय संवेदना से रिक्त होकर अनुशासन और आर्थिक नियंत्रण का साधन बन गई थी। गरीब और मध्यमवर्गीय विद्यार्थियों के लिए यह व्यवस्था अवसर के बजाय बाधा सिद्ध होती है।

'राग दरबारी' में यही विडंबना स्वतंत्रता पश्चात अधिक व्यंग्यात्मक रूप में उभरती है-''हम 'शांति निकेतन' से भी आगे हैं। हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं। हम नहीं जानते बिजली क्या है, नल क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सेनेटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देसी परंपरा में पाई है और इसलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृतिक हैं। हमारे इतना पढ़ लेने पर भी

हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है।''[6] यह उद्धरण शिक्षा और सभ्यता के दावों की पोल खोलता है। यहाँ संस्थाएँ विकास और आधुनिकता का दावा करती हैं, किंतु वास्तविकता में अव्यवस्था, स्वार्थ और अकर्मण्यता का बोलबाला है। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर सरकारी अनुदान, राजनीतिक प्रभाव और औपचारिक प्रतिष्ठा बन जाता है।

तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो 'कर्मभूमि' में शिक्षा आर्थिक कठोरता और असमान अवसर की समस्या से ग्रस्त है, जबकि 'राग दरबारी' में वही शिक्षा व्यवस्था उद्देश्यहीनता, अव्यवस्था और व्यंग्य का विषय बन जाती है। दोनों में साम्य यह है कि शिक्षा अपने मूल मानवीय और बौद्धिक उद्देश्य से दूर हो चुकी है। एक ओर 'जुर्मानालय' का रूप है, तो दूसरी ओर 'प्राकृतिक' होने की आड़ में अविकास और ढोंग का चित्रण। इस प्रकार दोनों उपन्यास शिक्षा व्यवस्था की आंतरिक विडंबना को उजागर करते हुए यह संकेत देते हैं कि जब शिक्षा मूल्यहीन हो जाती है, तो समाज का नैतिक और बौद्धिक आध ाार भी कमजोर पड़ जाता है।

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व एक समान नहीं है, हालांकि समस्याएं समान हैं। हर लेखक अपने विचारों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और व्यक्तिगत अनुभव के अनुसार समाज को देखने और प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। कुछ स्थानों पर सुधार की आशा और नैतिक पुनर्निर्माण का विश्वास व्यक्त होता है, जबकि अन्य जगहों पर विभाजन की त्रासदी से उत्पन्न निराशा, भय और कटुता का चित्रण मिलता है। कहीं-कहीं सांप्रदायिक अविश्वास सामाजिक चेतना को नकारता है, वहीं तीखे व्यंग्य समाज की जड़ता और विडंबनाओं को उजागर करते हैं। यही विविध दृष्टिकोण आधुनिक हिंदी उपन्यासों में सामाजिक विषमताओं को स्पष्ट करने में मदद करते हैं।

'कर्मभूमि' में आशावादी दृष्टि प्रमुख है। ''मानवता हमेशा कुचली नहीं जा सकती। ममता जीवन का तत्त्व है। यही एक दिशा है जो समाज को स्थिर रख सकती है।''[7] यह कथन प्रेमचंद की गांधीवादी आस्था को अभिव्यक्त करता है। यहाँ समाज की समस्याओं के बीच भी नैतिक पुनर्निर्माण की संभावना विद्यमान है। हिंदू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता उन्मूलन और सामाजिक समरसता के प्रयास यह संकेत देते हैं कि लेखक समाज को परिवर्तनशील और सुधारयोग्य मानते हैं। उनके यहाँ विघटन के बावजूद आशा का तत्व सक्रिय रहता है।

इसके विपरीत 'झूठा सच' में विभाजन-कालीन समाज की निराशा और आक्रोश उभरकर सामने आता है-''ये लीडर हमारे साथ दगा कर रहे हैं। मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को कुर्बान कर रहे हैं। पाकिस्तान की सरकार को अपनी रियाया का ख्याल है... यह सब महात्मा गांधी की करतूत है। वह मुसलमानों का पीर बनना चाहता है। रोज रेडियो पर उन लोगों का हौसला बढ़ाता है...''

''पाकिस्तान को रुपया नहीं देंगे।''

''गांधी गद्दार है।''

''खून का बदला खून से लेंगे।''

''गांधी को मर जाने दो।''

''गांधी मुल्क का दुश्मन है।''

''मुसलमानों को बाहर निकालो।''

''कश्मीर हमारा है।''[8]

यहाँ गांधीवादी आदर्शों और जनमानस के बीच तीव्र टकराव दिखाई देता है। समाज का एक बड़ा वर्ग भय, असुरक्षा और प्रतिशोध की भावना से संचालित है। प्रेमचंद के आशावाद की तुलना में यशपाल का दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी और निराशापूर्ण है, जहाँ नैतिक आदर्श भीड़ की हिंसक मानसिकता के आगे असहाय प्रतीत होते हैं।

'तमस' में यह वैषम्य और गहराता है ''यह सब हिंदुओं की चालबाजी है, बदमाशी है, हम सब जानते हैं। आप चाहे जो कहें, कांग्रेस हिंदुओं की जमात है। कांग्रेस हिंदुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। कांग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।''[9] यह कथन उस अविश्वास और मनोवैज्ञानिक विभाजन को प्रकट करता है, जिसने समाज को धार्मिक पहचान के आधार पर बाँट दिया। यहाँ समस्या केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि मानसिक और भावनात्मक है। प्रेमचंद के यहाँ जो एकता की संभावना थी, वह यहाँ संदेह और अलगाव में परिवर्तित हो जाती है।

अंततः 'राग दरबारी' में सामाजिक दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक रूप ग्रहण कर लेता है ''पुनर्जन्म के सिद्धांत की ईजाद दीवानी अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर न मरें कि उनका मुकदमा अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे सोचते हुए चैन से रह सकते हैं कि मुकदमे का फैसला सुनने के लिए अभी अगला जन्म पड़ा ही है।''[10] यहाँ लेखक सीधे सुधारवादी आग्रह नहीं करते, बल्कि तीखे व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक जड़ता और न्यायिक अव्यवस्था पर

प्रहार करते हैं। समाज अन्याय को बदलने के बजाय उसे सहने का आदी हो चुका है।

जब हम तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखेंगे, तो 'कर्मभूमि' में आशा और नैतिक पुनर्निर्माण की भावना निहित है; वहीं 'झूठा सच' में निराशा और आक्रोश झलकता है। 'तमस' में भय और अविश्वास की भावना है, जबकि 'राग दरबारी' में कटु व्यंग्य और मोहभंग की स्थिति दिखाई देती है। ये सभी पहलू आधुनिक हिंदी उपन्यासों में विचारों की विविधता को उजागर करते हैं। सामाजिक समस्याएँ एक समान हैं, लेकिन इन पर प्रतिक्रिया का तरीका अलग-अलग है- आदर्शवाद से लेकर यथार्थवाद, फिर यथार्थवाद से त्रासदी और अंततः त्रासदी से व्यंग्य तक की यात्रा, आधुनिक हिंदी साहित्य में सामाजिक दृष्टिकोण के बदलाव को दर्शाती है।

2. राजनीतिक यथार्थ का तुलनात्मक अध्ययन

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में राजनीति का चित्रण केवल स्वतंत्रता संग्राम या आदर्शवाद तक सीमित नहीं है। ये उपन्यास स्वार्थ, अवसरवाद और सत्ता पर ध्यान केंद्रित करने वाली प्रवृत्तियों को भी उजागर करते हैं। विभिन्न समयावधियों जैसे- औपनिवेशिक शासन, स्वतंत्रता संग्राम, विभाजन, और स्वतंत्रता के बाद के भारत की पृष्ठभूमि में, इन उपन्यासों में एक बड़ा साम्य दिखाई देता है : राजनीति धीरे-धीरे जनहित के पक्ष से हट कर स्वार्थ, शक्ति, और नियंत्रण का साधन बन जाती है। इसी तरह, सत्ता और प्रशासन भी आदर्शों के बजाय भ्रष्टाचार, अक्षमता और व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्तियों से प्रभावित होते हैं।

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में राजनीति को केवल आदर्शवादी संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि स्वार्थ, अवसरवाद और सत्ता-लिप्सा से प्रभावित व्यवस्था के रूप में भी चित्रित किया गया है। विभिन्न कालखंडों की पृष्ठभूमि के बावजूद इन कृतियों में यह समानता स्पष्ट है कि राजनीति धीरे-धीरे जनहित से हटकर निजी और वर्गीय हितों का माध्यम बन जाती है।

'कर्मभूमि' में राजनीति आदर्श और यथार्थ के द्वंद्व के रूप में प्रस्तुत होती है ''वह अब क्रांति में ही देश का उद्धार समझता था- ऐसी क्रांति में, जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांतों का, परिपाटियों का अंत कर देय जो एक नए युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर देय जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे। ... लेकिन उदार हिन्दू समाज उस वक्त तक किसी से नहीं बोलता जब तक उनके लोकाचार पर खुल्लम-खुल्ला आघात न हो; कोई क्रांति नहीं, क्रांति के बाबा का ही उपदेश क्यों नकारे, उसे परवाह नहीं होती।''[11] यहाँ अमरकांत के माध्यम से क्रांतिकारी चेतना व्यक्त होती है, किंतु समाज की जड़ता और राजनीतिक निष्क्रियता उस क्रांति को साकार नहीं होने देती। आदर्शवाद की चर्चा तो है, पर व्यवहार में स्वार्थ और परंपरागत लोकाचार की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार राजनीति परिवर्तन का माध्यम बनने के बजाय समझौतों और सीमित हितों तक सिमट जाती है।

'झूठा सच' में स्वतंत्रता-उत्तर राजनीति की स्वार्थपरक प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट है ''अब कांग्रेस का चंदा चार-चार आने और रुपये-रुपये की रसीदों से इकट्ठा नहीं किया जाता है। चुनाव फंड में मिलों, कंपनियों और बड़े-बड़े करोड़पतियों से हजारों और लाखों में चंदा आता था।''[12] यह कथन स्वतंत्रता-आंदोलन और स्वतंत्रता-उत्तर राजनीति के अंतर को रेखांकित करता है। पहले राजनीति जन-समर्थन और नैतिक आदर्शों पर आधारित थी; अब वह पूँजीपतियों के आर्थिक सहयोग पर निर्भर हो गई है। इससे लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण और अवसरवाद की प्रवृत्ति बढ़ती है। राजनीति जनसेवा से हटकर आर्थिक हितों और सत्ता-संतुलन का साधन बन जाती है।

'तमस' में औपनिवेशिक राजनीति का स्वरूप इस प्रकार सामने आता है ''यहाँ के लोग कुछ नहीं जानते। वे वही कुछ जानते हैं, जो हम इन्हें बताते हैं।''[13] रिचर्ड के इस कथन में साम्राज्यवादी मानसिकता और सांस्कृतिक वर्चस्व की भावना प्रकट होती है। अंग्रेज सत्ता भारतीयों की अज्ञानता का लाभ उठाकर विभाजनकारी राजनीति को बढ़ावा देती है। यहाँ राजनीति जनहित के बजाय सत्ता-संरक्षण और नियंत्रण की रणनीति बन जाती है।

'राग दरबारी' में स्वतंत्रता-उत्तर लोकतांत्रिक राजनीति पर तीखा व्यंग्य मिलता है, ''भैया लठैती का काम कोई असेम्बली का काम तो है नहीं। असेम्बली में जितने बूढ़े होते जाओ, जितनी अक्ल सठियाती जाय उतनी ही तरक्की होती है...''[14] यह उद्धरण दर्शाता है कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ योग्यता या नैतिकता के आधार पर नहीं, बल्कि अवसरवाद और टिके रहने की क्षमता पर चल रही हैं। राजनीति सेवा नहीं, बल्कि

सत्ता-सुख और प्रभाव प्रदर्शन का माध्यम बन गई है।

इन चारों उपन्यासों में समय और परिस्थितियाँ भिन्न हैं, पर साम्य यह है कि राजनीति जनहित से हटकर स्वार्थमूलक प्रवृत्ति में परिवर्तित हो जाती है।

राजनीतिक स्वार्थ का असर सिर्फ विचारधारा तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सत्ता और प्रशासनिक ढांचे में भी स्पष्ट रूप से नजर आता है। इन उपन्यासों में शासन प्रणाली जन कल्याण के सिद्धांत से हटकर भ्रष्टाचार, असक्षम कार्रवाई और व्यक्तिगत लाभ के आंदोलनों से प्रभावित होती हुई दिखाई देती है।

राजनीतिक स्वार्थ का प्रभाव प्रशासनिक व्यवस्था पर भी पड़ता है। 'झूठा सच' में विभाजन के बाद की प्रशासनिक अव्यवस्था का चित्रण मिलता है, ''तारा ने इंस्पेक्टर भानुदत्त के विरुद्ध खेमी माई की शिकायत को फाइल बनाकर सुपरिटेंडेंट साहब के यहाँ भेज दी... तीन जगहों पर इंस्पेक्टर के बीस-बीस रुपये रिश्वत लेने की शिकायतें मिलीं। दो पतों पर मशीन पाने वाले थे ही नहीं।''[15]

यह प्रसंग दर्शाता है कि पुनर्वास योजनाओं में भ्रष्टाचार और लापरवाही व्याप्त थी। प्रशासन जनता की सेवा के बजाय रिश्वत और अनियमितताओं में लिप्त था।

'तमस' में राजनीतिक अपरिपक्वता और प्रशासनिक कमजोरी इस प्रकार सामने आती है, ''सभी गालियाँ देते हैं, काम न धाम...''[16] यह कथन उस नेतृत्वहीनता और अव्यवस्था को प्रकट करता है, जिसमें प्रशासन प्रभावी भूमिका निभाने में असफल रहता है। सांप्रदायिक तनाव को नियंत्रित करने के बजाय नेतृत्व आपसी आरोप-प्रत्यारोप में उलझा रहता है।

'राग दरबारी' में विकास योजनाओं का दुरुपयोग स्पष्ट है, ''सामुदायिक मिलन केन्द्र ग्राम सभा के नाम पर लिए गए पैसे से बनवाया गया था... ज्वार प्रिंसिपल के भैंस के काम आती थी।''[17] यहाँ ग्राम सभा जैसी लोकतांत्रिक संस्था भी निजी स्वार्थ की पूर्ति का साधन बन जाती है। शिक्षा और विकास योजनाएँ राजनीतिक दिखावे तक सीमित रह जाती हैं।

तुलनात्मक रूप से देखा जाए, तो इन उपन्यासों में राजनीति और प्रशासन के बीच समानता स्पष्ट रूप से नजर आती है। चाहे वह औपनिवेशिक शासन का युग हो, स्वतंत्रता संग्राम का समय या स्वतंत्रता के बाद का भारत-राजनीति धीरे-धीरे आदर्शों से भटककर स्वार्थ और सत्ता के इर्द-गिर्द घूमने लगती है। इसी प्रकार, प्रशासन भी जनता की भलाई के बजाय भ्रष्टाचार, निष्क्रियता और अवसरवाद के चिह्न के रूप में उभरता है। इन कृतियों में राजनीति और सत्ता की आलोचनात्मक छवि आधुनिक हिंदी उपन्यासों की एक साझा विशेषता है। यह दर्शाती है कि जब नैतिकता और जनहित की अनदेखी होती है, तो लोकतांत्रिक संस्थाएँ भी अपनी पहचान खोने लगती हैं।

'झूठा सच', 'तमस', और 'राग दरबारी' ये चारों उपन्यास भारतीय राजनीतिक इतिहास के विभिन्न चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन कृतियों में राजनीति की प्रकृति, उद्देश्य और प्रभाव के विभिन्न रंग दिखाई देते हैं। कुछ में गांधीवादी आंदोलन और सामाजिक पुनर्निर्माण का आदर्श दृष्टिगोचर होता है, जबकि अन्य में विभाजन की पीड़ा, राष्ट्रवाद का उत्थान और धार्मिक उन्माद का टकराव है। इसके अतिरिक्त, कुछ उपन्यास स्वतंत्रता के बाद के निराशा और व्यंग्य को भी दर्शाते हैं। यही विविधताएँ इन रचनाओं के राजनीतिक ष्टिकोण में विशिष्ट भिन्नता को उजागर करती हैं।

'कर्मभूमि' में राजनीति का आधार नैतिक मूल्यों और गांधीवादी विचारधारा पर है। यहां सामूहिक संघर्ष, आत्म-त्याग, और संगठित शक्ति के माध्यम से सामाजिक न्याय की स्थापना की संभावना जताई गई है। राजनीति को परिवर्तन और पुनर्निर्माण के एक माध्यम के रूप में देखा गया है, जो उज्ज्वल भविष्य की ओर इशारा करती है।

'कर्मभूमि' में राजनीति गांधीवादी आदर्शों से प्रेरित सामाजिक परिवर्तन का माध्यम है ''लेकिन वह दिन दूर नहीं है, जब यही आँसू चिंगारी बनकर अन्याय को भस्म कर देंगे। इसी राख से वह अग्नि प्रज्वलित होगी, जिसकी आंदोलित शिखाएँ आकाश को हिला देंगी। नैना के बलिदान व सामूहिक शक्ति के सामने धनिकों को झुकना पड़ता है। मजदूरों को जमीन मिल जाती है।''[18] यहाँ राजनीति संघर्ष और त्याग के माध्यम से न्याय की स्थापना का विश्वास जगाती है। प्रेमचंद मजदूर वर्ग की चेतना और संगठन शक्ति को सकारात्मक परिवर्तन की दिशा में देखते हैं। सुखदा और अमरकांत जैसे पात्र गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित होकर अन्याय के विरुद्ध संगठित संघर्ष करते हैं। इस उपन्यास में राजनीति नैतिक आधार पर टिकी हुई है और उसका लक्ष्य सामाजिक समता एवं वर्गीय अन्याय का अंत है।

'झूठा सच' में राजनीति विभाजन की हिंसा और सामाजिक टूटन का कारण बन जाती है। इस कहानी में राजनीतिक निर्णयों का प्रभाव आम लोगों के जीवन में भय, विस्थापन,

और विनाश के रूप में प्रकट होता है। आदर्शवाद के स्थान पर यहां त्रासदी और असुरक्षा का अनुभव होता है। ''सैदनमट्ठा में मुसलमानों की भीड़ ने आधी रात में बन्नी के हाते को घेरकर बहुत से मकानों में एक साथ आग लगा दी थी... उनका मकान, दोनों ओर के मकान और सामने माधोदास का मकान भी जल गए थे...''[19]

यहाँ राजनीति आदर्शवादी संघर्ष का माध्यम नहीं, बल्कि विभाजन की त्रासदी का कारण बन जाती है। स्वतंत्रता की उपलब्धि के साथ ही समाज सांप्रदायिक हिंसा की आग में झुलस जाता है। यशपाल दिखाते हैं कि राजनीतिक निर्णयों का प्रभाव आम जनता के जीवन पर कितना विनाशकारी हो सकता है। जहाँ 'कर्मभूमि' में सामूहिक शक्ति से न्याय की स्थापना होती है, वहीं 'झूठा सच' में राजनीतिक परिस्थितियाँ सामाजिक संरचना को तोड़ देती हैं।

'तमस' में राजनीतिक परिप्रेक्ष्य वैचारिक द्वंद्व के रूप में उभरता है-

''बोल भारतवासी की-जय!

महात्मा गांधी की-जय!''

''पाकिस्तान-जिंदाबाद!

कायदे आजम-जिंदाबाद!''[20]

यह दृश्य समाज के भीतर दो समानांतर धाराओं संयुक्त राष्ट्रवाद और धार्मिक राष्ट्रवाद को दर्शाता है। यहाँ राजनीति केवल सत्ता का प्रश्न नहीं, बल्कि पहचान और अस्तित्व का प्रश्न बन जाती है। भीष्म साहनी दिखाते हैं कि राजनीतिक विचारधाराएँ व्यक्ति की चेतना को विभाजित कर देती हैं। एक ही गली में विरोधी नारों का उठना सामाजिक विघटन का प्रतीक है।

'राग दरबारी' में राजनीतिक परिप्रेक्ष्य स्वतंत्रता के बाद के यथार्थ को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करता है ''सामुदायिक मिलन केन्द्र ग्राम सभा के नाम पर लिए गए पैसे से बनवाया गया था... ज्वार प्रिंसिपल के भैंस के काम आती थी।''[21]

यहाँ लोकतांत्रिक संस्थाएँ केवल औपचारिकता बनकर रह गई हैं। विकास योजनाएँ और ग्राम सभा जैसी संस्थाएँ निजी स्वार्थ की पूर्ति का साधन बन जाती हैं। आदर्शवाद का स्थान अवसरवाद ने ले लिया है।

यदि 'कर्मभूमि' में राजनीति परिवर्तन की आशा है, 'झूठा सच' में त्रासदी है, 'तमस' में वैचारिक विभाजन है, तो 'राग दरबारी' में मोहभंग और कटु यथार्थ का व्यंग्य है।

चारों उपन्यासों में राजनीतिक दृष्टिकोण से स्पष्ट असमानताएँ देखने को मिलती हैं। 'कर्मभूमि' में गांधीवादी संघर्ष और नैतिक मूल्यों पर आधारित राजनीति को दर्शाया गया है, जबकि 'झूठा सच' में विभाजन की विनाशकारी राजनीति का चित्रण किया गया है। 'तमस' में राष्ट्रवाद और धार्मिक उन्माद का टकराव प्रस्तुत किया गया है, और 'राग दरबारी' में स्वतंत्रता के बाद लोकतंत्र की विडंबनाओं पर प्रकाश डाला गया है। इन सभी कृतियों के माध्यम से भारतीय राजनीति के विकास का एक यात्रा-दर्शन मिलता है, जो आदर्शवाद से मोहभंग की ओर बढ़ता है। यही असमानता इन उपन्यासों की वैचारिक विविधता और ऐतिहासिक जागरूकता को साबित करती है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि 'कर्मभूमि' (मुंशी प्रेमचंद), 'झूठा सच' (यशपाल), 'तमस' (भीष्म साहनी) और 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल) आधुनिक हिंदी उपन्यास परंपरा में सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ का विविधतापूर्ण चित्रण करते हैं। इन चारों रचनाओं में सामाजिक स्तर पर विघटन, नैतिक संकट और व्यवस्था की विसंगतियों का एक समान अनुभव देखने को मिलता है, लेकिन उनके दृष्टिकोण और समाधान में अंतर स्पष्ट है- कहीं आशा का संचार है, कहीं त्रासदी का अहसास, कहीं विभाजन की चर्चाएं, तो कहीं व्यंग्य की बाण।

राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में, इन उपन्यासों की यात्रा आदर्शवाद से निराशा की ओर बढ़ती है। 'कर्मभूमि' में संघर्ष और नैतिक पुनर्निर्माण का महत्व दर्शाया गया है; 'झूठा सच' में विभाजन की राजनीतिक विडंबना को उजागर किया गया है; 'तमस' में राष्ट्रवाद और धार्मिक उन्माद के बीच का द्वंद्व है; और 'राग दरबारी' में लोकतांत्रिक संस्थाओं की विडंबनापूर्ण स्थिति को रेखांकित किया गया है।

इस प्रकार, ये चारों उपन्यास मिलकर आधुनिक हिंदी साहित्य में सामाजिक-राजनीतिक चेतना के विकास की यात्रा को स्पष्ट करते हैं। साम्य और वैषम्य के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि साहित्य केवल यथार्थ का परावर्तन नहीं है, बल्कि उस पर गहन चिंतन और आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. प्रेमचंद, मुंशी. (2025). कर्मभूमि. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 65
2. यशपाल. (2025). झूठा सच. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 130
3. साहनी, भीष्म. (2024). तमस. दरियागंज, नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 11
4. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 6
5. प्रेमचंद, मुंशी. (2025). कर्मभूमि. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 57
6. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 14
7. प्रेमचंद, मुंशी. (2025). कर्मभूमि. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 73
8. यशपाल. (2025). झूठा सच. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 152
9. साहनी, भीष्म. (2024). तमस. दरियागंज, नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 31
10. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 27
11. प्रेमचंद, मुंशी. (2025). कर्मभूमि. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 158
12. यशपाल. (2025). झूठा सच. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 318
13. साहनी, भीष्म. (2024). तमस. दरियागंज, नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 38
14. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 46
15. यशपाल. (2025). झूठा सच. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 79
16. साहनी, भीष्म. (2024). तमस. दरियागंज, नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 140
17. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 14
18. प्रेमचंद, मुंशी. (2025). कर्मभूमि. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 102
19. यशपाल. (2025). झूठा सच. प्रयागराज, भारत : लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 111
20. साहनी, भीष्म. (2024). तमस. दरियागंज, नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 31
21. शुक्ल, श्रीलाल. (2024). राग दरबारी. नई दिल्ली, भारत : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ 14

लोक नाटक : एक स्वछंदता और जीवन शैली

डॉ. रेनू कुकरेती

मनुष्य का स्वभाव उसके जीवन की स्वछंदता हमेशा उसे जीवंत रखती है, लोक नाटकों का प्रचलन सभी काल में रहा क्योंकि यह आम लोगों के जीवन से जुड़ा मनोरंजन था। लोक नाटक किसी न किसी रूप में नाटय शास्त्र के पूर्व रंग की विधि का पालन करते हैं। लोकधर्मी नाटक की सार्थकता उसके मंचन में ही निहित है। ये नाटक खेले जाने के लिए ही रचे जाते हैं। लोक नाटकों का आगमन लोगों के मिले-जुले समाज से हुआ। लोक नाटय लोकधर्मी थे अर्थात् वह समाज के लोगों का जनमंच होते है। इन नाटक के स्वरूप में सहजता, सरलता व मिट्टी की महक का अनुभव होता है। यह नाटक या अभिनय जो जन साधारण बिना नाटक-कला सीखे अपनी कल्पना से बनाते हैं और जन साधारण को दिखाते हैं। लोक नाटक शास्त्रीय 'नियमों' से बनने वाले नाटकों से अलग होते हैं। लोक नाटकों में नृत्य की विशेष शैलियों द्वारा आम लोगों के जीवन-शैली को प्रस्तुत किया जाता है। इनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के बदलाव के कारण उसके स्वरुप में विविधता दिखाई देती है। लोक नाटक का आंतरिक रूप सभी स्थानों पर एक जैसा ही है केवल उसका नाम और प्रस्तुतिकरण में बदलाव देखा जा सकता है। डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'भारतीय लोक नाटय की भूमिका' में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं 'लोक कला रूपों की जातीय संस्कृति से गहरी निकटता रही है। ये कला रूप अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता के अनुरूप परस्पर भिन्न शैल्पिक-निजता रखने के बावजूद अंतर्वस्तु के स्तर पर गहरे एकात्म होते हैं। लोकगीतों, कलाओं और लोकनाटय-रूपों के संदर्भ में इसे देखा जा सकता है।'[1]

लोक नाटकों की दो धाराएँ प्रवाहित रहीं पहला लौकिक प्रेमाख्यान- मूलक नाटक जैसे नौटंगी, स्वांग, तमाशा ख्याल, बिदेशिया तथा दूसरी मंदिरों अथवा धार्मिक सम्प्रदायों पर आधारित तेरुकुत्तु अंकियानट, रासलीला, रामलीला आदि लोक रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसकी बाहरी आभूषण, लोक रंगमंच की उमंग की स्वाभाविक अनायास अभिव्यक्ति है। नागरिक रंगमंच कलात्मक चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति लोक नाटकों के विभिन्न रूपों में ही उसकी विविधता का रंग दिखाई देता है। लोक नाटकों में भी गीत-संगीत के रूप में काव्य और कविता का ही बोलबाला रहा। लोक नाटकों के प्रदर्शन बन्द प्रेक्षागृह में नहीं बल्कि खुले मैदानों में किया जाता था।

लोक नाटकों के कुछ प्रसिद्ध रूप है जिनमें भारत के भौगोलिक रूप के अनुसार ही उनकी संरचना का आधार दिखाई देता है।

रामलीला : उत्तर भारत का सबसे प्राचीन और लोकप्रिय नाटयरूप रामलीला है। रामलीला की कई क्षेत्रीय शैलियाँ हैं। जिसमें श्री राम के जीवन का नाटकीकरण किया जाता है। यह परम्पराओं से चली आ रही धार्मिक भावनाओं के अनुसार प्रस्तुत की जाती है। राम जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक रामलीला का मंचन किया जाता है। रामलीला मुख्य रूप से रामचरित मानस पर आधारित है। डॉ. स्वरूप सावित्री के अनुसार, ''रामलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य के द्वारा मन जाता है। रामलीला का श्री गणेश स्वयं तुलसीदास जी की किया था।''[2]

मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तरांचल आदि राज्यों में

आज भी रामलीला का मंचन व तैयारियाँ दशहरा से पहले शुरू कर दी जाती है। रामलीला के सभी पात्र रामचरित मानस के मुख्य पात्र होते हैं। चौपाई व संवादों द्वारा पात्र अपने चरित्रों के अभिनय द्वारा आम जनता व दर्शकों को अलौकिक गण भावानुभूति व भक्ति के माहौल में रंग देते हैं। रामलीला के अन्तिम दिन सभी क्षेत्रों में रावण, कुंभकरण, मेघनाद के कागज के पुतले लगाए जाते और श्री राम-रावण युद्ध में राम द्वारा उन पर आग लगा दी जाती है। रामलीला न्याय की अन्याय पर जीत का प्रतीक है।

रासलीला : उत्तर प्रदेश का प्रमुख धार्मिक लोकनाटय रूप रासलीला है। श्री कृष्ण व गोपिकाओं की लीलाएँ, राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंगों का चित्रण, ब्रजवासियों का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम का प्रस्तुतिकरण रासलीला द्वारा किया जाता है। रासलीला मंदिरों के प्रागंण में की जाती थी। रास नृत्य का विधान भी इसका मुख्य अंग होता है। रासलीला की अभिनय शैली का अतिरंजनात्मक होती है। संगीत व नृत्य का मधुर मिलन देखने वालों को दिव्य लोक के दर्शन करता कराती है।

अंकिया नाट : मध्ययुग में वैष्णव मत के कारण असम के वैष्णव संत शंकर देव ने अपने शिष्यों सहित ब्रजमण्डल की यात्रा की। वहाँ रामलीला की प्रस्तुतियों को देखकर वे अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने भी नाट की प्रस्तुति द्वारा कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर मंचन करवाया। अंकिया नाटों में एक ही अंक होता है। आकार में छोटे होते हैं। गीत रागबद्ध होते हैं। शंकरदेव, माध्यवदेव के नाटकों में अंकिया नाट शैली का रूप देखा जा सकता है।

स्वांग : हरियाणा प्रदेश से जुड़ा लोक नाटक का प्रसिद्ध रूप है। स्वांग का अर्थ है - नकल करना, वेश बदलना। हरियाणा के लोकमानस को स्वांग की रसानुभूति करम कराने के लिए नाटककारों ने स्वांग नाटय रूप की रचना की। दीपचंद, सरूपचंद, मांगेराम, लखमचंद, रामकिशन व्यास, चंदलाल बादी, धनपत आदि स्वांग नाटयकारों ने जनमानस तक इस विधा को पहुंचाया। स्वांग की शैली गयात्मक होती है। 'ढोलामारू' हरियाणा की एक प्रसिद्ध लोककथा है। यह खुले मंच पर प्रस्तुत की जाती है। यवनिका का कोई विधान नहीं होता है। मंच के तीन ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। स्वांग की परम्परा का वर्णन कबीर दास जी के दोहों में भी मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि स्वांग की परम्परा भक्तिकाल से भी पहले से थी। डॉ. दशरथ ओझा जी हिंदी नाटक का उद्‌भव विकास में उद्धत किया है। उनके अनुसार, ''जायसी से पूर्व कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशा का इतना अधिक प्रचार हो रहा था कि साधू-महात्माओं के आदेश अवज्ञा के कानों से सुने जाते थे।''[3]

नौटंकी : गाया-गायन की शैली से विकसित हुआ, गाथा-गायक अपनी कथाओं के माध्यम से नाटकीय अभिव्यक्ति करते थे, समय के साथ इस प्रचलित शैली में पात्रों का प्रयोग किया जाने लगा। पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार आदि राज्यों मे नौटंकी बहुत प्रचलित है। नौटंकी में शहजादी, सियाहपोश, गुलफाम त्रिया चरित्र, सुलताना डागू शाही लकड़हारा आदि प्रमुख हैं। नौटंकी का मंचा खुला होता है।

बिदेसिया : बिहार का लोक नाटय रूप बिदेया है। भिखारी ठाकूर जो पढ़े-लिखे नहीं थे, बचपन में ही अपना घर छोड़कर नाटक मण्डली बनाकर उसी को रचनात्मक रूप देने का प्रयास करते रहे। इन लोक नाटकों को बिदेसिया इसलिए कहा गया क्योंकि नायिका का पति काम की तलाशा में विदेश जाकर पर स्त्री के प्रेम-पाशा में फंस जाता है और वापस नहीं आता। नायिका उसे बिदेया कहकर पुकारती है। बिदेसिया नाटकों द्वारा समकालीन सामाजिक, समस्याओं को दिखाया गया है। लौंडा नाच बिदेया नाटकों का मुख्य आकर्षण रहता है। बिदेसिया मे सूत्रधार को मुलगैन कहा जाता है, वही कथा का संक्षेप में गायन करता है।

ख्याल : यह हिन्दुस्तानी लोक नाटक और राजस्थानी लोकनाटय में बहुत प्रसिद्ध है। यह इसकी प्रस्तुति पुरुषों द्वारा की जाती है। ख्याल के पेशेवर नर्तकियों को 'भवनी' के नाम से जाना जाता है। यह लोक नाटक व मृत्य रूप में दिखाए जाते है। नाटकों का विषय सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और प्रेम कथाओं पर आधारित होते हैं।

तमाशा : लोक नाटक का श्रृंगारिक रूप है। 16वीं शताब्दी में पश्चिम भारत के महाराष्ट्र से शुरू हुआ। तमाशा में मुख्य भूमिका में महिलाएं ही अभिनय करती हैं। उनको मुर्की के नाम से जाना जाता है। 20वीं शताब्दी में तमाशा महाराष्ट्र में व्यावसायिक रूप में सफल हुआ। इस लोक नाटक की विद्या को नृत्य और लोक कलाओं के साथ प्रस्तुत करके नया आयाम देने का प्रयास किया निरंतर किया जा रहा है।

निष्कर्ष - भारतीय नाटय परंपरा का रूप बहुत पुरातन है। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों और नाटय प्रणेताओं ने इसे दृश्य की संज्ञा दी। भारतीय नाटक का इतिहास प्राचीन वैदिक

काल का है। भरत मुनि को भारतीय नाटयशास्त्र का संस्थापक माना जाता है। भरत मुनि व अन्य नाटककारों ने नाटक के तत्वों व उसके अंगों का विस्तृत विवेचन किया। मध्यकाल तक परंपरा से प्रस्तुत किए गए नाटकों के समान्तर लोक नाटकों व पारसी नाटकों का चलन देखा गया। पारसी नाटक व रंग परम्परा का मुख्य उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना था। दर्शक पारसी रंगमंच पर दिखाए जाने वाले नाटकों के लिए थियेटर कंपनी मालिकों को पैसा देते थे। लोक नाटकों की विकास परम्परा प्रत्येक काल में देखी जा सकती है। लोक नाटकों की शैलियां अलग-अलग रूप में भारत के गाँव व कस्बों में देखी जा सकती हैं। इस तरह नाटक का स्वरूप, उद्‌भव व विकास का क्रम आधुनिक युग में निरंतर प्रयासरत है। समय व परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्येक काल में नाटक व रंगमंच को नए आयाम देता रहा।

भाषा विभागाध्यक्ष, हिंदी प्रोफेसर
टी. जॉन कॉलेज, बेंगलुरु, कर्नाटक

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, भूमिका, भारतीय लोकनाटय, पृष्ठ संख्या-9
2. डॉ. स्वरूप सावित्री, नव्य हिंदी नाटक, पृष्ठ संख्या-292
3. डॉ. दशरथ ओझा जी, हिंदी नाटक का उद्‌भव विकास, पृष्ठ संख्या-37

'हरी घास पर क्षण भर' काव्य संग्रह में प्रकृति

मुस्कान कुमारी पटेल

एक दौर की काव्यगत रूढ़ियों की अतिव्यता के कारण ही नए दौर का उद्‌भव होता है। छायावाद की प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि का खंडन करते हुए कविता में नवीन चेतना, प्रयोग, प्रतिमान, मानदंडों को स्थापित करते हुए अज्ञेय ने प्रयोगवाद का प्रवर्तन किया और इसी प्रयोग की प्रौढ़ता का प्रमाण अज्ञेय के कविता संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर' में देखने को मिलता है। यह संग्रह 1949 में प्रकाशित हुआ और तत्कालीन समय की मान्यताओं की दृष्टि से श्रेष्ठतम कृतियों में से एक है। अर्थात् प्रयोग की दृष्टि से यह अज्ञेय की श्रेष्ठतम कृति है। जिस समय छायावादी कवि पारंपरिक उपमानों को कविताओं में गढ़ रहे थे उसी के विपरीत अज्ञेय परंपरावादी रूढ़िगत मान्यताओं का विरोध करते हैं। परंतु वह खुद को पूर्ण रूप से परंपरा से भिन्न नहीं मानते अपितु स्वयं को परंपरा का हिस्सा मानकर उसमें नया प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग को उन्होंने काव्य के विषयगत पहलू जिसमें तुच्छ से तुच्छ वस्तु को कविता का आधार मान लेना, सौंदर्य की नग्न अनुभूति, नए उपमान, प्रतीक, बिंब आदि को स्थापित करते हुए पारंपरिक छायावादी प्रवृत्तियों से हट कर प्रयोगवादी नवीन दृष्टिकोण के रूप में दर्शाया है।

इस संग्रह की कविताओं में 'दूर्वाचल', सो रहा है झोंप, क्वाँर की बया, शरद्, कल की पूनो और पावस प्रात, रिलङ, आदि रचनाएँ मुख्यतया प्रकृतिपरक हैं। जिसमें कवि ने विभिन्न मनोभावों को प्रस्तुत करने के लिए प्रकृति के उपमानों को आधार बनाया है। कभी-कभी यह मनोभाव सामान्य होते हैं परंतु कभी-कभी तीव्र होकर गंभीरता से प्रदर्शित होते हैं। अज्ञेय ने प्रकृति के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं को मार्मिक और सहज रूप में दिखाने का प्रयास किया है। इस संग्रह में प्रकृति के सामान्य विषयों को जैसे कलगी, बाजरा, द्वीप, दीप, नदी, पपीहा, शरद, सागर, आकाश, बाग, बगीचा आदि को आधार बनाया गया है जो कवि की नवीन दृष्टि को प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह सभी तत्व पारंपरिक है परंतु जिस तरह से इसका प्रयोग अज्ञेय ने अपने काव्य में किया वह अद्‌भुत है।

इस संग्रह में कई कविताएं शामिल हैं जिसमें अज्ञेय ने प्रकृति को एक नया ही रूप दिया है। मुख्य रूप से इस संग्रह की कविताओं का स्वरूप शहरी जीवन की भाग दौड़ के बीच में मानवीय संवेदनाओं की खोज, प्रेम की तलाश है जहां प्रकृति इस तलाश को पूर्ण करती हुई दिखाई दे रही है। जिस दौर में अज्ञेय काव्य को गढ़ रहे थे वह दौर अकेलेपन, अस्तित्व की शून्यता से ग्रस्त दौर रहा है, ऐसे समय में अज्ञेय का कवि व्यक्ति के जिए गए सच और भोगे गए यथार्थ को प्रकृति के उपादानों द्वारा गढ़ने का प्रयास करते हैं। इस संग्रह की मुख्य कविता में से ''हरी घास पर क्षण भर'' कविता प्रमुख है। जिसमें घास न केवल प्रकृति का एक उपमान महज रह गया है बल्कि यह नश्वरता, कोमलता, उपेक्षा, प्रकृति की जीवंतता, सौंदर्य, स्वतंत्र जीवन के आमंत्रण का प्रतीक है। अज्ञेय का मानना है कि व्यक्ति का यह जीवन इस घास की भांति सहज होना चाहिए। इस संग्रह में प्रकृति के माध्यम से कवि ने मानव मन की दबी-छिपी भावना को दर्शाने का प्रयास किया है साथ ही शहरी जीवन की इस व्यस्तता भरे माहौल में कवि प्रकृति और प्रेम के मनोहर क्षणों के माध्यम से मानवीय जीवन के महत्वता को स्पष्ट करते हुए पल की महत्वता को स्पष्ट करते

हैं। कवि पाठक वर्ग को शहरी जीवन की चिताओं से दूर एकांत कुछ समय प्रकृति के साथ व्यतीत कर उन्हें प्रकृति को अपना साथी समझकर उसके साथ आत्मिक जुड़ाव महसूस करने का आवाहन करते हैं। साथ ही शहर के बनावटी पान और बंधन पूर्ण सभी जीवन पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-"आओ बैठो, तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का व्यवधान रहे बस, नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।''

आधुनिक जीवन की भीड़भाड़ में उलझा हुआ मनुष्य प्रकृति के प्रांगण में अपने आप को मुक्त समझता है और स्वतंत्र मानता हैं जहां ''घास नवीन चेतना का प्रतीक है, माली चौकीदार सामाजिक बंधनों का प्रतीक है, सहज प्रणय की स्थिति में आत्मा विस्मृति मुक्ति के बोध का प्रतीक है। इसलिए वह नागरिक सभ्यता पर व्यंग्य करते हैं कि इसमें साबुन जैसी चिकनाहट है परंतु करुणा एवं सहानुभूति का अभाव है।''-''आओ बैठो इसी ढाल की हरी घास पर,माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है, और घास तो अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह, सदा बिछी है हरि, न्यौतती, कोई आकर रौंदे।''

कवि ने कविताओं में प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य का अद्‌भुत समन्वय भी दर्शाया है। प्रकृति केवल प्रतीक ही नहीं है अपितु प्रेम और सौंदर्य का चित्रण भी प्रस्तुत करती है। कवि की दृष्टि में प्रेम का विकास व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतीक है इसलिए अपनी प्रेमिका की ओर देखकर उसकी आंखों को निहारते हुए प्रेमी उसके आंतरिक मन में झांकना चाहता है। यह निहारना उसकी दमित वासनाओं की विकृति के रूप में नहीं है इसलिए उनका अपनी बंधु के साथ हरी घास पर बैठना नगर की बुदकती अकुलाहट से पलायन नहीं है। उन्हीं के साथ वह वहां से चलना चाहते हैं।-"चलो उठे अब, अब तक थे हम बंधु सैर को आए'' -(देखे हैं क्या कभी घास पर लोट पोट होते सतभै ये शोर मचाते) और रहे बैठे तो, लोग कहेंगे धुंधले से दुबके प्रेमी बैठे हैं, वह हम हो भी, तो यह हरी घास जाने।'' अर्थात् यह कविता नैसर्गिक प्रेम के विकास की अभिव्यक्ति है जिसमें क्षणवाद का निरूपण भी मौजूद है। व्यक्ति के लिए एक पल की महत्वता को दर्शाया गया है क्योंकि बीते पल की अनुभूति कोई दूसरा पल नहीं कर सकता है और यह क्षण मौन के द्वारा व्यक्ति के अंतरंग भावनाओं को भी दर्शाता है। प्रकृति के संपर्क से व्यक्ति स्वयं को पहचानता है वन के सन्नाटे का मन व्यक्तित्व की खोज में सहायता करता है मौन का प्रयोग कई प्रकृति की विराट सत्ता को जानने के लिए करता है जहां सट्टा केवल मूर्ति और ठोस नहीं अपितु अमूर्त रूप में भी प्रस्तुत होती है मौन भी एक अमूर्त सत्ता के रूप में यहां प्रस्तुत हुई है- ''शरद की सांझ के सूने गगन की पीठिका पर दोलती कलगी अकेली बाजरे की, और सचमुच इन्हें जब-जब देखता हूं, यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है - और मैं एकांत होता हूं समर्पित।''

भाव और विचारों के साथ-साथ कवि की कलात्मक भी समय के साथ प्रौढ़ हुई है। बहुत से पारंपरिक और नए उपमान ऐसे हैं जिनका उपयोग करके कवि ने काव्य में भावनाओं और आत्मा अनुभूति को अत्यंत सूक्ष्मता और स्पष्टता से व्यक्त किया है। अपनी प्रेमिका की तुलना उन्होंने किसी पारंपरिक प्रतीक, उपमानों से करने की बजाय उसे सामान्य उपमानों जैसे लाल बुरुस के उत्फुल्ल गुच्छ सी, कहीं बिछली घास, कहीं बाजरे की छरहरी कलगी आदि के द्वारा विशेष सौंदर्यपूर्ण रूप में किया है।-"हरि बिछली घास, दोलती कलगी छरहरी बाजरे की, अगर मैं तुमको लालती सांझ के नभ की.. अकेली तरिका, अब नहीं कहा, या शरद के भोर की नीहार- न्हायी कुई, टटकी कली चंपे की वगैरह, तो नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना है या कि मेरा प्यार मैला है।''

अज्ञेय की कविताओं में कलगी, ज्वार, नदी ,चांदनी यह सभी उपमान आम है परंतु कवि ने इसे कुछ नए रूप में व्यक्त किया है जिससे काव्य में इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है।-"छिटक रही है चांदनी, मदमाती उन्मादिनी, कलगी मौर सजाब ले, पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गई फलांगती- सन्नाटे में बाक नदी की जगी चमक पर झांकती।''

अंतत: इस संग्रह की कविताओं में प्रत्यक्ष रूप से समाज का रूप नहीं दर्शाया गया हैं परंतु फिर भी समाज में व्याप्त मनुष्य की विडंबनात्मक स्थिति, अकेलापन, आदि को सूक्ष्म रूप में कवि ने प्रकृति के उपमानों के माध्यम से दर्शाने का प्रयास किया है। नदी के द्वीप कविता के माध्यम से कवि ने समाज और मनुष्य के बीच के परस्पर संबंध को दर्शाया है जिसमें व्यक्ति खुद को समाज से पृथक नहीं कर सकता है अर्थात समाज से अलग होने पर व्यक्ति का अस्तित्व धूमिल हो जाता है।अंत नदी द्वीप के अस्तित्व का स्रोत है इसलिए नदी के प्रति द्वीप का समर्पित होना निश्चित है क्योंकि यही 'नदी रूपी समाज','व्यक्ति रूपी द्वीप' के व्यक्तित्व को आकार देकर उसके विकास में सहायक है।-"हम धारा नहीं है, स्थिर समर्पण

है हमाराध्हम सदा से द्वीप है स्रोतस्विनी के, किंतु हम बहते नहीं है, क्योंकि बहन रेत होना है, हम बहेंगे तो रहेंगे नहीं।''

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दौलत राम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, अज्ञेय का प्रकृति – परिवेश, मंथन पब्लिकेशन, 1994
2. आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र, अज्ञेय का काव्य : एक विश्लेषण, हिन्दी साहित्य भंडार, 1972 (पृष्ठ 27–28)
3. आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र, अज्ञेय का काव्य : एक विश्लेषण, हिन्दी साहित्य भंडार, 1972 (पृष्ठ 76–91)
4. सदानीरा भाग–1, (अज्ञेय की संपूर्ण कविताएँ)
5. सदानीरा भाग–2 (अज्ञेय की संपूर्ण कविताएँ), प्रकाशन नेशनल – पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण – 1986
6. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर
7. डॉ. शंकर वसंत मुद्गल, अज्ञेय का काव्य : भाव एवं शिल्प, अमन प्रकाशन,
8. रमेश ऋषिकल्प, अज्ञेय की कविता परंपरा और प्रयोग (पृष्ठ 103)

भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति : चरित्र-सृष्टि और नाट्य-संवेदन

डॉ. प्रमिला

नाटक में चरित्र की विशिष्ट भूमिका है। चरित्र के माध्यम से ही नाटककार अपने कथ्य को प्रस्तुत करता है। नाटक की सफलता बहुत कुछ चरित्र सृष्टि पर निर्भर करती है। नाटकीय पात्रों केचरित्र चित्रण द्वारा ही कथावस्तु का निर्माण किया होता है। नाटक की विश्वसनीयता चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता पर निर्भर करती है। भारतेन्दु ने चरित्र-सृष्टि नाट्यशास्त्रीय बंधनों को आवश्यकतानुसार स्वीकार करके की है। चरित्रों की सृष्टि इस कौशल से की है कि वे स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। नाटक के समस्त पात्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है -आदर्श चरित्र, यथार्थ चरित्र और प्रतीक चरित्र। आदर्श-चरित्रों को छोड़कर शेष सभी यथार्थ रूप में चित्रित किए गए हैं उनमें प्रतीकात्मकता भी है क्योंकि वे अपने की सभी विशेषताओं को लिए हुए हैं।

कहने को तो इस प्रहसन के पात्र उच्चवंश, जाति और धर्मवाले हैं किन्तु शैव और वेदान्ती वैष्णव के अलावा सभी पात्र प्रकृति से पतित धूर्त स्वार्थी और पाखण्डी हैं। प्रहसन में पात्रों के चरित्र हास्य उत्पन्न करने वाले होने चाहिए। इस दृष्टि से उनको धूर्त स्वार्थी पाखण्डी के रूप में चित्रित किया है भारतेन्दु ने प्रहसन के माध्यम से समसामयिक समाज में व्याप्त श्रद्धेय लोगों की स्वार्थपरता और बगुलापन की पोल खोलने के उद्देश्य से ऐसे चरित्रों की सृष्टि की। राजा, पुरोहित, मंत्री तथा गंडकीदास राजनीति और धर्म के स्वार्थपूर्ण गठबंधन के प्रवक्ता मात्र हैं। ये अपने-अपने वर्ग की विशेषताएँ लिए हुए हैं, सत्ता तथा शक्ति में अन्धे होकर अपने भोग-विलास के समर्थन में शास्त्रीय उक्तियों का अनर्गल अर्थ अपने अनुकूल निकालते हैं। ये सभी वर्गगत पात्र हैं। शैव, वैष्णव और वेदान्ती को आदर्श पात्रों के रूप में चित्रित किया हैं। ये ही सामान्य हिन्दू धर्म अनुयायी जनता के प्रतिनिधि हैं।

महाराज गृध्रराज की चरित्र-सृष्टि भारतेन्दु ने समाज के उन सभी धनी-मानी व्यक्तियों के प्रतीक रूप में की है, जिनके जीवन का सार, जुआ, मदिरा, माँस और नारी संग विहार ही है। राजा लोकोन्मुखी न होकर भोगोन्मुखी हैं, भोग-लिप्सा में लिप्त रहता है। अपने मन चाहे कर्म-कुकर्मों के लिए धर्म की आड़ में मान और प्रतिष्ठा प्राप्ति को उत्सुक रहते हैं। मनुष्य का यह सहज स्वभाव नाटककार ने दिखाया है कि वह दुष्प्रवृत्तियों में शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है और अपनी आत्मतुष्टि के लिए कहीं न कहीं से प्रमाण खोज लेता हैं, राजा भी इसका अपवाद नहीं है।

चित्रगुप्त के शब्दों में

''महाराज, सुनिए यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पण्डितों से ले ली। लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच दया, शान्ति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म-जाल किया जिसमें माँस-मक्षण और मदिरा पीने को मिले और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौडी भी व्यय नहीं की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।''[1]

राजा का यह चरित्र यथार्थ हैं और ज्यों-त्यों प्रतिष्ठा के इच्छुक व्यक्तियों का वह बड़ा सटीक चरित्र है। ऐसे व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषताएँ अपने विकृत रूप में चित्रित हुई हैं।

पुरोहित का चरित्र आज के उन पुरोहित-वर्ग का प्रतीक है जो भोग, लालसा, पाखंड के वशीभूत होकर धर्म के विरुद्ध मनोवांछानुकूल व्यवस्था देते हैं। केवल स्वार्थपरता में शास्त्रों के सही अर्थों को विकृत कर अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं। यजमान को अन्धकार में रखकर अपने कथन की गलत ढंग से पुष्टि करते हैं। भोग और वैभव की लालसा में दूसरों से अनाचार करवाते हैं। तुरन्त ही शास्त्र का श्लोक पढ़कर उसका विधान प्रस्तुत कर देते हैं यथा -

''पुरोहित -हाँ हाँ, जी इसमें भी कुछ पूछना है अभी साक्षात् मनु जी कहते हैं।''[2]

चित्रगुप्त के शब्दों में उसकी चारित्रिक विशेषताएँ हैं :

''इसने शुद्ध चित्त से कभी ईश्वर पर विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाए उसका समर्थन करता रहा, टके-टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिए फिर जो कहिए उसी में पंडितजी की सम्मति है केवल इधर-उधर मंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग से माँस मद्य का भी बहुत सेवन किया, सैकड़ों जीव अपने हाथ से वध कर डाले।''[3]

उक्त कथनों से ध्वनित होता है कि नाट्यकार उक्त विचारधारा के लोगों का उपहास कराना चाहते हैं ऐसे लोगों का कार्य केवल धर्म के नाम पर असंयत बातें करना ही शास्त्र के उद्धरणों का दुरुपयोग है। ऐसे पुरोहितों की यह प्रतीकात्मक व्यंग्य चरित्र सृष्टि भारतेन्दु ने सटीक की है।

नाटक में वर्णित मंत्री चाटुकार मंत्रियों का प्रतिनिधित्व करता है। जो राजा को सुमंत्रणा की बजाय कुमंत्रणा देकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करता है। राजा को प्रसन्न करने के लिए हाँ में हाँ मिलाता हैं। उसकी स्वार्थ व लोलुपवृत्ति उसे सन्मार्ग पर चलने से रोकती हैं। वित्रगुप्त ने सही चित्र खींचा है :

''इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाया, मुँह पर स्तुति पीछे निंदा अपना घर बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े, घूँस लेते जन्म बीता। माँस और मद्य के बिना इसने न धर्म जाने न कर्म जाने यह मंत्री की व्यवस्था है।''[4]

तत्कालीन घूस लेने की प्रवृत्ति पर भी प्रकाश डाला है। मंत्री भी प्रजा के शोषण की मुख्य भूमिका का निर्वाह करता है। प्रजा की सुख-सुविधाओं का कोई उपाय कभी उसने नहीं किया, केवल अपनी स्वार्थ पूर्ति को ही देखा।

गंडकीदास उन धर्मवंचक धर्म के ठेकेदारों का प्रतीक है जिन्होंने अपनी मनमानी व्यवस्था देकर धार्मिक सम्प्रदायों को क्रीड़ा केंद्र बना रखा था और निरीह जनता को पथभ्रष्ट करते रहते थे। ऐसे पाखंडी वैदिक अनुयायियों को भी उजागर करके जनता को सावधान रहने का निर्देश भी मिला है। वे बाहर से तो त्रिपुंडधारी साधु का आडंबर करते हैं पर उनके कार्य विलासप्रिय वैश्या प्रेमी से कम नहीं रहते। ऐसे आडम्बर युक्त व्यक्तियों से, उनके आचरणों से मन्दिरों और ठाकुर द्वारों की पवित्रभूमि भी दूषित हो जाती हैं। चित्रगुप्त के शब्दों में :

''महाराज ये गुरू लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिए केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत् न किया होगा, पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आई उनको सर्वदा ताकते रहे, महाराज इन्होंने तो अनेकों को कृतार्थ किया है, और समय तो मैं रामचन्द्र जी का, कृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आबे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इनके पास जाती है।''[5]

गंडकीदास अपने वर्ग का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। साधुओं के विकृत चरित्र का प्रतीक है। विदूषक के माध्यम से भारतेन्दु ने समाज व्यवस्था पर सुंदर व्यंग्य किया है। ब्राह्मण लोग माँस खाते हैं इस पर विदूषक कहता है :

''हे ब्राह्मण लोगों तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस-सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके।''[6]

यमराज और चित्रगुप्त की सृष्टि सबको समान दृष्टि से देखने के रूप में की गई है। बंगाली वेदान्ती चौबदार और यमराज के दूत प्रहसन के गौण चरित्र हैं। परन्तु प्रहसन को सशक्त बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। जन -सामान्य के मनोरंजन के साथ-साथ युगीन समस्याओं को जो समाज की प्रगति में बाधक हैं, दर्शक को प्रत्यक्ष दिखाकर प्रगतिशीलता का सन्देश देने में सफल हुए हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु ने चरित्र-सृष्टि इस भाँति की है कि प्रहसन के खोल में लिपटा व्यंग्य नाटक की संवेदना को प्रेक्षक तक सम्प्रेषित करने में सफल होता हैं। चरित्र सृष्टि इतनी स्वाभाविक है कि उनके क्रिया व्यापार दर्शक को अपने परिवेश में विद्यमान धर्माडंबर, ढोंगी, दुराचारी समाज को दूषित करनेवाले तत्वों के प्रति संवेदनशील बना देता है। एक ओर धूर्त, स्वार्थी, लम्पट चरित्र हैं, दूसरी ओर शैव, वैष्णव, बेदान्ती के चरित्र धर्म के वास्तविक रूप को उजागर करते हैं जीवन के दोनों पक्षों को भारतेन्दु ने पात्रों के माध्यम से दर्शक के

साक्षात् समक्ष लाकर खड़ा किया है, जिससे दोनों पक्षों में तुलना स्वयमेव हो जाती है। उनकी श्रेष्ठता को वह स्वयं ही आंक लेता है, और विकृतियों के प्रति संवेदित हो उठता है।

सह आचार्य, हिंदी विभाग
लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- pramila.lbc@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. श्री ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, (प्रथम खण्ड), पृ. 89
2. श्री ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, (प्रथम खण्ड), पृ. 71
3. वही, पृ. 90
4. वही, पृ. 90
5. वही, पृ. 90
6. श्री ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, (प्रथम खण्ड), पृ. 76

हिमानी

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्यशासन का स्वरूप : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

शोधसार

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें राज्य, शासन तथा प्रशासन के विविध आयामों का वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विवेचन प्राप्त होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा, सप्तांग सिद्धांत तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। वर्तमान युग में जहाँ सुशासन, पारदर्शिता, आर्थिक नियंत्रण एवं प्रशासनिक दक्षता की आवश्यकता निरंतर बढ़ रही है, वहाँ कौटिल्य के सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। यह अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि कौटिल्य का राज्यदर्शन लोककल्याण, आर्थिक सुदृढ़ता तथा न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था पर आधारित है।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिंतन में राज्य एवं शासन की अवधारणा अत्यंत विकसित एवं सुव्यवस्थित रही है। वैदिक काल से ही समाज के सुचारु संचालन हेतु विभिन्न राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं का निर्माण किया गया। समय के साथ राज्य की भूमिका केवल सुरक्षा तक सीमित न रहकर सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उत्तरदायित्वों तक विस्तृत हो गई। भारतीय दर्शन में 'अर्थ' को जीवन के चार पुरुषार्थों में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी संदर्भ में कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा ग्रंथ है, जो राज्यशासन के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करता है। यह केवल आर्थिक विषयों तक सीमित नहीं है, बल्कि एक व्यापक राजनीतिक एवं प्रशासनिक मार्गदर्शिका है।[1] कौटिल्य, जिन्हें चाणक्य या विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता है, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रमुख सलाहकार एवं मंत्री थे। उनके अनुसार राज्य का मूल उद्देश्य प्रजा की सुरक्षा एवं समृद्धि सुनिश्चित करना है।

इसके अतिरिक्त, कौटिल्य का अर्थशास्त्र केवल शासन की सैद्धांतिक व्याख्या नहीं करता, बल्कि यह प्रशासन के व्यावहारिक पक्ष को भी स्पष्ट करता है। इसमें कर व्यवस्था, न्याय प्रणाली, गुप्तचर तंत्र तथा विदेश नीति जैसे विषयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। यही कारण है कि यह ग्रंथ प्राचीन भारत की शासन प्रणाली को समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है।

अनुसंधान पद्धति

प्रस्तुत शोध-पत्र में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। इस अध्ययन के लिए प्राथमिक स्रोत के रूप में अर्थशास्त्र के मूल पाठ का अध्ययन किया गया है, जबकि द्वितीयक स्रोतों में विभिन्न विद्वानों की व्याख्याएँ एवं ऐतिहासिक ग्रंथों का उपयोग किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से प्राचीन प्रशासनिक सिद्धांतों की आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन गुणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है, जिसमें सिद्धांतों एवं व्यवहार के मध्य संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

इस अध्ययन में विभिन्न ऐतिहासिक एवं आधुनिक संदर्भों का समन्वय करते हुए यह प्रयास किया गया है कि कौटिल्य के सिद्धांतों की समकालीन प्रासंगिकता को स्पष्ट किया जा सके।

राज्य की अवधारणा एवं सप्तांग सिद्धांत

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक जीवंत संस्था है, जिसका उद्देश्य प्रजा के योगक्षेम की रक्षा करना है। वे स्पष्ट करते हैं-

''प्रजासुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम्।''[2]

यह कथन राज्य और प्रजा के परस्पर संबंध को स्पष्ट करता है।

कौटिल्य ने राज्य को सात अंगों का समुच्चय माना है स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र।[3]

इन सभी अंगों का समन्वय राज्य की स्थिरता एवं शक्ति का आधार है। इन सात अंगों में 'स्वामी' (राजा) को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु अन्य अंगों की उपेक्षा करने पर राज्य कमजोर हो सकता है। 'अमात्य' प्रशासनिक कार्यों के संचालन में सहायक होते हैं, जबकि 'जनपद' राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक आधारशिला होता है। 'दुर्ग' सुरक्षा का प्रतीक है, 'कोष' आर्थिक शक्ति को दर्शाता है, 'दण्ड' कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने का साधन है, तथा 'मित्र' विदेश नीति में संतुलन स्थापित करने में सहायक होता है। इस प्रकार सप्तांग सिद्धांत राज्य को एक संगठित एवं सुदृढ़ इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है।

प्रशासनिक व्यवस्था एवं उसका स्वरूप

★ प्रांतीय प्रशासन

मौर्यकालीन राज्य विस्तृत था, अतः प्रशासन को प्रभावी बनाने हेतु प्रांतीय व्यवस्था विकसित की गई। प्रांतों में नियुक्त अधिकारी केंद्रीय शासन के निर्देशों का पालन सुनिश्चित करते थे।

★ स्थानीय प्रशासन

ग्राम एवं नगर प्रशासन राज्य की आधारशिला थे। ग्रामिक एवं नगराध्यक्ष जैसे अधिकारी स्थानीय स्तर पर शासन का संचालन करते थे, जिससे प्रशासन में दक्षता एवं नियंत्रण बना रहता था।

★ आर्थिक प्रशासन

कौटिल्य ने आर्थिक व्यवस्था को राज्य की शक्ति का मूल माना है -

''कोष मूलो दण्डः।''[4]

राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे

- भूमि कर
- व्यापार कर
- खनिज एवं वन संसाधन

आर्थिक पारदर्शिता हेतु लेखा-परीक्षा एवं गुप्तचर व्यवस्था का उपयोग किया जाता था।

कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति में योग्यता एवं ईमानदारी को विशेष महत्व दिया। उन्होंने अधिकारियों के कार्यों की निगरानी हेतु गुप्तचर प्रणाली का भी उपयोग करने की बात कही, जिससे भ्रष्टाचार पर नियंत्रण रखा जा सके।

इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य प्रशासन में उत्तरदायित्व एवं पारदर्शिता को अत्यंत आवश्यक मानते थे।

आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता

कौटिल्य का प्रशासनिक चिंतन आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक शासन में -

- पारदर्शिता
- उत्तरदायित्व
- आर्थिक नियंत्रण
- कूटनीति

जैसे तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से मिलता है। उनकी नीतियाँ आधुनिक 'गुड गवर्नेंस' की अवधारणा के साथ सामंजस्य स्थापित करती हैं।[5] इसके अतिरिक्त, कौटिल्य की नीतियाँ आज के प्रशासनिक सुधारों, ई-गवर्नेंस तथा भ्रष्टाचार-नियंत्रण के प्रयासों में भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत यह दर्शाते हैं कि एक सुदृढ़ राज्य वही है, जो अपनी नीतियों में संतुलन, पारदर्शिता एवं जनकल्याण को प्राथमिकता देता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र केवल एक प्राचीन ग्रंथ नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक प्रशासनिक मार्गदर्शिका है। उनका राज्यदर्शन लोककल्याण, आर्थिक सुदृढ़ता तथा न्यायपूर्ण शासन पर आधारित है। सप्तांग सिद्धांत राज्य की संरचना को स्पष्ट करता है, जबकि प्रशासनिक व्यवस्था उसके क्रियात्मक स्वरूप को दर्शाती है। अतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह आधुनिक

प्रशासनिक एवं राजनीतिक अध्ययन के लिए भी एक मार्गदर्शक ग्रंथ के रूप में स्थापित होता है।

एम. ए. (संस्कृत)
एमिटी यूनिवर्सिटी नोएडा

सन्दर्भ सूची

- Kangle, R.P., The Kautiliya Arthashastra, Delhi.
- Kautilya, Arthashastra, Book I.
- Altekar, A.S., State and Government in Ancient India.
- Sharma, R.S., Ancient Indian Political Thought.
- Singh, H.N., Kautilya and His Arthashastra.

शोध-पत्र

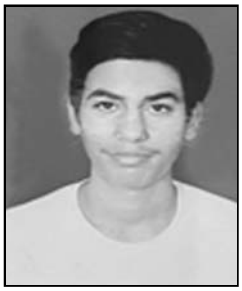

संस्कृत व्याकरण परम्परा का क्रमिक विकास : एक समीक्षात्मक अध्ययन

गौरव रतूड़ी

सारांश : संस्कृत व्याकरण भारतीय ज्ञान परम्परा की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और आधारभूत शाखा है, जिसने भाषा की शुद्धता, संरचना, स्थिरता तथा वैज्ञानिकता को सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रस्तुत शोध-पत्र में संस्कृत व्याकरण की विभिन्न परम्पराओं ऐन्द्र, पाणिनीय, चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र तथा प्रक्रिया परम्परा का क्रमिक विकास ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि संस्कृत व्याकरण केवल नियमों का संकलन नहीं, बल्कि एक सतत विकसित होती हुई बौद्धिक परम्परा है, जिसमें विभिन्न आचार्यों के योगदान से निरन्तर विस्तार और परिष्कार होता रहा है। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक ऐन्द्र व्याकरण परम्परा ने वैदिक भाषा की शुद्धता के संरक्षण हेतु व्याकरण के मूल सिद्धांतों की स्थापना की, जबकि पाणिनि ने अपनी महान कृति अष्टाध्यायी के माध्यम से व्याकरण को एक वैज्ञानिक, तर्कसंगत और सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा किए गए वार्तिक एवं महाभाष्य ने इस परम्परा को दार्शनिक और भाषावैज्ञानिक गहराई प्रदान की, जिससे पाणिनीय परम्परा संस्कृत व्याकरण की केंद्रीय धुरी बन गई। इसके पश्चात् चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र और अन्य उत्तरवर्ती परम्पराओं ने व्याकरण को सरल, व्यावहारिक तथा विभिन्न धार्मिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों में उपयोगी बनाया। प्रक्रिया परम्परा, विशेषत: भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी, ने व्याकरण के शिक्षण को अत्यंत सुगम बनाकर इसे व्यापक स्तर पर विद्यार्थियों तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत व्याकरण परम्परा केवल सैद्धान्तिक नहीं, बल्कि व्यवहारिक और शिक्षणोन्मुख भी रही है।

अंतत: यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत व्याकरण एक निरन्तर विकसित होने वाली परम्परा है, जिसका प्रभाव न केवल भारतीय भाषिक और सांस्कृतिक परम्परा पर पड़ा है, बल्कि आधुनिक भाषाविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसे क्षेत्रों में भी इसकी उपयोगिता प्रमाणित हो रही है। अत: संस्कृत व्याकरण भारतीय बौद्धिक धरोहर का एक अमूल्य अंग है, जिसकी प्रासंगिकता वर्तमान और भविष्य दोनों में बनी रहेगी।

बीज शब्द : संस्कृत व्याकरण, पाणिनि, अष्टाध्यायी, व्याकरण परम्परा, सिद्धान्त कौमुदी, भाषाविज्ञान

1. भूमिका :

भारतीय ज्ञान परम्परा विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध परम्पराओं में से एक है, जिसमें विभिन्न शास्त्रों का सुविकसित एवं व्यवस्थित स्वरूप देखने को मिलता है। इन शास्त्रों में व्याकरण शास्त्र का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और आधारभूत है, क्योंकि यह भाषा के शुद्ध, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। संस्कृत भाषा, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन, साहित्य एवं विज्ञान की प्रमुख वाहिका रही है, उसके संरक्षण एवं संवर्धन में व्याकरण की भूमिका अनिवार्य रही है। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण केवल भाषाई नियमों का संकलन नहीं, बल्कि भारतीय बौद्धिक परम्परा का एक सशक्त स्तम्भ है।

व्याकरण का शाब्दिक अर्थ है ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन

इति व्याकरणम्'', अर्थात् जिसके माध्यम से शब्दों का विश्लेषण किया जाता है, वही व्याकरण है। यह शब्दों की रचना, उनके रूप, प्रयोग, सन्धि, समास, प्रत्यय, धातु तथा वाक्य संरचना के नियमों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करता है। भारतीय परम्परा में व्याकरण को वेदाङ्गों में प्रमुख स्थान प्राप्त है, क्योंकि वेदों के शुद्ध उच्चारण, अर्थबोध एवं संरक्षण के लिए व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र न केवल भाषिक शुद्धता का आधार है, बल्कि वैदिक एवं दार्शनिक ज्ञान के संरक्षण का भी प्रमुख साधन है।

संस्कृत व्याकरण परम्परा का विकास एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें अनेक आचार्यों एवं परम्पराओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारम्भ में वैदिक भाषा की शुद्धता बनाए रखने हेतु व्याकरण के प्राथमिक रूप विकसित हुए, जिन्हें ऐन्द्र व्याकरण परम्परा के अंतर्गत माना जाता है। यद्यपि इस परम्परा के मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, तथापि इसके प्रभाव का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यह परम्परा संस्कृत व्याकरण के विकास की आधारशिला के रूप में मानी जाती है।

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी योगदान आचार्य पाणिनि का है, जिन्होंने अपनी महान कृति अष्टाध्यायी के माध्यम से व्याकरण को एक अत्यंत वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं संक्षिप्त स्वरूप प्रदान किया। पाणिनि की व्याकरण प्रणाली में लगभग 4000 सूत्रों के माध्यम से संपूर्ण संस्कृत भाषा के नियमों का अत्यंत सूक्ष्म एवं संगठित प्रतिपादन किया गया है। उनकी यह प्रणाली न केवल भारतीय व्याकरण परम्परा की धुरी बन गई, बल्कि आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए भी प्रेरणास्रोत सिद्ध हुई।

पाणिनि के पश्चात् कात्यायन और पतञ्जलि ने क्रमशः वार्तिक एवं महाभाष्य के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या, समीक्षा एवं विस्तार किया। पतञ्जलि का महाभाष्य केवल व्याकरण ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि दर्शन, तर्क एवं भाषा-विज्ञान का भी अद्भुत संगम है। इन आचार्यों के योगदान से पाणिनीय परम्परा और अधिक सुदृढ़ एवं व्यापक बन गई।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत व्याकरण की अन्य परम्पराएँ भी समय-समय पर विकसित हुईं, जैसे चान्द्र व्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण, कातन्त्र व्याकरण आदि। इन परम्पराओं का उद्देश्य व्याकरण को अधिक सरल, सुलभ एवं व्यवहारिक बनाना था, ताकि विभिन्न धार्मिक एवं सांस्कृतिक समुदायों के लोग इसे आसानी से समझ सकें। विशेष रूप से बौद्ध और जैन आचार्यों ने व्याकरण को अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर इसे व्यापक जनसमूह तक पहुँचाने का प्रयास किया।

मध्यकाल में व्याकरण के अध्ययन एवं शिक्षण को सरल बनाने के उद्देश्य से ''प्रक्रिया परम्परा'' का विकास हुआ। इस परम्परा के अंतर्गत भट्टोजि दीक्षित द्वारा रचित सिद्धान्त कौमुदी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें पाणिनीय सूत्रों को विषयानुसार क्रमबद्ध कर अत्यंत सुगम शैली में प्रस्तुत किया गया है। इससे व्याकरण का अध्ययन अधिक व्यवस्थित एवं व्यावहारिक बन सका।

संस्कृत व्याकरण परम्परा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह केवल स्थिर या रूढ़ परम्परा नहीं रही, बल्कि समय के साथ इसमें निरन्तर विकास और परिवर्तन होता रहा है। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार व्याकरण में संशोधन, परिष्कार एवं नवोन्मेष किया, जिससे यह परम्परा जीवंत और गतिशील बनी रही।

वर्तमान युग में भी संस्कृत व्याकरण की प्रासंगिकता बनी हुई है। आधुनिक भाषाविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान, प्राकृतिक भाषा संसाधन (Natural Language Processing) तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence) जैसे क्षेत्रों में पाणिनीय व्याकरण की संरचना और नियमों का उपयोग किया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत व्याकरण केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी अत्यंत उपयोगी और प्रासंगिक है।

अतः प्रस्तुत शोध-पत्र में संस्कृत व्याकरण परम्परा के क्रमिक विकास का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि यह परम्परा किस प्रकार विभिन्न चरणों से होकर विकसित हुई तथा इसके प्रमुख आचार्यों एवं ग्रन्थों ने इसमें क्या योगदान दिया। साथ ही, इसके आधुनिक संदर्भ में महत्व एवं उपयोगिता का भी विश्लेषण किया गया है।

2. व्याकरण शास्त्र का स्वरूप और महत्त्व

संस्कृत भाषा के अध्ययन में व्याकरण शास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह भाषा के शुद्ध, सुसंगठित एवं वैज्ञानिक स्वरूप को निर्धारित करता है तथा शब्दों, धातुओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, सन्धियों, समासों और वाक्य रचना के नियमों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय ज्ञान परम्परा में व्याकरण को केवल भाषाई अनुशासन न मानकर एक स्वतंत्र

शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है, जिसका उद्देश्य भाषा की शुद्धता एवं स्थिरता को बनाए रखना है। व्याकरण का स्वरूप बहुआयामी है। यह एक ओर भाषा के शुद्ध प्रयोग हेतु नियमों का निर्धारण करता है (नियमात्मक स्वरूप), वहीं दूसरी ओर भाषा के वास्तविक प्रयोग का विश्लेषण भी करता है (वर्णनात्मक स्वरूप)। इस दृष्टि से यह एक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत अनुशासन है। वेदाङ्ग के रूप में व्याकरण का विशेष महत्व है, क्योंकि इसके माध्यम से वेदों के शुद्ध उच्चारण एवं यथार्थ अर्थ का संरक्षण संभव होता है। पाणिनीय व्याकरण में यह वैज्ञानिकता अपने चरम पर दिखाई देती है, जहाँ अत्यंत संक्षिप्त सूत्रों के माध्यम से भाषा के व्यापक नियमों का तार्किक निरूपण किया गया है। यही कारण है कि इसे विश्व की सर्वाधिक विकसित व्याकरण प्रणालियों में स्थान प्राप्त है।

व्याकरण शास्त्र का महत्त्व भी अत्यंत व्यापक है। यह भाषा की शुद्धता एवं एकरूपता को बनाए रखता है तथा अर्थ की स्पष्टता को सुनिश्चित करता है, जिससे संप्रेषण अधिक प्रभावी बनता है। वेदों एवं शास्त्रों के संरक्षण में इसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह बौद्धिक एवं विश्लेषणात्मक क्षमता के विकास में सहायक होता है तथा साहित्य सृजन के लिए अनिवार्य आधार प्रदान करता है।

संस्कृत व्याकरण का ज्ञान अन्य भाषाओं के अध्ययन में भी उपयोगी सिद्ध होता है, क्योंकि अधिकांश भारतीय भाषाएँ इससे प्रभावित हैं। आधुनिक युग में भी इसकी प्रासंगिकता बनी हुई है, विशेषत: भाषाविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में इसके सिद्धांतों का उपयोग किया जा रहा है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरण शास्त्र का स्वरूप वैज्ञानिक, तार्किक एवं बहुआयामी है। यह न केवल भाषा की शुद्धता एवं संरचना का आधार है, बल्कि भारतीय बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का एक महत्वपूर्ण स्तंभ भी है, जिसकी उपयोगिता प्राचीन से आधुनिक युग तक निरंतर बनी हुई है।

3. संस्कृत व्याकरण परम्परा का क्रमिक विकास

संस्कृत व्याकरण परम्परा का विकास एक दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें अनेक आचार्यों एवं परम्पराओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसका प्रारम्भ वैदिक काल से माना जाता है, जब भाषा की शुद्धता एवं उच्चारण की शुद्ध परम्परा को बनाए रखने की आवश्यकता अनुभव की गई।

प्रारम्भिक अवस्था में ऐन्द्र व्याकरण परम्परा का उल्लेख मिलता है, जिसे संस्कृत व्याकरण का आद्य स्वरूप माना जाता है। यद्यपि इसके मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि परवर्ती ग्रन्थों में इसके संदर्भ प्राप्त होते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण के मूल सिद्धांतों का विकास इसी काल में प्रारम्भ हो चुका था।

इसके पश्चात् प्रातिशाख्य ग्रन्थों का विकास हुआ, जिनमें वेदों के उच्चारण, ध्वनि-विज्ञान तथा शब्द संरचना का विश्लेषण किया गया। इन ग्रन्थों ने व्याकरण के ध्वन्यात्मक (phonetic) पक्ष को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इसी क्रम में निरुक्त जैसे ग्रन्थों ने शब्दों की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के अध्ययन को विकसित किया, जिससे व्याकरण के अर्थवैज्ञानिक पक्ष को बल मिला।

संस्कृत व्याकरण परम्परा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं निर्णायक चरण पाणिनि के आगमन से प्रारम्भ होता है। उनकी प्रसिद्ध कृति अष्टाध्यायी ने व्याकरण को अत्यंत संक्षिप्त, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। लगभग चार हजार सूत्रों में पाणिनि ने भाषा के समस्त नियमों को अत्यंत सूक्ष्म एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया, जो आज भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय माने जाते हैं।

पाणिनि के पश्चात् इस परम्परा का और अधिक विकास हुआ। कात्यायन ने वार्तिकों के माध्यम से पाणिनीय सूत्रों की समीक्षा एवं परिशोधन किया, जबकि पतञ्जलि ने महाभाष्य में उनका विस्तृत एवं दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया। इन तीनों पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि को मिलाकर ''त्रिमुनि परम्परा'' कहा जाता है, जो संस्कृत व्याकरण की मुख्य धारा का प्रतिनिधित्व करती है।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण परम्परा का विकास प्रारम्भिक वैदिक प्रयासों से लेकर पाणिनि और उनके पश्चात् आचार्यों तक क्रमश: होता हुआ एक अत्यंत परिपक्व एवं वैज्ञानिक रूप में परिणत हुआ। अत: स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण परम्परा एक सतत विकसित होने वाली ज्ञान-धारा है, जिसमें प्रारम्भिक आधार से लेकर पाणिनीय प्रणाली तक क्रमिक उन्नति हुई। यह परम्परा भारतीय बौद्धिक विकास की उत्कृष्टता का प्रतीक है।

4. पाणिनि के पश्चात् व्याकरण परम्परा

पाणिनि के पश्चात् संस्कृत व्याकरण परम्परा का विकास और अधिक गहन, विश्लेषणात्मक एवं दार्शनिक स्वरूप में हुआ। पाणिनि द्वारा प्रतिपादित अष्टाध्यायी ने व्याकरण को

एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया, जिस पर परवर्ती आचार्यों ने अपने विचारों एवं व्याख्याओं के माध्यम से इस परम्परा को और समृद्ध किया।

इस क्रम में सर्वप्रथम कात्यायन का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने वार्तिकों के माध्यम से पाणिनीय सूत्रों की समीक्षा, संशोधन तथा स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। उनके वार्तिक केवल आलोचना नहीं, बल्कि व्याकरण के सूक्ष्म पक्षों को स्पष्ट करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

इसके पश्चात् पतञ्जलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में पाणिनि एवं कात्यायन के विचारों का विस्तृत एवं गहन विवेचन किया। महाभाष्य में व्याकरण को केवल भाषा का शास्त्र न मानकर दार्शनिक एवं तर्कपूर्ण दृष्टि से भी देखा गया है। इसमें भाषा, अर्थ, प्रयोग तथा संप्रेषण के विभिन्न आयामों का गहन विश्लेषण प्राप्त होता है।

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इन तीनों आचार्यों को मिलाकर ''त्रिमुनि परम्परा'' कहा जाता है। यह परम्परा संस्कृत व्याकरण की मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व करती है और इसे व्याकरण शास्त्र का शास्त्रीय एवं प्रामाणिक स्वरूप माना जाता है।

पाणिनि के पश्चात् अन्य व्याकरणकारों ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया, जिनमें काशिकाकार (जयादित्य एवं वामन) का विशेष स्थान है। उनकी काशिका-वृत्ति ने पाणिनीय सूत्रों को सरल एवं व्यवस्थित रूप में समझाने का कार्य किया, जिससे अध्ययन अधिक सुगम हुआ।

इस प्रकार पाणिनि के पश्चात् व्याकरण परम्परा केवल संरक्षित ही नहीं रही, बल्कि उसमें निरन्तर व्याख्या, संशोधन एवं विस्तार के माध्यम से बौद्धिक गहराई भी बढ़ती गई। अत: स्पष्ट है कि पाणिनि के पश्चात् व्याकरण परम्परा ने आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक एवं दार्शनिक रूप में उल्लेखनीय विकास किया। त्रिमुनि परम्परा ने इसे स्थायित्व एवं प्रामाणिकता प्रदान की, जो आज भी संस्कृत व्याकरण की आधारशिला मानी जाती है।

5. अन्य व्याकरण परम्पराएँ

पाणिनीय व्याकरण परम्परा के अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में अनेक अन्य परम्पराओं का भी विकास हुआ, जिन्होंने भाषा के अध्ययन को सरल, व्यावहारिक एवं शिक्षणोपयोगी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि ये परम्पराएँ पाणिनीय प्रणाली जितनी व्यापक और वैज्ञानिक नहीं मानी जातीं, तथापि इनका ऐतिहासिक एवं शैक्षिक महत्व अत्यंत उल्लेखनीय है।

इनमें चान्द्र व्याकरण का प्रमुख स्थान है, जिसके प्रवर्तक चन्द्रगोमिन माने जाते हैं। यह व्याकरण विशेष रूप से बौद्ध परम्परा में प्रचलित था और इसकी शैली अपेक्षाकृत सरल एवं सुगम थी। इसमें पाणिनीय जटिलताओं को कम करते हुए व्याकरण को व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत किया गया।

इसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण, जो जैन आचार्यों द्वारा रचित है, ने व्याकरण को जैन परम्परा के अध्ययन के अनुकूल बनाया। इसमें भाषा के नियमों को संक्षिप्त एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया, जिससे इसका अध्ययन अपेक्षाकृत सरल हो गया।

कातन्त्र व्याकरण (जिसे कालाप व्याकरण भी कहा जाता है) भी एक महत्वपूर्ण परम्परा है। इसका उद्देश्य व्याकरण को प्रारम्भिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए सुलभ बनाना था। इसमें पाणिनीय सूत्रों की जटिलता को कम करते हुए आवश्यक नियमों का संक्षिप्त एवं व्यावहारिक निरूपण किया गया।

इन परम्पराओं का मुख्य उद्देश्य व्याकरण को जनसामान्य तक पहुँचाना तथा अध्ययन को सरल बनाना था। इन्होंने यह सिद्ध किया कि व्याकरण केवल विद्वानों के लिए ही नहीं, बल्कि सामान्य शिक्षार्थियों के लिए भी उपयोगी बनाया जा सकता है। अत: स्पष्ट है कि चान्द्र, जैनेन्द्र एवं कातन्त्र जैसी व्याकरण परम्पराओं ने संस्कृत व्याकरण को सरल, सुगम एवं व्यवहारिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि इनका स्वरूप पाणिनीय परम्परा से भिन्न है, तथापि इन्होंने व्याकरण के व्यापक प्रसार एवं शिक्षण में उल्लेखनीय योगदान दिया।

6. प्रक्रिया परम्परा

संस्कृत व्याकरण के विकासक्रम में प्रक्रिया परम्परा का विशेष स्थान है। इस परम्परा का मुख्य उद्देश्य पाणिनीय व्याकरण की जटिलता को सरल बनाकर उसे शिक्षणोपयोगी एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना था। जहाँ पाणिनि की अष्टाध्यायी अत्यंत संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक है, वहीं प्रक्रिया ग्रन्थों ने उसे क्रमबद्ध और विषयानुसार व्यवस्थित करके अध्ययन को अधिक सहज बना दिया।

इस परम्परा के प्रमुख आचार्य भट्टोजि दीक्षित हैं, जिनकी प्रसिद्ध कृति सिद्धान्त कौमुदी व्याकरण अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें पाणिनीय सूत्रों को विषयानुसार पुन: संगठित किया गया है, जैसे सन्धि, समास,

कारक, तद्धित, कृदन्त आदि। इस प्रकार छात्र क्रमशः विषयों को समझते हुए व्याकरण का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

भट्टोजि दीक्षित के पश्चात् उनके शिष्य वरदराज ने लघु सिद्धान्त कौमुदी की रचना की, जो विद्यार्थियों के लिए और भी अधिक सरल एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत की गई है। इसी परम्परा में अन्य ग्रन्थों जैसे मध्य सिद्धान्त कौमुदी तथा विभिन्न टीकाओं ने भी व्याकरण के अध्ययन को अधिक सुलभ बनाया।

प्रक्रिया परम्परा की विशेषता यह है कि इसमें नियमों को केवल सूत्ररूप में न देकर, उनके प्रयोग की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जाता है। इससे विद्यार्थियों को व्याकरण के व्यावहारिक पक्ष को समझने में सहायता मिलती है। अतः स्पष्ट है कि प्रक्रिया परम्परा ने संस्कृत व्याकरण को शिक्षणोपयोगी, क्रमबद्ध एवं सरल स्वरूप प्रदान किया। इसने पाणिनीय व्याकरण की गूढ़ता को दूर कर उसे व्यापक स्तर पर अध्ययन के लिए सुलभ बनाया, जिससे व्याकरण के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान मिला।

7. निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संस्कृत व्याकरण परम्परा भारतीय ज्ञान-विज्ञान की एक अत्यंत समृद्ध एवं विकसित धारा है, जिसका निर्माण दीर्घकालीन बौद्धिक प्रयासों का परिणाम है। इसका विकास वैदिक काल की प्रारम्भिक भाषिक आवश्यकताओं से प्रारम्भ होकर पाणिनि के माध्यम से वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित रूप में परिपक्व हुआ तथा कात्यायन और पतञ्जलि जैसे आचार्यों द्वारा इसे दार्शनिक एवं विश्लेषणात्मक गहराई प्राप्त हुई। पाणिनीय परम्परा के अतिरिक्त चान्द्र, जैनेन्द्र एवं कातन्त्र जैसी परम्पराओं ने व्याकरण को सरल एवं व्यवहारिक बनाया, जबकि प्रक्रिया परम्परा ने इसे शिक्षणोपयोगी एवं क्रमबद्ध स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार विभिन्न धाराओं ने मिलकर व्याकरण को न केवल संरक्षित किया, बल्कि उसे व्यापक एवं उपयोगी भी बनाया।

संस्कृत व्याकरण की विशेषता इसकी वैज्ञानिकता, तार्किकता एवं संक्षिप्तता में निहित है, जिसके कारण यह आज भी विश्व के भाषावैज्ञानिकों के लिए अध्ययन का प्रमुख विषय बना हुआ है। आधुनिक युग में भी इसके सिद्धांत भाषाविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृत व्याकरण परम्परा केवल भाषा के नियमों का संग्रह नहीं, बल्कि भारतीय बौद्धिक परम्परा का एक सशक्त स्तम्भ है, जिसने न केवल भाषा की शुद्धता एवं संरचना को सुरक्षित रखा है, बल्कि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को भी समृद्ध किया है। इसकी प्रासंगिकता प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक निरन्तर बनी हुई है।

बी. ए (आनर्स) संस्कृत
एमिटी इंस्टीट्युट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- पाणिनि. (2003). अष्टाध्यायी (आर. पिशेल, संपादक एवं अनुवादक). दिल्ली : मोतीलाल बनारसदास। (मूल रचना लगभग 4ठी शताब्दी ईसा पूर्व)
- कात्यायन. (1960). वृत्तान्त सूत्र (हिंदी अनुवाद). वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज।
- पतञ्जलि. (1964). महाभाष्य (हिंदी अनुवाद). वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज।
- जयदेव. (1975). व्याकरणसार. दिल्ली : मोतीलाल बनारसदास।
- शारंगधर. (1981). सिद्धान्तकौमुदी. वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज।
- लक्ष्मीनारायण शास्त्री. (1990). संस्कृत व्याकरण का इतिहास. नई दिल्ली : भारतीय विद्या प्रकाशन।
- त्रिपाठी, आर. पी. (2005). भारतीय व्याकरण परंपरा. वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
- शर्मा, एम. (2012). संस्कृत व्याकरण और आधुनिक युग. नई दिल्ली : आर्यन बुक्स इंटरनेशनल।
- पिशेल, आर. (संपादक). (2003). पाणिनि की अष्टाध्यायी : संस्कृत पाठ और अंग्रेजी अनुवाद. दिल्ली: मोतीलाल बनारसदास।
- शर्मा, आर. के. (2000). भारतीय भाषाविज्ञान का इतिहास. दिल्ली : भारतीय भाषाविज्ञान संस्थान।

अष्टावक्र गीता की वर्तमान में प्रासंगिकता

गौरव

शोधसार - अष्टावक्र गीता भारतीय अद्वैत वेदान्त परम्परा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें आत्मज्ञान, वैराग्य और मुक्ति का गहन विवेचन मिलता है। वर्तमान युग में जहाँ मानव जीवन तनाव, चिंता, अवसाद और असंतोष से ग्रस्त है, वहाँ अष्टावक्र गीता की शिक्षाएँ विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती हैं। यह ग्रंथ मानव जीवन के मूल प्रश्नों ''मैं कौन हूँ?'', ''बंधन क्या है?'' और ''मुक्ति कैसे प्राप्त हो?'' का समाधान प्रस्तुत करता है। वर्तमान युग में, जहाँ व्यक्ति मानसिक तनाव, असंतोष और भौतिकता में उलझा हुआ है, वहाँ अष्टावक्र गीता की शिक्षाएँ अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होती हैं।

''कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्ति र्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ॥[1]''

यह शोध-पत्र अष्टावक्र गीता के दार्शनिक सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं में यह ग्रंथ किस प्रकार मानसिक शांति, आत्म-संतुलन और आंतरिक स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है।

कूट शब्द : अष्टावक्र गीता, प्रासंगिकता, आत्मज्ञान, वैराग्य, मानसिक शांति, अद्वैत वेदान्त

प्रस्तावना : वर्तमान युग को भौतिक प्रगति का युग कहा जाता है, किन्तु इस प्रगति के साथ-साथ मानव जीवन में मानसिक अशांति, तनाव और असंतोष की वृद्धि भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। आधुनिक मनुष्य बाह्य साधनों से सम्पन्न होने के बावजूद आंतरिक रूप से अशांत है। वर्तमान समय में मानसिक स्वास्थ्य एक गंभीर सामाजिक और वैश्विक समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है। भारत में राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण (2015-16) के अनुसार लगभग 15% वयस्क किसी न किसी मानसिक विकार से प्रभावित हैं तथा बड़ी संख्या में लोग अवसाद और आत्महत्या जैसी समस्याओं से जूझ रहे हैं। इसमें हर वर्ष बढ़ोतरी देखने को मिलती है। भारत में मानसिक रोगों की बढ़ती संख्या और आत्महत्याओं के आंकड़े यह संकेत देते हैं कि मानसिक स्वास्थ्य एक गंभीर चुनौती बन चुका है। प्रश्न यह है कि क्या केवल चिकित्सा पद्धतियाँ ही इसका समाधान हैं, या प्राचीन भारतीय दर्शन भी इसमें सहायक हो सकता है?

ऐसी स्थिति में भारतीय दार्शनिक ग्रंथ विशेषत: अष्टावक्र गीता एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक के रूप में उभरती है। यह ग्रंथ न केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करता है, बल्कि जीवन के व्यावहारिक संकटों का समाधान भी प्रस्तुत करता है।

अनुसंधान पद्धति : प्रस्तुत शोध-पत्र में 'वर्णनात्मक' तथा 'विश्लेषणात्मक' शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। इस शोध के प्राथमिक स्रोतों के रूप में 'अष्टावक्र गीता' के मूल पाठ एवं श्लोकों का गहन अनुशीलन किया गया है, जबकि द्वितीयक स्रोतों के अंतर्गत विभिन्न दार्शनिक भाष्यों, श्रीमद्भगवद्गीता, विवेकचूडामणि एवं आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रतिवेदनों तथा राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण जैसे सांख्यिकीय आँकड़ों का आधार ग्रहण किया गया है। शोध की प्रक्रिया में 'तुलनात्मक पद्धति' का अवलंबन करते हुए प्राचीन आध्यात्मिक सिद्धांतों की वर्तमान वैश्विक मानसिक स्वास्थ्य चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में तार्किक मीमांसा की गई है। यह शोध पूर्णत: गुणात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है, जिसमें शास्त्रीय साक्ष्यों एवं आधुनिक जीवन की विसंगतियों के मध्य अंतर्संबंध

स्थापित कर निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया।

वर्तमान युग की समस्याएँ एवं अष्टावक्र गीता की प्रासंगिकता

मानसिक अशांति और आत्म-विस्मृति

आधुनिक समाज सूचना और तकनीक के तीव्र प्रवाह के एक ऐसे अभूतपूर्व युग में जी रहा है, जहाँ मनुष्य बाह्य जगत की भौतिक चकाचौंध से तो पूर्णतः जुड़ा हुआ है, अपितु स्वयं के अंतर्जगत से पूर्णतः कट चुका है। आज का मानव 'डिजिटल' रूप से तो वैश्विक और परस्पर सम्बद्ध है, किंतु आत्मिक और भावनात्मक रूप से वह नितांत एकाकी, रिक्त और असुरक्षित अनुभव करता है। 21वीं सदी की इस कृत्रिम जीवनशैली ने मनुष्य को 'संसाधन' तो बना दिया है, किंतु उसकी 'मानवीयता' और 'बोध' कहीं खो गए हैं। वर्तमान युग में मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या उसकी मानसिक अशांति है, जो मात्र बाहरी परिस्थितियों के कारण नहीं है, अपितु उसकी अपनी आंतरिक स्थिति और 'आत्म-विस्मृति' का परिणाम है। वर्तमान जीवन-शैली में निरंतर प्रतिस्पर्धा, समयाभाव, कार्यदबाव और उपभोक्तावाद ने व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है, जिससे तनाव और अवसाद जैसी समस्याएँ एक वैश्विक महामारी का रूप ले चुकी हैं।

अष्टावक्र गीता इस स्थिति का मूल कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाना मानती है। राजा जनक जब महर्षि अष्टावक्र के उपदेश से इस सत्य का साक्षात्कार करते हैं, तो वे अपनी स्थिति को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

''अहो निरंजनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः॥''[2]

अर्थात् आश्चर्य है! मैं निर्दोष, शांत, बोधस्वरूप और प्रकृति से सर्वथा परे हूँ। इतने दीर्घ काल तक मैं मात्र मोह के द्वारा भ्रमित किया जाता रहा। वर्तमान समय में यह स्थिति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जब मनुष्य अपनी पहचान पद, प्रतिष्ठा और शरीर से जोड़ता है, तो वह मानसिक रूप से अस्थिर हो जाता है। एक विद्यार्थी जो अपने परीक्षा परिणाम को ही अपनी संपूर्ण पहचान मान लेता है, अथवा एक व्यावसायिक व्यक्ति जो अपने पद को ही अपना अस्तित्व समझता है, वे वास्तव में 'आत्म-विस्मृति' के शिकार हैं। यह 'पहचान का संकट' आज की सबसे बड़ी त्रासदी है, क्योंकि जब ये बाह्य उपाधियाँ खंडित होती हैं, तो व्यक्ति का आत्मविश्वास और मानसिक संतुलन पूर्णतः डगमगा जाता है। अष्टावक्र गीता का संदेश आज इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि यह मनुष्य को 'दृश्य' (जगत) के मायाजाल से हटाकर 'द्रष्टा' (आत्मा) की ओर ले जाने का अचूक मार्ग प्रशस्त करती है।

आंतरिक शांति का अभाव वास्तव में आत्म-ज्ञान की कमी का ही विस्तार है। अद्वैत वेदांत के अनुसार, आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप है। मात्र अज्ञान और मिथ्या अहंकार के कारण मनुष्य स्वयं को शरीर और मन से अभिन्न मान लेता है, जिसके परिणामस्वरूप वह जन्म-मरण और सुख-दुःख के बंधन में फँस जाता है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए 'साक्षी भाव' का अभ्यास अनिवार्य है, जो हमें यह सिखाता है कि हम अपने विचारों और परिस्थितियों के कर्ता नहीं, अपितु उनके तटस्थ दृष्टा हैं। जिस प्रकार दर्पण के भीतर स्थित प्रतिबिंब दर्पण से भिन्न होता है, वैसे ही आत्मा में स्थित यह जगत और इसके अनुभव आत्मा से पृथक् हैं। अष्टावक्र जी इस सत्य को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

''एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥''[3]

अर्थात् तुम संपूर्ण विश्व के एकमात्र द्रष्टा हो और सदा मुक्त ही हो। तुम्हारा बंधन मात्र इतना ही है कि तुम द्रष्टा (स्वयं) को अपने से पृथक दृश्य (जगत) के रूप में देखते हो।

आज का मनुष्य 'अध्यास' के कारण रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति स्वयं को दुखी अनुभव कर रहा है। आधुनिक मनोविज्ञान जहाँ मानसिक विकारों को औषधियों या सतही तर्कों से दबाने का प्रयास करता है, वहीं अष्टावक्र गीता उन विकारों के 'साक्षी' बनने का क्रांतिकारी मार्ग प्रशस्त करती है। जब व्यक्ति यह बोध प्राप्त कर लेता है कि वह मात्र शरीर या मन नहीं, अपितु एक शांत और अडिग आत्मा है, तब जीवन की कठिन परिस्थितियाँ भी उसके मानसिक संतुलन को विचलित नहीं कर पातीं। यह आत्म-विस्मृति से आत्म-स्मृति की यात्रा ही आधुनिक मानसिक संकट का स्थायी समाधान है।

निष्कर्षतः, अष्टावक्र गीता का यह दर्शन व्यक्ति को बाह्य परतंत्रता से मुक्त कर उसे स्व-अनुभूति के उस सिंहासन पर आसीन करता है, जहाँ समस्त सांसारिक दुःख और अभाव अर्थहीन हो जाते हैं। यह ग्रंथ हमें पुनः हमारी 'मानवीय दिव्यता' और 'आंतरिक स्वाधीनता' का बोध कराता है, जिससे हम

संसार की आपाधापी के मध्य भी एक अविचल शांति का अनुभव कर सकते हैं।

आत्म-विस्मृति—समस्या की मूल

आधुनिक युग की सबसे बड़ी त्रासदी और विडंबना यह है कि विज्ञान और तकनीक की उन्नति के चरम पर होने के उपरांत भी, मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता और मौलिक स्वरूप को पहचानने में पूर्णतः असमर्थ सिद्ध हो रहा है। उसने अपनी पहचान को मात्र बाह्य साधनों जैसे उच्च शिक्षा, सामाजिक मान्यता, व्यावसायिक पद और भौतिक उपलब्धियों से इस प्रकार एकाकार कर लिया है कि उन साधनों में होने वाला कोई भी सूक्ष्म अथवा स्थूल परिवर्तन उसके आत्मविश्वास और मानसिक संतुलन को तत्क्षण हिला देता है। अष्टावक्र गीता के शाश्वत सिद्धांतों के अनुसार, आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, अपितु मनुष्य अपनी अज्ञानता और विस्मृति के कारण स्वयं को पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर और चंचल मन का एक अस्थाई संघात मान लेता है।

आधुनिक मनोविज्ञान जिसे 'अस्तित्ववादी शून्यता' कहता है, वह वास्तव में इसी आत्म-विस्मृति का ही एक लक्षण है। जब व्यक्ति आत्मज्ञान के माध्यम से यह अनुभव करता है कि वह परिवर्तनशील शरीर नहीं, अपितु एक निर्लिप्त, शांत और अडिग 'साक्षी' आत्मा है, तब जीवन की अत्यंत कठिन और विपरीत परिस्थितियाँ भी उसके आंतरिक संतुलन को विचलित करने में निष्प्रभावी हो जाती हैं। इस अवस्था में व्यक्ति यह समझ लेता है कि आत्मा देह के धर्मों से सर्वथा पृथक रहकर समस्त अनुभवों को प्रकाशित मात्र करती है, जैसा कि विवेकचूडामणि में भी उल्लेखित है—

''देहस्यानुभवः कस्य देहस्य न कदाचन।
आत्मैव देहधर्मेभ्यो विविक्तोऽनुभवत्यदः॥''[4]

अतः आत्म-विस्मृति के इस अंधकार को दूर करने का एकमात्र उपाय आत्म-स्मृति है। जब मनुष्य यह आत्मसात कर लेता है कि वह 'दृश्य' जगत का उपभोग करने वाली कोई सीमित इकाई नहीं, अपितु वह अनंत चैतन्य है जिसमें यह संपूर्ण विश्व समुद्र की लहरों के समान उदय और अस्त होता है, तब वह वास्तविक स्वतंत्रता का स्वाद चखता है। यही वह 'सद्यः-मुक्ति' है जिसकी चर्चा अष्टावक्र गीता प्रमुखता से करती है जहाँ मुक्ति कोई भविष्य की घटना नहीं, अपितु वर्तमान क्षण में अपनी वास्तविक अस्मिता को पहचान लेने का नाम है।

कर्तापन की भावना और तनाव की समस्या

आधुनिक जीवन में तनाव का एक प्रमुख कारण 'कर्तापन' की भावना है। आज के इस तीव्रगामी और प्रतिस्पर्धात्मक युग में तनाव, चिंता और अवसाद जैसी मानसिक व्याधियाँ एक वैश्विक महामारी का रूप ले चुकी हैं, जिनसे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी पूर्णतः पार पाने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। अष्टावक्र गीता इन समस्त विकारों का मूल कारण किसी बाह्य परिस्थिति को नहीं, अपितु 'कर्तापन के अभिमान' (Sense of Doership) और 'देहाभिमान' को मानती है। मनुष्य यह मान बैठता है कि वह ही सभी कार्यों का एकमात्र कर्ता और नियामक है और प्रत्येक परिणाम उसके पूर्ण नियंत्रण में है। यह मिथ्या धारणा उसे निरंतर मानसिक दबाव में रखती है और भविष्य की अनिश्चितता तथा असफलता की आशंका उसे तनावग्रस्त कर देती है।

अष्टावक्र जी 'अकर्ता' भाव का वह क्रांतिकारी उपदेश देते हैं, जो मनुष्य के मानस-पटल से अहंकार और उत्तरदायित्व का वह अनावश्यक बोझ उतार देता है जिसे ढोते हुए वह मानसिक रूप से थक चुका है। जब व्यक्ति स्वयं को परिणामों का स्वामी मान लेता है, तो वह अनिवार्य रूप से 'परफॉरमेंस एंग्जायटी' और 'इम्पोस्टर सिंड्रोम' जैसी समस्याओं से घिर जाता है। महर्षि अष्टावक्र इस मनोवैज्ञानिक जटिलता को एक अत्यंत प्रभावशाली उपमा के माध्यम से समझाते हैं—

''अहं कर्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥''[5]

अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' इस अहंकार रूपी काले महासर्प ने तुम्हें डस लिया है। 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस विश्वास रूपी अमृत का पान करके तुम सुखी हो जाओ।

इसे एक व्यावहारिक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक कारपोरेट अधिकारी जो किसी महत्वपूर्ण परियोजना की असफलता के कारण गहरे अवसाद और 'बर्नआउट' की स्थिति में है, उसके तनाव का मूल कारण यह विश्वास है कि ''मैंने कठिन परिश्रम किया, फिर भी मैं सफल नहीं हुआ''। अष्टावक्र दर्शन उसे यह दृष्टि प्रदान करता है कि समस्त चेष्टाएँ और कर्म वास्तव में इंद्रियाँ कर रही हैं और उनके परिणाम प्रकृति के नियमों के अधीन हैं; आत्मा केवल उनका तटस्थ और निर्लिप्त साक्षी है। ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है कि आत्मा न तो शरीर है और न ही वह कर्मों की अशुद्धियों में लिप्त है—

''न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥''[6]

अर्थात् तुम न तो यह शरीर हो और न ही यह शरीर तुम्हारा है; तुम न कर्ता हो और न ही उन कर्मों के वास्तविक भोक्ता हो। तुम तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप, सदा साक्षी और निरपेक्ष आत्मा हो।

अष्टावक्र जी का यह 'अकर्तापन' का सिद्धांत पाश्चात्य दर्शन के 'स्टोइसिज्म' में वर्णित 'नियंत्रण के द्वंद्व' से भी अधिक सूक्ष्म है। जहाँ स्टोइक दर्शन केवल उन बातों पर ध्यान देने को कहता है जो वश में हैं, अष्टावक्र जी यह बोध कराते हैं कि 'कर्ता' रूपी अहंकार ही कल्पित है, अतः कुछ भी तुम्हारे वश में होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'मैं कर्ता हूँ' यह विचार ही वह विषैला बीज है जिससे तनाव का वृक्ष पल्लवित होता है। वास्तविक मानसिक शांति संघर्ष में नहीं, अपितु पूर्ण 'स्वीकार' में निहित है। जब मनुष्य यह निश्चित कर लेता है कि जो कुछ घटित हो रहा है, वह उस विराट चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है, तो उसके भीतर का द्वंद्व तत्क्षण समाप्त हो जाता है। मानसिक अशांति का समाधान बताते हुए ग्रन्थ कहता है—

''हर्षामर्षौ सुखं दुःखं धर्माधौं न च ते विभो।
सर्वं ब्रह्मवेति निश्चित्य मुक्तो भव महामते॥''[7]

अर्थात् हे महामते! हर्ष-विषाद, सुख-दुःख और धर्म-अधर्म तुम्हारे वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। यह सब ब्रह्म की ही लीला है ऐसा निश्चय करके तुम समस्त मानसिक द्वंद्वों और क्लेशों से मुक्त हो जाओ।

साक्षीभाव को अपनाना आधुनिक जीवन में तनाव से मुक्ति का एक अत्यंत प्रभावी और व्यावहारिक उपाय है। यह बोध व्यक्ति को तात्कालिक ग्लानि और भविष्य की चिंता से मुक्त कर देता है। अष्टावक्र गीता यह सिद्ध करती है कि अशांति का मुख्य कारण मन का अतीत के पश्चाताप और भविष्य की कल्पनाओं में भटकना है। 'साक्षी भाव' के माध्यम से मन वर्तमान क्षण के बोध में प्रतिष्ठित हो जाता है। जब हम स्वयं को विचारों से पृथक कर लेते हैं, तो विचार अपनी शक्ति खो देते हैं और मानसिक शांति स्वतः घटित होने लगती है।

अतः अष्टावक्र गीता मानसिक समस्याओं के निवारण हेतु मात्र कोई सतही उपाय नहीं बताती, अपितु वह उस कल्पित 'रोगी' (अहंकार) का ही आध्यात्मिक उपचार कर देती है जो समस्त समस्याओं की जननी है। 'अकर्ता' और 'साक्षी' भाव के माध्यम से व्यक्ति न केवल तात्कालिक तनाव से मुक्त होता है, अपितु वह जीवन की प्रत्येक विषम परिस्थिति में 'स्थितप्रज्ञ' की भाँति अडिग रहना सीख जाता है। वर्तमान युग के विक्षिप्त और दिशाहीन मानस के लिए महर्षि अष्टावक्र की यह अमर वाणी किसी संजीवनी से कम नहीं है।

भौतिकतावाद एवं असंतोष का अंतहीन चक्र

वर्तमान युग भौतिकतावाद और उपभोक्तावाद का चरम बिंदु है, जहाँ सुख की परिभाषा को बाह्य वस्तुओं के संचय और विलासिता के साधनों में खोजा जा रहा है। आज के पूंजीवादी समाज में बाजारवाद और विज्ञापनों ने वैश्विक स्तर पर मनुष्य के मानस में यह भ्रामक धारणा सुदृढ़ कर दी है कि नवीन और अधिक वस्तुओं का स्वामित्व ही स्थायी संतोष और सामाजिक प्रतिष्ठा का एकमात्र मार्ग है। अष्टावक्र गीता इस भौतिकवादी मिथ्या का अत्यंत तार्किक और आध्यात्मिक खंडन करते हुए प्रतिपादित करती है कि बाह्य वस्तुओं और इंद्रिय-विषयों से प्राप्त होने वाला सुख मात्र क्षणभंगुर और अनित्य है, जो अंततः दुःख, रिक्तता और अतृप्ति में ही परिणत होता है।

महर्षि अष्टावक्र के अनुसार, भोगों के प्रति आसक्ति ही समस्त अनर्थों का मूल कारण है, जैसा कि ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

''अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत्॥''[8]

अर्थात् मनुष्य प्रचुर मात्रा में भोग तो प्राप्त कर लेता है, किंतु वह वास्तव में अनर्थों (आसक्ति, तृष्णा, भय और मोह) का ही अर्जन करता है। सर्वपरित्याग के बिना कोई भी जीव सुखी नहीं हो सकता।

यहाँ 'सर्वपरित्याग' का अर्थ बाह्य वस्तुओं का भौतिक त्याग नहीं, अपितु उनके प्रति मन में व्याप्त 'ममत्व' और 'आसक्ति' का त्याग है। आधुनिक मनुष्य एक ऐसी 'मृग-मरीचिका' के पीछे भाग रहा है जिसे मनोविज्ञान में 'हेडोनिक ट्रेडमिल' कहा जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति अधिक धन और संसाधन पाने के लिए निरंतर संघर्षरत और चलायमान तो रहता है, किंतु उसकी प्रसन्नता का स्तर वस्तु की प्राप्ति के कुछ समय पश्चात पुनः अपने पुराने स्तर पर स्थिर हो जाता है। यह अंतहीन चक्र इच्छा, प्राप्ति, क्षणिक सुख और पुनः नवीन इच्छा मनुष्य को कभी स्थायी शांति का अनुभव नहीं करने देता।

अष्टावक्र गीता यह दृढ़ता से स्पष्ट करती है कि वास्तविक सुख बाह्य वस्तुओं में नहीं, अपितु आंतरिक संतोष और

आत्म-स्वरूप की पहचान में निहित है। जब मनुष्य वस्तुओं का उपयोग मात्र शरीर की आवश्यकता हेतु करता है और उनका स्वामी बना रहता है, तभी वह वास्तविक सुख का अनुभव कर सकता है। जिस क्षण वस्तु मनुष्य की स्वामिनी बन जाती है और मनुष्य उसका दास, उसी दिन से उसका आध्यात्मिक पतन और मानसिक क्लेश प्रारंभ हो जाता है। इस संदर्भ में अद्वैत वेदांत की यह सूक्ष्म दृष्टि आधुनिक अर्थशास्त्र के 'तुष्टिगुण ह्रास नियम' को भी आध्यात्मिक धरातल पर समझाती है कि वस्तुओं के निरंतर उपयोग से मिलने वाली मानसिक संतुष्टि निरंतर घटती जाती है, अतः बाह्य विषय कभी पूर्ण तृप्ति नहीं दे सकते। अष्टावक्र जी का उपदेश 'अकिंचन' होने का है, जो वर्तमान के 'मिनिमलिज्म' विचार का आध्यात्मिक पूर्वज है, जहाँ बल वस्तुओं को कम करने पर नहीं, अपितु अहंकार और 'मेरे-पन' के भाव को शून्य करने पर है।

निष्कर्षतः, भौतिकतावाद के इस तमस प्रधान युग में अष्टावक्र गीता एक 'प्रकाश स्तम्भ' के समान कार्य करती है। यह हमें सिखाती है कि वास्तविक वैभव वस्तुओं के ढेर में नहीं, अपितु आत्मा की निर्विकार और शांत अवस्था में है। जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि वह स्वयं पूर्ण ब्रह्म है, तो उसे बाहर से कुछ भी जोड़कर पूर्ण होने की भ्रामक आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अष्टावक्र जी का यह शाश्वत संदेश आधुनिक अर्थव्यवस्था और व्यक्तिगत जीवन दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करने हेतु आज के समय की अनिवार्य आवश्यकता है।

राग-द्वेष एवं मानसिक असंतुलन

मानव मन स्वभावतः द्वंद्वात्मक है, जो कभी आकर्षण (राग) तो कभी घृणा (द्वेष) के बीच झूलता रहता है। यही मानसिक अस्थिरता आधुनिक जीवन में कलह और अशांति का मुख्य कारक है। मनुष्य अपेक्षाओं के कारण दुखी होता है व दूसरों की सफलता से जलता है। अष्टावक्र मुनि स्पष्ट करते हैं कि ये विकार मन के हैं, आत्मा के नहीं—

''रागद्वेषौ मनो धर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥''[9]

अर्थात् राग और द्वेष मन के धर्म हैं, वे तुम्हारे (आत्मा के) कभी नहीं हैं। तुम तो निर्विकल्प और निर्विकार बोधस्वरूप हो। वर्तमान समय में सामाजिक संबंधों में बढ़ती हुई कड़वाहट का समाधान इसी 'निर्विकार' बोध में छिपा है। यदि व्यक्ति यह समझ ले कि ये भाव केवल मन के हैं और वह स्वयं उनसे पृथक 'साक्षी' है, तो वह मानसिक रूप से अधिक संतुलित रह सकता है। अष्टावक्र जी का यह संदेश कि ''सुख बाहर नहीं, आत्मा में है'', व्यक्ति को मन के चंचल रूप से स्वतंत्र कर स्थायी मानसिक संतुलन प्रदान करता है।

वैराग्य का महत्व

अष्टावक्र गीता में वैराग्य को मानसिक शांति का एक अनिवार्य साधन माना गया है। यहाँ वैराग्य का अर्थ बाह्य जगत का त्याग नहीं, अपितु विषयासक्ति का परित्याग है। महर्षि अष्टावक्र का प्रथम उपदेश ही वैराग्य की शिक्षा से प्रारंभ होता है-

''मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥''[10]

अर्थात् हे तात! यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो विषयों को विष के समान त्याग दो और क्षमा, सरलता, दया, संतोष एवं सत्य को अमृत के समान जीवन में ग्रहण करो।

वर्तमान जीवन में वैराग्य का अर्थ है अनावश्यक इच्छाओं पर नियंत्रण रखना, तुलना की प्रवृत्ति को समाप्त करना और बाहरी मान्यता पर निर्भरता को कम करना। जब व्यक्ति बाह्य विषयों का बहुत आदर नहीं करता और न ही मानसिक स्वादों में आसक्त होता है, तब उसे निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। वैराग्य यहाँ किसी दमन का नाम नहीं, बल्कि आत्मस्वरूप की पहचान का परिणाम है। पूर्णता के बोध से इच्छा का आधार नष्ट हो जाता है और व्यक्ति सहज रूप से शांत हो जाता है।

आत्मज्ञान— स्थायी समाधान

अष्टावक्र गीता के अनुसार आत्मज्ञान ही सभी सांसारिक समस्याओं का अंतिम और स्थायी समाधान है। आत्मज्ञान का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप को जानना और यह अनुभव करना कि मनुष्य न तो शरीर है, न मन, अपितु शुद्ध चेतना है। जब व्यक्ति इस सत्य को अनुभव करता है, तो वह जीवन की सभी विषमताओं में संतुलित रहता है। शास्त्रीय परंपरा में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'', अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। यह आत्मज्ञान मात्र बौद्धिक चिंतन नहीं, अपितु अनुभवी सद्गुरु के उपदेश से सिद्ध होने वाली एक प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है।

ग्रन्थ के अनुसार, बंधन और मुक्ति का मूल आधार हमारी अपनी धारणा और मानसिक निश्चय है—

''मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥''[11]

अर्थात् जो स्वयं को मुक्त मानता है वह मुक्त है, और जो स्वयं को बद्ध मानता है वह बंधन में रहता है। यह कहावत सत्य ही है कि जैसी मति (धारणा) होती है, वैसी ही स्थिति (गति) हो जाती है।

यह श्लोक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत सूक्ष्म है, जो यह सिद्ध करता है कि हमारी मानसिक अवस्था हमारे विश्वास का ही परिणाम है। वर्तमान युग में, जहाँ व्यक्ति छोटी-छोटी असफलताओं और बाह्य परिवर्तनों से तनावग्रस्त हो जाता है, आत्मज्ञान उसे वह आंतरिक स्थिरता और आत्मविश्वास प्रदान करता है जिससे वह सुख-दु:ख दोनों को समान रूप से प्रकाशित कर सके। अष्टावक्र जी इस आत्मबोध को 'ज्ञान-खड्ग' की संज्ञा देते हैं, जो देहाभिमान रूपी पाश को क्षण भर में काट देता है।

आत्मज्ञान का यह समाधान स्थायी इसलिए है क्योंकि यह किसी बाह्य साधन पर निर्भर नहीं है, अपितु यह 'निरपेक्ष' है। जहाँ अन्य गीताओं में मुक्ति को क्रमिक साधना का परिणाम माना गया है, वहीं अष्टावक्र गीता 'तत्काल बोध' या 'सद्य:-मुक्ति' पर बल देती है। महर्षि अष्टावक्र के अनुसार, यह ज्ञान ही वह 'निश्चय-वह्नि' (निश्चय रूपी अग्नि) है जो अज्ञान रूपी घने अंधकार को भस्म कर देती है और शोक का सर्वथा अभाव कर देती है।

जब साधक यह जान लेता है कि वह शरीर नहीं, अपितु शुद्ध चैतन्य है, तब बंधन का अनुभव स्वत: नष्ट हो जाता है। इस संदर्भ में, आत्मज्ञान 'सेल्फ-हेल्प' पुस्तकों से भिन्न है क्योंकि यह व्यक्ति को श्बेहतर' बनने के बजाय यह बोध कराता है कि वह पहले से ही 'पूर्ण' और 'मुक्त' है, मात्र अज्ञानवश स्वयं को अधूरा मान रहा है। आधुनिक 'अस्तित्ववादी शून्यता' का समाधान भी इसी बोध में निहित है कि आत्मा स्वयं में परिपूर्ण है। अत: आत्मज्ञान वह परम औषधि है जो 'भवरोग' की चिकित्सा करती है। यह मनुष्य को उसके वास्तविक गौरव में प्रतिष्ठित करता है, जिससे वह संसार के कोलाहल के मध्य भी 'असंग' और 'शांत' रहने की कला सीख जाता है। यही वह स्थायी समाधान है जो व्यक्ति को 'स्वराज्य' और 'आंतरिक स्वाधीनता' प्रदान करता है।

आधुनिक जीवन में अष्टावक्र गीता की व्यावहारिक उपयोगिता

अष्टावक्र गीता केवल एक प्राचीन दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, अपितु यह आधुनिक जीवन के जटिल संग्राम में विजयी होने की एक अनुपम एवं शाश्वत जीवन-कला सिखाती है। इसकी शिक्षाएँ आज के समाज के प्रत्येक वर्ग चाहे वह विद्यार्थी हो, व्यावसायिक हो अथवा प्रशासक के लिए अत्यंत उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध होती हैं। विशेष रूप से वर्तमान पीढ़ी के युवाओं के लिए, जो निरंतर गलाकाट प्रतिस्पर्धा, असुरक्षा और अस्तित्व के संकट (Identity Crisis) के मध्य जी रहे हैं, यह ग्रंथ न मात्र मानसिक संबल प्रदान करता है, अपितु आंतरिक स्वाधीनता का वह बोध कराता है जिससे जीवन की कठिनतम परिस्थितियाँ भी सहज प्रतीत होने लगती हैं।

व्यावहारिक उपयोगिता के प्रमुख बिंदुओं का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है—

मानसिक स्वास्थ्य—वर्तमान युग में तनाव, चिंता और अवसाद जैसी समस्याएँ एक वैश्विक महामारी का रूप ले चुकी हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जहाँ इन व्याधियों का उपचार बाह्य औषधियों में खोजता है, वहीं अष्टावक्र गीता 'साक्षी भाव' और 'अकर्ता भाव' का वह दिव्य विज्ञान प्रदान करती है जो रोग की जड़ पर प्रहार करता है। अष्टावक्र जी के अनुसार, मानसिक अशांति का मूल कारण स्वयं को शरीर मान लेना और प्रत्येक कर्म का 'कर्ता' बन जाना है। जब मनुष्य स्वयं को परिणामों का स्वामी मान लेता है, तो वह अनिवार्य रूप से तनावग्रस्त हो जाता है। यह 'अकर्ता' भाव मनुष्य के कंधों से उत्तरदायित्व का वह कृत्रिम बोझ उतार देता है जिसे ढोते हुए वह मानसिक रूप से थक चुका है। 'साक्षी भाव' का अभ्यास व्यक्ति को यह सिखाता है कि विचार और भावनाएँ आकाश में बादलों की भाँति आ रहे हैं और जा रहे हैं, मात्र आत्मा वह अचल आकाश है जो इनसे सर्वथा अछूता है। यह 'डिस-आइडेंटिफिकेशन' (Dis-identification) ही वास्तविक मानसिक उपचार है।

निर्णय क्षमता (Decision Making) : किसी भी क्षेत्र में सफलता हेतु सटीक निर्णय क्षमता अनिवार्य है। मात्र एक अशांत और विक्षिप्त मन कभी भी सही निर्णय नहीं ले सकता। अष्टावक्र गीता का 'समत्व' का सिद्धांत व्यक्ति को वह मानसिक स्थिरता प्रदान करता है जिससे वह राग-द्वेष और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर स्थिति का निष्पक्ष विश्लेषण कर सके। मानसिक रूप से संतुलित व्यक्ति अधिक सहिष्णु और उत्तरदायी होता है, जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन में अपितु समाज में भी सामंजस्य बढ़ता है। जब निर्णय 'अहंकार' के बजाय 'बोध' से लिए जाते हैं, तो वे अधिक कल्याणकारी और दीर्घकालिक

होते हैं। अष्टावक्र जी स्पष्ट करते हैं कि निर्मल ज्ञान ही सही दृष्टि का आधार है–

''यदा नास्वादयत्यन्त्यं न बाह्यं बहु मन्यते।
तदास्य विमलं ज्ञानं भविष्यति न संशयः॥''[12]

अर्थात् जब मनुष्य बाह्य विषयों का बहुत आदर नहीं करता और न ही अंतःकरण के कल्पित सुखों में आसक्त होता है, तब उसे वह निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है जिससे उसकी निर्णय शक्ति अचूक हो जाती है।

नेतृत्व एवं प्रशासन—अष्टावक्र गीता का प्राकट्य ही एक राजा (विदेह नरेश जनक) और एक ऋषि के संवाद के रूप में हुआ है, जो इसके प्रशासनिक महत्व को सिद्ध करता है। राजा जनक जैसे महान शासक को दिया गया यह उपदेश स्पष्ट करता है कि एक प्रभावशाली नेतृत्व के लिए आंतरिक संतुलन और अहंकार-रहित दृष्टि अनिवार्य है। आज के नेतृत्व सिद्धांतों में 'सर्वेंट लीडरशिप' और 'एथिकल लीडरशिप' की चर्चा होती है, जिसका मूल अष्टावक्र के 'अकर्ता' भाव में विद्यमान है। एक प्रशासक जब स्वयं को श्स्वामी' के बजाय 'साक्षी' या 'निमित्त' मानता है, तो वह अधिक न्यायप्रिय और भ्रष्टाचार-मुक्त हो पाता है। अहंकार-रहित दृष्टि उसे यह समझने में सहायता करती है कि पद और सत्ता नश्वर हैं, मात्र सेवा और धर्म ही शाश्वत हैं-

''यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुञ्च मा॥''[13]

अर्थात् जब तक 'मैं' (अहंकार) है, तब तक बंधन है; जब 'मैं' नहीं रहता, तब मोक्ष है। ऐसा जानकर वक्ता या नेता को न तो कुछ ग्रहण करना चाहिए और न ही त्यागना, अपितु सहज भाव में स्थित रहना चाहिए।

शिक्षा : आधुनिक शिक्षा प्रणाली मुख्य रूप से सूचनाओं के संचय और व्यावसायिक कौशल पर केंद्रित है, जिसमें 'आत्मबोध' का सर्वथा अभाव है। यदि विद्यार्थियों को प्रारंभ से ही यह शिक्षा दी जाए कि वास्तविक सफलता मात्र बाहरी उपलब्धियों, उपाधियों या उच्च वेतन में नहीं, अपितु आंतरिक संतोष और आत्मबोध में है, तो समाज कहीं अधिक संतोषपूर्ण और सुखी हो सकता है। अष्टावक्र गीता शिक्षा को 'बंधन से मुक्ति' का साधन मानती है। यह विद्यार्थियों को यह सिखाती है कि असफलता से ग्लानि और सफलता से उन्माद में आने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुम इन सबसे परे एक नित्य चौतन्य हो। यह शिक्षा युवाओं को 'अस्तित्ववादी संकट' से बचाकर उन्हें आत्म-निर्भर और साहसी बनाती है।

निष्कर्ष : अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अष्टावक्र गीता का पावन संदेश आज के कोलाहलपूर्ण युग में भी उतना ही सार्थक, प्रासंगिक और कालातीत है जितना वह प्राचीन काल में महाराज जनक के लिए था। यह ग्रन्थ हमें अत्यंत प्रभावशाली ढंग से यह सिखाता है कि वास्तविक मुक्ति बाहरी परिस्थितियों को बदलने से प्राप्त नहीं होती, अपितु अपने दृष्टिकोण को पूर्णतः बदलने से प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ मनुष्य को उसकी बाह्य परतंत्रता, सामाजिक दबावों और मानसिक कुंठाओं से मुक्त कर उसे स्व-अनुभूति के उस सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन करता है, जहाँ पहुँचकर समस्त सांसारिक दुःख, अभाव और चिंताएँ सर्वथा अर्थहीन और कल्पित प्रतीत होने लगती हैं। अष्टावक्र का यह 'साक्षी मनोविज्ञान' समकालीन विश्व की समस्त आध्यात्मिक एवं मानसिक स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों का सबसे स्थायी, मौलिक और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, अष्टावक्र गीता मात्र संन्यासियों के लिए नहीं, अपितु आधुनिक युग के प्रत्येक कर्मशील मनुष्य के लिए एक 'हैंडबुक' की भाँति है, जो उसे संसार की आपाधापी के मध्य भी एक अविचल, शांत और निर्लिप्त जीवन जीने की प्रेरणा देती है।

एम. ए (संस्कृत)
एमिटी इंस्टीट्युट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. अष्टावक्र गीता, 1.1
2. अष्टावक्र गीता 2.1
3. अष्टावक्र गीता 1.7
4. विवेकचूडामणि
5. अष्टावक्र गीता, 1.8
6. अष्टावक्र गीता 15.4
7. अष्टावक्र गीता 15.9
8. अष्टावक्र गीता 10.1
9. अष्टावक्र गीता 1.15
10. अष्टावक्र गीता 1.2
11. अष्टावक्र गीता 1.11

12. अष्टावक्र गीता 15.3
13. अष्टावक्र गीता 8.4

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- ★ डॉ. हरस्वरूप वासिष्ठ, अष्टावक्रमहागीता, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2021
- ★ वेदव्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2016
- ★ डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग-1), राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1996.
- ★ आदि शंकराचार्य, विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2012.
- ★ शंकराचार्य, आत्मबोध, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2010.
- ★ वेदव्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2016.

भट्टिकाव्य का व्याकरणात्मक विश्लेषण

पवित्रा बालाजी

शोध सार- भट्टि काव्य संस्कृत साहित्य की एक अद्वितीय रचना है, जिसमें काव्य सौंदर्य और व्याकरणिक शिक्षा का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। यह काव्य केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य भट्टि काव्य में निहित व्याकरणिक तत्त्वों का विश्लेषण करना है। भट्टि ने अपने काव्य में पाणिनीय व्याकरण के नियमों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जिससे यह काव्य शिक्षण की दृष्टि से भी अत्यंत उपयोगी बन जाता है। इस अध्ययन में भट्टि काव्य की संरचना, उसमें प्रयुक्त व्याकरणिक नियम, धातु प्रयोग, संधि, समास, प्रत्यय तथा वाक्य संरचना का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, यह भी देखा गया है कि किस प्रकार काव्य के माध्यम से व्याकरण को सरल और रोचक बनाया गया है।

यह शोध इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भट्टि काव्य न केवल एक साहित्यिक कृति है, बल्कि यह संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के लिए एक प्रभावी शिक्षण उपकरण भी है। यह काव्य शिक्षण की दृष्टि से बहुआयामी उपयोगिता प्रस्तुत करता है, क्योंकि इसमें सिद्धांत और व्यवहार का समन्वय अत्यंत सहज रूप में दिखाई देता है। भट्टि काव्य के माध्यम से विद्यार्थी न केवल व्याकरणिक नियमों को समझाते हैं, बल्कि उन्हें वास्तविक भाषिक संदर्भ में प्रयोग करना भी सीखते हैं। इससे अधिगम प्रक्रिया अधिक स्थायी, रोचक और प्रभावी बनती है। विशेष रूप से, कथा के प्रवाह में निहित व्याकरणिक प्रयोग विद्यार्थियों की जिज्ञासा को बनाए रखते हैं और उन्हें आत्म-अध्ययन के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार, भट्टि काव्य आधुनिक भाषा-शिक्षण की उन अवधारणाओं को सुदृढ़ करता है, जिनमें अनुभवात्मक अधिगम, संदर्भाधारित शिक्षण और समेकित दृष्टिकोण को महत्त्व दिया जाता है।

कूट शब्द- मन्त्रि काव्य व्याकरणात्मक विश्लेषण।

प्रस्तावना- संस्कृत वाङ्मय की गौरवशाली परम्परा में 'शब्द' को ब्रह्म स्वीकार किया गया है । 'शब्दब्रह्म' की इस साधना में व्याकरण शास्त्र वह आधारशिला है, जिसके बिना अर्थ की सुसंगति सर्वथा असम्भव है। प्राचीन आचार्यों ने व्याकरण को 'वेदानां मुखम्' (वेदों का मुख) की संज्ञा प्रदान करते हुए इसकी अपरिहार्यता सिद्ध की है। भाषाविज्ञान के धरातल पर व्याकरण मात्र नियमों का संकलन नहीं, अपितु भाषा की संरचनात्मक शुद्धता का नियामक तत्त्व है।

वेदाङ्गों में व्याकरण की प्रधानता को प्रतिपादित करते हुए 'पाणिनीय शिक्षा' में कहा गया है

''छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥''

(पाणिनीय शिक्षा, 41-42)

अर्थात् जिस प्रकार मुख के बिना शरीर के अन्य अवयव पोषण ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदों के अर्थ का सम्यक् बोध और उच्चारण असम्भव है। आचार्य भर्तृहरि ने अपि 'वाक्यपदीय' में व्याकरण को मोक्ष-मार्ग का प्रथम सोपान और वाणी के दोषों की चिकित्सा करने वाला 'अधिविद्य' (सर्वोच्च विद्या) घोषित किया है—

''तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।

पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥''

(वाक्यपदीयम, 1.14)

संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट परम्परा का उद्भव हुआ जिसे 'शास्त्र-काव्य' कहा जाता है। यह वह विधा है जहाँ कवि का उद्देश्य मात्र रसानुभूति कराना नहीं, अपितु किसी विशिष्ट शास्त्र, जैसे व्याकरण [Grammar], का प्रतिपादन करना अपि होता है। महाकवि भट्टि विरचित 'भट्टिकाव्यम्' (रावणवधम्) इसी परम्परा का शिरोमणि ग्रन्थ है। इन्होंने रामकथा के पावन प्रवाह में पाणिनीय अष्टाध्यायी के शुष्क सूत्रों को इस प्रकार समाहित किया है कि वे पाठक को अनायास ही हृदयंगम हो जाते हैं। भट्टि का स्पष्ट मत था कि उनका काव्य मात्र मनोरंजन हेतु नहीं, अपितु प्रज्ञा की तीक्ष्णता हेतु है। ग्रन्थ के अन्त में वे स्वयं उद्घोष करते हैं–

''व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥''

(भट्टिकाव्यम्, 22.34)

अर्थात् यह काव्य मात्र व्याख्या के माध्यम से ही बोधगम्य है और विद्वानों हेतु एक मानसिक उत्सव के समान है ।

प्रस्तुत शोधकार्य का मुख्य लक्ष्य भट्टिकाव्य की व्याकरणात्मक संरचनाओं का उद्घाटन करते हुए इसमें निहित पाणिनीय सूत्रों का रूपप्रक्रिया एवं वाक्यविज्ञान के धरातल पर सूक्ष्म विश्लेषण करना है। वर्तमान शैक्षणिक परिवेश में जहाँ व्याकरण को एक नीरस विषय के रूप में देखा जाता है, वहाँ भट्टिकाव्य जैसे ग्रन्थों का अनुशीलन छात्रों के मनोवैज्ञानिक भय का निराकरण करता है। यह शोध भट्टिकाव्य को मात्र एक महाकाव्य के रूप में ही नहीं, अपितु व्याकरण शिक्षण के एक प्रयोगात्मक कोश के रूप में पुनर्स्थापित करने का एक विनम्र प्रयास है ।

भट्टिकाव्य शास्त्र और काव्य का वह संगम बिन्दु है जहाँ नियम और रस परस्पर पूरक बनकर उभरते हैं। इस शोध के माध्यम से भट्टिकाव्य के भाषिक-वैयाकरणिक मूल्यों को प्रतिपादित करना ही हमारा परम अभीष्ट है।

अनुसंधान पद्धति- प्रस्तुत शोधकार्य में विष्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक अनुसंधान पद्धति का आश्रय लिया गया है। इस शोध का मुख्य आधार पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों की भट्टिकाव्य के उदाहरणों के साथ 'लक्ष्य-लक्षण' संगति स्थापित करना है। शोधार्थी ने मात्र ग्रन्थ के साहित्यिक पक्ष का अवलोकन नहीं किया है, अपितु इसके व्याकरणात्मक कलेवर का सूक्ष्म तथा तात्त्विक विश्लेषण किया है। अध्ययन की प्रविधि के अन्तर्गत भट्टिकाव्य के 22 सर्गों में प्राप्त व्याकरणिक उपादानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया है। लकारों के सर्गवार वितरण का अनुशीलन करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि यह महाकाव्य व्याकरण शिक्षण की एक प्रयोगात्मक पद्धति है। अनुसंधान की इस प्रक्रिया में तुलनात्मक अध्ययन प्रविधि का प्रयोग करते हुए काव्य के उदाहरणों की पाणिनीय सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में सिद्धि प्रदर्शित की गई है। शास्त्रकारों के अनुसार व्याख्या की महत्ता इस प्रकार है

''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्॥''

(परिभाषेन्दुशेखरः)

अर्थात् किसी भी सूत्र का वास्तविक और विशेष अर्थ व्याख्या के माध्यम से ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत शोध में इसी व्याख्यात्मक पद्धति के द्वारा भट्टिकाव्य को पाणिनीय व्याकरण के एक जीवन्त उदाहरण-कोष के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

भट्टिकाव्य का व्याकरणात्मक विश्लेषण- महाकवि भट्टि प्रणीत 'भट्टिकाव्यम्' संस्कृत साहित्य की वह अद्वितीय उपलब्धि है, जहाँ व्याकरण [Grammar] के शुष्क नियमों को काव्य की सरस धारा के साथ एकाकार कर दिया गया है। प्रस्तुत मुख्य विषय के अन्तर्गत भट्टिकाव्य में सन्निहित पाणिनीय व्याकरण के विविध अंगों सन्धि, समास, प्रत्यय, सुबन्त, अव्यय तथा तिङन्त का विस्तृत एवं तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

1. सन्धि-प्रकरण एवं पाणिनीय सूत्रों का सघन विनियोग

भट्टिकाव्य में सन्धि मात्र पदों की संहिता नहीं, अपितु काव्यात्मक सौन्दर्य का आधार है। आचार्य पाणिनि के ''परः सन्निकर्षः संहिता'' (अष्टाध्यायी, 1.4.109) सूत्र के अनुसार वर्णों की अत्यन्त समीपता की स्थिति में भट्टि ने अच्, हल् और विसर्ग सन्धियों के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

प्रमुख सन्धि-प्रयोग विश्लेषण सारणी-

प्रयुक्त पद	**सन्धि विच्छेद**	**प्रयुक्त पाणिनीय सूत्र**	**सन्धि का प्रकार**
जगत्यात्मन्	जगति +आत्मन्	इको यणचि (6.1.77)	यण् सन्धि
महेन्द्रः	महा + इन्द्र	आद् गुणः (6.1.87)	गुण सन्धि
रामोऽपि	रामः + अपि	अतो रोरप्लुतादप्लुते (6.1.113)	विसर्ग (उत्व)
वागीशः	वाक् + ईशः	झलां जशोऽन्ते (8.2.39)	हल् (जश्त्व)

भट्टि ने ''इको यणचि'' जैसे सूत्रों का प्रयोग मात्र भाषिक शुद्धि हेतु नहीं, अपितु 'जगत्यात्मन्' जैसे पदों के माध्यम से दार्शनिक गम्भीरता प्रदान करने हेतु किया है। हल् सन्धियों में ''स्तोः श्चुना श्चुः'' (8.4.40) के द्वारा 'सज्जन' जैसे पदों की सिद्धि वर्णों के परिवर्तन की प्रक्रिया को सजीव करती है।

2. समास-प्रकरण एवं पद-लालित्य

भट्टि का समास-नियोजन 'समसनं समासः' के सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय के सूत्रों का प्रयोग कर यह सिद्ध किया है कि सामासिक पदों के माध्यम से अर्थ-गाम्भीर्य और ओज गुण का संचार किया जा सकता है।

सामासिक विश्लेषण सारणी-

सामासिक पद	समास विग्रह	समास का प्रकार	प्रयुक्त सूत्र
पीताम्बरः	पीतम् अम्बरं यस्य सः	बहुव्रीहि	अनेकमन्यपदार्थे (2.2.24)
यथाशक्ति	शक्तिम् अनतिचक्रम्य	अव्ययीभाव	अव्ययं विभक्तिसमीप... (2.1.6)
रामलक्ष्मणौ	रामश्च लक्ष्मणश्च	इतरेतर द्वन्द्व	चार्थे द्वन्द्वः (2.2.29)
यज्ञभूमिः	यज्ञाय भूमिः	चतुर्थी तत्पुरुष	चतुर्थी तदर्थार्थ... (2.1.36)

भट्टि ने पात्रों के स्वभाव के अनुकूल सूत्रों का चयन किया है। रावण की गर्वोक्तियों में 'द्वन्द्व' और 'तत्पुरुष' के प्रयोग उसके अहंकार को पुष्ट करते हैं, अपितु सीता-विलाप के प्रसंगों में समासों की अल्पता पद-लालित्य को कोमलता प्रदान करती है।

3. प्रत्यय-विवेचन-- कृदन्त एवं तद्धित

संस्कृत व्याकरण की आधारशिला प्रकृति और प्रत्यय [Suffix] के विभाग पर टिकी है। भट्टि ने अष्टाध्यायी के तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम अध्यायों के प्रत्ययों को रामकथा के प्रवाह के साथ एकाकार कर दिया है।

प्रत्यय-प्रयोग विश्लेषण सारणी-

प्रयुक्त पद	मूल प्रकृति	प्रत्यय	पाणिनीय सूत्र
अध्यैष्ट	इङ् (अध्ययने)	लुङ् (सिच्)	च्लि लुङि (3.1.43)
श्रोतव्यम्	श्रु (श्रवणे)	तव्यत्	तव्यत्तव्यानीयरः (3.1.96)
दाशरथिः	दशरथ	इञ्	अत इञ् (4.1.95)
कृतवान्	(करणे)	क्तवतु	क्तक्तवतू निष्ठा (1.1.26)

'अध्यैष्ट' जैसे पदों की सिद्धि पाणिनीय व्याकरण की जटिलता और महाकवि के उस पर पूर्ण अधिकार को प्रदर्शित करती है। तद्धित प्रत्ययों में ''अत इञ्'' सूत्र से 'दाशरथि' पद की सिद्धि पात्र के पितृ-कुल और व्याकरणिक शुद्धि दोनों की परिचायक है।

4. शब्दरूप एवं पद-व्यवस्था (सुबन्त विश्लेषण)

आचार्य पाणिनि के ''सुप्तिङन्तं पदम्'' (1.4.14) सूत्र के अनुसार भट्टि ने 21 सुप् प्रत्ययों का विनियोग किया है। भट्टिकाव्य का वैशिष्ट्य उन दुरूह हलन्त शब्दों की पद-सिद्धि में है, जो सामान्यतः कवियों हेतु क्लिष्ट होते हैं।

सुबन्त पद विश्लेषण सारणी-

मूल शब्द	प्रयुक्त पद	विभक्ति / वचन	प्रयुक्त सूत्र
राजन्	राज्ञा	तृतीया / एक.	अल्लोपोऽनः (6.4.134)
पितृ	पितॄन्	द्वितीया / बहु.	तस्माच्छसो नः पुंसि (6.1.103)
हरि	हरयः	प्रथमा / बहु.	जसि च (7.3.109)
विद्वस्	विदुषः	द्वितीया / बहु.	वसोः सम्प्रसारणम् (6.4.131)

भट्टि ने 'राज्ञा' जैसे पदों में ''अल्लोपोऽनः'' (6.4.134) सूत्र के माध्यम से न-लोप एवं अकार-लोप की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। अजन्त और हलन्त शब्द-रूपावली का यह नियोजन व्याकरण के छात्रों हेतु 'शिक्षणोपयोगी' है।

5. अव्यय एवं उपसर्ग नियोजन

अव्यय और उपसर्ग पदों के अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं। भट्टि ने ''उपसर्गाः क्रियायोगे'' (1.4.59) के अनुसार क्रिया के अर्थ-परिवर्तन की धुरी उपसर्गों को बनाया है।

उपसर्ग एवं अव्यय विश्लेषण सारणी-

उपसर्ग/अव्यय	प्रयुक्त पद	पाणिनीय सूत्र	शास्त्रीय टिप्पणी
वि (उपसर्ग)	विजजे	विपराभ्यां जेः (1.3.19)	आत्मनेपद विधायक
प्र (उपसर्ग)	प्रययौ	प्रादयः (1.4.58)	प्रकर्ष अर्थ में
इति (अव्यय)	इत्युक्त्वा	स्वरादिनिपातमव्ययम्	समाप्ति बोधक
विना (अव्यय)	व्याकरणं विना	पृथग्विनानानाभिः... (2.3.32)	अभाव अर्थ में

भट्टि ने उपसर्गों के माध्यम से 'णत्व' विधान (8.4.14) को 'अभिप्रणेदुः' जैसे पदों में स्पष्ट किया है। अव्यय 'विना' के योग में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त सटीक है।

6. तिङन्त प्रक्रिया एवं लकार विश्लेषण

भट्टिकाव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष 'तिङन्त' प्रक्रिया है। कवि ने व्याकरण के दशलकारों को रामकथा के पावन प्रवाह में सजीव किया है। 'तिङन्तकाण्ड' (सर्ग 14-22) में लकारों का सर्गवार वितरण एक सुनियोजित शैक्षणिक प्रविधि है।

लकार वितरण एवं व्याकरणात्मक विश्लेषण सारणी-

सर्ग	मुख्य लकार	प्रयुक्त कथानक	पाणिनीय सूत्र
14	लिट् (परोक्ष भूत)	कुम्भकर्ण वध	परोक्षे लिट् (3.2.115)
15	लुङ् (सामान्य भूत)	राक्षसों का संहार	लुङ् (3.2.110)
16	लृट् (भविष्यत्)	रावण का विलाप	लृट् शेषे च (3.3.13)
17	लङ् (अनद्यतन भूत)	इन्द्रजित् का युद्ध	अनद्यतने लङ् (3.2.111)

भट्टि ने 15वें सर्ग में 'लुङ्' लकार के सात विकरणों का सघन प्रदर्शन किया है। 'अध्यैष्ट' जैसे पद ''इणो गा लुङि'' (2.4.45) और ''सिच्यभ्यस्तविदिभ्यश्च'' (7.3.96) जैसे सूत्रों का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

धातु प्रयोगों में भट्टि ने 10 गणों की प्रतिनिधि धातुओं का प्रयोग किया है । पद-व्यवस्था (आत्मनेपद/परस्मैपद) के शास्त्रीय सन्तुलन को समझाते उन्होंने ''विपराभ्यां जेः'' (1.3.19) के माध्यम से 'विजजे' पद की सिद्धि की है।

गण एवं विकरण नियोजन सारणी-

गण	प्रतिनिधि धातु	विकरण	पाणिनीय सूत्र
दिवादि	दिव् (क्रीड़ायाम्)	श्यन् (य)	दिवादिभ्यः श्यन् (3.1.69)
स्वादि	श्रु (श्रवणे)	श्नु (नु)	स्वादिभ्यः श्नुः (3.1.73)
तनादि	(करणे)	उ	तनादिकृञ्भ्य उः (3.1.79)
अदादि	अद् (भक्षणे)	लुक् (लोप)	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (2.4.72)

उपसंहार- भट्टिकाव्य का यह व्याकरणात्मक विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि महाकवि भट्टि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को

मात्र निर्जीव नियम नहीं माना, अपितु उन्हें काव्य के वर्णों में प्राण फूँकने वाले मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। व्याकरण के ज्ञान रूपी दीपक के बिना साहित्य का मार्ग अन्धकारमय है, जिसका उद्घोष वे स्वयं करते हैं ''दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्। हस्तामर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणं विना॥'' (भट्टिकाव्यम्, 22.33) भट्टि ने सिद्ध किया है कि व्याकरण के संस्कारों से युक्त वाणी ही वास्तविक अर्थों में प्रभावशाली होती है। अतः यह महाकाव्य पाणिनीय अष्टाध्यायी का साक्षात् और सजीव विग्रह है, जो आज अपि जिज्ञासुओं हेतु प्रकाश-स्तम्भ के समान मार्गदर्शक बना हुआ है ।

एम. ए (संस्कृत)
एमिटी इंस्टीट्युट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूचि-

- ⋆ पाणिनी, अष्टाध्यायी, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2026
- ⋆ पतञ्जलि, पातञ्जल-महाभाष्यम् (पश्पशाह्निकम्), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2026
- ⋆ भट्टि, भट्टिकाव्यम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2026
- ⋆ भर्तृहरि, वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2026
- ⋆ भामह, काव्यालङ्कारः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2026
- ⋆ दण्डी, काव्यादर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2026
- ⋆ आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2026
- ⋆ पाणिनी, पाणिनीय शिक्षा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2026
- ⋆ भट्टोजिदीक्षित, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2026
- ⋆ विष्णु शर्मा, पञ्चतन्त्र, Rajpal and Sons, दिल्ली, 2026

शोध-पत्र

डॉ. स्वपन-मालः

आर्यशूरकृतजातकमालायाः निर्वाचितजातकत्रयेषु मैत्रीकरुणयोर्माहात्म्यविचारः

Abstract

बौद्धसाहित्यान्तर्गतस्य एकोऽपूर्वो ग्रन्थो विद्यते जातकमाला। तस्य ग्रन्थस्य ग्रन्थकारोऽस्ति आचार्य-आर्यशूरः। तत्र जातकमालायां 34संख्यकाः जातककथाः प्रतिफलिताः। प्रभुबुद्धदेवः पूर्वस्मिन् जन्मनि बहुवारं जन्म अलभत्। पूर्वपूर्वजन्मनि बोधिसत्त्वावस्थायां भगवान् बुद्धः यत् यत् विषयमनुभूतवान् तत्सर्वं विविधेषु जातकेष्वनुश्रूयते। अस्यां जातकमालायां यदुपलभ्यते तन्महौषधिवत् मानवानां कृते परमप्रयोजनमस्ति। अनुभव-चिन्तनानामन्तिमस्थानमतिक्रम्य भगवान् बुद्धः विचारकस्वरूपं चिन्तकस्वरूपं वा भूत्वा यदमृतवचनं कथितवान् तदवश्यमेव परमौषधमिव मन्यते। अस्मात् कारणात् जातकमाला अतीव महत्वपूर्णेति। मनः-शरीर-संसार-दुःख-आत्मावलम्बन-पुरुषार्थ-लोभ-ईर्षा-द्वेष-शीलादिविषयेषु तत्कालीनसमाजे कीदृशी अवस्था आसीत्? समाजे कीदृशी विधिव्यवस्था आसीत्? तस्मिन् समये समाजे कथोपकथनशैली कथमासीत्? वाद-विवादावस्थायां तर्कस्योपयोगः कथमासीत्? तदा मनुष्याणां मध्ये व्यसनं कथं प्रचलितमासीत्? राजनीतेः कुटिलता कथमासीत्? आतिथ्यस्य स्वरूपं किम्? मानवसमाजे दान-विनय-पुण्यकर्म-शील-मैत्री-करुणा-परोपकाराणां गुरुत्वञ्च कीदृशमासीदित्येतादृशानां सर्वेषां प्रश्नानां सम्यगुत्तराणि प्राप्यन्ते जातकमालायाम्। एताः कथाः बोधिसत्त्वस्य महाकरुणातः उद्रिक्ताः। मानवहृदयाणां नैतिकतायाः सर्वोत्कृष्टं वस्तु भवति करुणा। तत्र बोधिसत्त्वोक्तजातककथासु करुणा एव मूलीभूता अस्ति। एताः कथाः अवदानमिति नाम्नाऽपि प्रसिद्धाः। यतोहि बोधिसत्त्वस्य उदारचरित्रस्य परिचायिका भवन्ति एताः कथाः। सर्वासां कथानां समारम्भे जातकस्य उद्देश्यविषये कथितमस्ति- तद्यथानुश्रूयते अर्थात् एताः कथाः भवन्ति अनुश्रूतयः। सर्वेषां प्राणिनां मोक्षार्थं सरलतया सुखबोधात्मकेन विविधाः कथाः कथिताः सन्तिः। बोद्धसम्प्रदायस्य मूलसिद्धान्तो वर्तते प्रज्ञा-करुणयोर्माहात्म्यम्, संसारस्य अनित्यत्वम्, क्षणिकत्ववादः, प्रतीत्यसमुत्पाद-वादश्चादयः। एतेषां सिद्धान्तानामनुसारं बौद्धा स्वीकुर्वन्ति यत् भवचक्रमाध्यमेन जीवाः पुनःपुनः कृतकर्मानुसारं मनुष्यतः मनुष्येतरः उतो मनुष्येतरतः मनुष्यरूपेण शरीराणि धारयन्ति। किन्तु यदि जीवाः प्रज्ञा-करुणा-मैत्री-प्रेम-दानादिमाध्यमेन स्वीयकार्यं करिष्यन्ति तदा तेषां बुद्धत्वप्राप्तिर्भविष्यन्तीति जातकस्य मूलकथितविषयो वर्तते। आलोच्यमानस्यास्य ग्रन्थस्यापि मूलविषयो वर्तते प्रेम-मैत्री-करुणा-दान-श्रद्धादिः। दुःखात्मकं कामिनीकाञ्चनादिविशिष्टं भोग्यविषयं परित्यज्य ज्ञान-करुणादिविषयेषु चित्तं स्थिरीकरणमावश्यकमिति जातकमालायाः उपदेशो वर्तते। अयमुपदेशो समाजस्य जीवानां कृते अव्यर्थो भवति, यतोहि अनया कथया भगवतो बुद्धस्य स्मरणं भवति तथा च प्रेम-मैत्री-करुणा-श्रद्धा-दानादीनामुद्-बोधनं भवति। इति हेतौ आर्यशूरकृतायाः जातकमालायाः जातकत्रयमवलम्ब्य मैत्री-करुणयोः माहात्म्यमालोचितमस्मिन् शोधप्रबन्धे।

कूटशब्दाः

जातकम्, आर्यशूरः, मैत्री, करुणा।

भूमिका

जातकमालायां प्रतिफलितेषु जातकेषु लोककल्याणाय परोपकाराय सर्वजनानां शिक्षार्थञ्च बहवः उपदेशाः सन्ति। पूर्वपूर्वजन्मनि बोधिसत्त्वावस्थायां भगवान् बुद्धः यत् यत्

विषयमनुभूतवान् तत्सर्वं विविधेषु जातकेष्वनुश्रूयते। अस्यां जातकमालायां यदुपलभ्यते तन्महौषधिवत् मानवानां कृते परमप्रयोजनमस्ति। अनुभव-चिन्तनानामन्तिमस्थानमतिक्रम्य भगवान् बुद्धः विचारकस्वरूपं चिन्तकस्वरूपं वा भूत्वा यदमृतवचनं कथितवान् तदवश्यमेव परमौषधमिव मन्यते। अस्मात् कारणात् जातकमाला अतीव महत्वपूर्णेति। मनः-शरीर-संसार-दुःख-आत्मावलम्बन-पुरुषार्थ-लोभ-ईर्षा-द्वेष-शीलादिविषयेषु तत्कालीनसमाजे कीदृशी अवस्था आसीत्? समाजे कीदृशी विधिव्यवस्था आसीत्? तस्मिन् समये समाजे कथोपकथनशैली कथमासीत्? वाद-विवादावस्थायां तर्कस्योपयोगः कथमासीत्? तदा मनुष्याणां मध्ये व्यसनं कथं प्रचलितमासीत्? राजनीतेः कुटिलता कथमासीत्? आतिथ्यस्य स्वरूपं किम्? मानवसमाजे दान-विनय-पुण्यकर्म-शील-मैत्री-करुणा-परोपकाराणां गुरुत्वञ्च कीदृशमासीदित्येतादृशानां सर्वेषां प्रश्नानां सम्यगुत्तराणि प्राप्यन्ते जातकमालायाम्।

प्राचीनकालादेव भारतीयसंस्कृतौ सभ्यतायां साहित्ये च भारतवर्षस्य यद् शाश्वत-सनातन-ऐतिह्यं निहितमस्ति तत्तु संस्कृतसाहित्याश्रितमेव। वैदिककाले वेदोत्तरकाले च आध्यात्मिकतत्त्वानां दार्शनिकतत्त्वानां मानविकतत्त्वानां सम्यक् प्रतिफलनं परिलक्ष्यते। तत्र कालक्रमेण देववादस्योत्पत्तिः विकाशश्चापि दरीदृश्यते। तथा भगवतो विष्णोः दशावतारस्य भावनापि भारतीयसाहित्ये विशेषतः कविजयदेवकृतस्य गीतगोविन्दमिति गीतिकाव्ये दृश्यते। तत्र केशवस्य विष्णोः अवताररूपेण भगवतो बुद्धस्य उल्लेखो वर्तते। तत्र कथितमस्ति-केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।[1] बौद्धसाहित्याश्रितस्य जातकसाहित्ये अवदानसाहित्ये वा भगवतो बुद्धस्य श्रीमुखतः तस्य बुद्धस्य पूर्वजन्मनः 34 (चतुस्त्रिंशत्) संख्यकाः कथाः कथिताः। एताः कथाः बोधिसत्त्वस्य महाकरुणातः उद्रिक्ताः। मानवहृदयाणां नैतिकतायाः सर्वोत्कृष्टं वस्तु भवति करुणा। तत्र बोधिसत्त्वोक्तजातककथासु करुणा एव मूलीभूता अस्ति। एताः कथाः अवदानमिति नाम्नाऽपि प्रसिद्धाः। यतोहि बोधिसत्त्वस्य उदारचरित्रस्य परिचायिका भवन्ति एताः कथाः। सर्वासां कथानां समारम्भे जातकस्य उद्देश्यविषये कथितमस्ति-तद्यथानुश्रूयते अर्थात् एताः कथाः भवन्ति अनुश्रूतयः। सर्वेषां प्राणिनां मोक्षार्थं सरलतया सुखबोधात्मकेन विविधाः कथाः कथिताः सन्तिः।

बोद्धसम्प्रदायस्य मूलसिद्धान्तो वर्तते प्रज्ञा-करुणयोर्माहात्म्यम्, संसारस्य अनित्यत्वम्, क्षणिकत्ववादः, प्रतीत्यसमुत्पादवादश्चादयः। एतेषां सिद्धान्तानामनुसारं बौद्धा स्वीकुर्वन्ति यत् भवचक्रमाध्यमेन जीवाः पुनःपुनः कृतकर्मानुसारं मनुष्यतः मनुष्येतरः उतो मनुष्येतरतः मनुष्यरूपेण शरीराणि धारयन्ति। किन्तु यदि जीवाः प्रज्ञा-करुणा-मैत्री-प्रेम-दानादिमाध्यमेन स्वीयकार्यं करिष्यन्ति तदा तेषां बुद्धत्वप्राप्तिर्भविष्यन्तीति जातकस्य मूलकथितविषयो वर्तते।

जातककथायाः संग्रहः त्रिपिटकान्तर्गतस्य सुत्तपिटकस्य खुद्दकनिकाये अस्ति। आचार्यपाउमबोलमहोदयेन सम्पादिते संग्रहग्रन्थे 544संख्यकाः जातककथा वर्तन्ते। ईशवीयपूर्वाब्दे द्वितीयशतके रचिते चुल्लनिद्देशग्रन्थे 500संख्यकाः कथाः सन्निविष्टाः सन्ति। चैनिकपर्यटकः फा-हियेनमहोदयः ईशवीयपञ्चमशतके लङ्कादेशे 500संख्यकां जातककथां दृष्टवान्। गुप्तयुगीयबौद्धग्रन्थे 34संख्यकायाः जातककथायाः उल्लेखः अस्ति। महावस्तु इति ग्रन्थे 80संख्यकायाः जातककथायाः उल्लेखो प्राप्यते। बौद्ध-थेरवादपरम्परानुसारं जातकसंख्या 550भवति। परन्तु चुल्लनिद्देशग्रन्थे पञ्चजातकशतानि इति पदानुसारं तथा बौद्धमतानुसारं जातकसंख्या 547 भवति। आचार्य-आर्यशूरो भगवतो बुद्धस्य पूर्वजन्मनः वृत्तान्तमाधारीकृत्य संस्कृतभाषायां जातकमाला इति संग्रहग्रन्थं सम्पादितवान्। मूलपालिभाषाश्रितग्रन्थानुसारं चतुस्त्रिंशत्संख्यकाः कथाः आर्यशूरकृतेऽस्मिन् ग्रन्थे सन्निविष्टाः सन्ति। परन्तु मूलजातकसाहित्यमपि स्वीयप्रयोजनवशात् किञ्चित् परिवर्तनं कृतवान् अयं महोदयः आर्यशूरः। आर्यशूरमहोदयकृतेऽस्मिन् ग्रन्थे यानि जातकानि सन्निविष्टानि सन्ति तानि भवन्ति-व्याघ्रीजातकम्, शिबिजातकम्, कुल्माषपिण्डीजातकम्, श्रेष्ठिजातकम्, अविषह्य-श्रेष्ठिजातकम्, शशजातकम्, अगस्त्यजातकम्, मैत्रीबल-जातकम्, विश्वन्तरजातकम्, यज्ञजातकम्, शक्रजातकम्, ब्राह्मणजातकम्, उन्मादयन्तीजातकम्, सुपारगजातकम्, मत्स्यजातकम्, वर्त्तकापोतकजातकम्, कुम्भजातकम्, अपुत्रजातकम्, बिसजातकम्, श्रेष्ठिजातकम्, चुडुबोधिजातकम्, हंसजातकम्, महाबोधिजातकम्, महाकपिजातकम्, शरभजातकम्, रुरुजातकम्, महाकपिजातकम्, क्षान्तिजातकम्, ब्रह्मजातकम्, हस्तिजातकम्, सुतसोमजातकम्, अयोगृहजातकम्, महिषजातकम्, शतपत्रजातकम्।

बोद्धधर्मं दर्शनञ्चाश्रित्य आर्यशूरमहोदयकृतः संस्कृत-भाषायां जातकमाला इति ग्रन्थः अतीव प्रसिद्धरूपेण वर्तते। अस्य ग्रन्थस्यापि मूलविषयो वर्तते प्रेम-मैत्री-करुणा-

दान-श्रद्धादि:। दु:खात्मकं कामिनीकाञ्चनादिविशिष्टं भोग्यविषयं परित्यज्य ज्ञान-करुणादिविषयेषु चित्तं स्थिरीकरणमावश्यकमिति जातकमालाया: उपदेशो वर्तते। अयमुपदेशो समाजस्य जीवानां कृते अव्यर्थो भवति, यतोहि अनया कथया भगवतो बुद्धस्य स्मरणं भवति तथा च प्रेम-मैत्री-करुणा-श्रद्धा-दानादीनामुद्बोधनं भवति।

आर्यशूरकृतजातकमालायां गद्यपद्यविशिष्टं रचनासमृद्धं जातकं वर्तते। प्रसिद्धकवे: विष्णुशर्मण: पञ्चतन्त्रमितिग्रन्था-नुसारमार्यशूरकविना लिखिता इयं जातकमाला। यथा पञ्चतन्त्रे रचनाशैली विषयशैली नैतिकमूल्यबोधात्मकं तन्त्रं वर्तते तथा अत्र जातकमालायामपि दृश्यते। अस्यां जातकमालायां मुख्यचरित्राणि भवन्ति देवता, यक्ष:, प्रेत:, हस्ती, मृग:, वानर:, व्याघ्र:, सिंह:, महिष:, हंस:, मत्स्य: इत्यादि:। सर्वेषां प्राणिनां कृते हिंसा कदापि न करणीया, दया-करुणा-मैत्री-प्रेम-दानादिभावमवलम्ब्य सर्वजीवं प्रति समत्वदर्शनं प्रदर्शनीयमिति अस्यां जातकमालायां कथितोऽभ्युपदेश:।

जन्-धातुना सह निष्ठार्थे क्तप्रत्ययययोगेन तदुत्तरं स्वार्थे कप्रत्ययसंयोगेन जातकशब्दस्य निष्पन्नं भवति। अर्थात् जातकस्य अर्थो भवति अतीतजन्मन: कथा। बहुजन्म यावत् यदा जीवा: शुभकर्माणि कुर्वन्ति तदा तेषां मुक्तिर्भवति। भगवतो बुद्धस्यापि बहुवारं जन्म अभवत्। यस्मिन् जन्मनि तस्य आचरणे सद्गुणानां विकाश:, सत्कर्मणां सम्यगभ्यासोऽभवत् तदा तस्य बोधिलाभोऽभवत् अर्थात् स: बोधिसत्त्व: इति नाम्ना परिचितोऽभवत्। न एकस्मिन् जन्मनि एतादृशं सम्भवति, बहुजन्मन: सत्कर्मणोऽभ्यासस्य फलमिदम्। बोधिशब्दस्यार्थो भवति बुद्धत्वम्, सत्त्वशब्दस्यार्थो भवति प्राणी। यद्यपि सत्त्वशब्दस्यार्थनिर्णयप्रसङ्गे मतवैपरीत्यमस्ति। मोनिर्या-विलियामस-महोदयस्य मतानुसारं सत्त्वशब्दस्यार्थो भवति बुद्धि:, चरित्रम्, ज्ञानम्, प्रकृति:। अपरोऽर्थो भवति-प्राणी, सजीवपदार्थ:। समाधिराजसूत्रकारेणोक्तं यद् बोधयति सत्त्वान् इति बोधिसत्त्व:। पि.घोषमहोदयेनोच्यते यत् बोधि: स चासौ महाकृपाशयेन सत्त्वालम्बनात् सत्त्वश्चेति। अन्ये प्रवदन्ति यत् आत्मा, मन:, इन्द्रियम्, चेतनेति सत्त्वशब्दस्यार्थ:। प्रज्ञाकरमतिमहोदयेनोक्तं यत् तत्र बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्व:। अपरार्थ: भवति यत् गर्भ:, अज्ञातम्, अव्यक्तम्।[2] इयं बोधिसत्त्वावस्था प्राणिनां कृते मोक्षदायिका भवति। जातकमालाया: अपरं नाम भवति बोधिसत्त्वावदानमाला। अवदानशब्दस्यार्थ: सुकर्म शुभकर्म वा। अतो बोधिसत्त्वस्यार्थो भवति भगवतो बुद्धस्य पूर्वजन्मन: अवदानकथा तथा सुकर्मणां कथामाला।

भगवान् बुद्ध: सर्वज्ञ: जातिस्मरश्चासीत्। हंसजातके कथ्यते यते, पूर्वजन्मनि स: बोधिसत्त्व: एकवारं मानससरोवरे हंसकुले धृतराष्ट्र इति नामधेयो जात:। तस्य सेनापते: नाम आसीत् सुमुख:। स: सुमुख: शास्त्रज्ञानी, कष्टसहिष्णु:, सर्वास्ववस्थासु पवित्र:, स्वामिभक्तश्चासीत्। अनेन सेनापतिना हंसराज: सर्वं हंसकुलं कल्याणदायककर्मणि प्रेरितवान्। यथा-

तावासतुर्हंसगणस्य तस्य श्रेय:शरीरोद्वहनैककार्यौ।
नभोगतस्येव विहङ्गमस्य पक्षौ शरीरोद्वहनैककार्यौ॥[3]
कलनूपुरनादेन हंसयूथेन तेन तत्।
पुण्डरीकवनेनैव रेजे सञ्चारिणा सर:॥[4]

देव-नाग-यक्षविद्याधरतपस्विन: तद्दृष्ट्वा परमविष्मया-विष्टा: अभवन्। तस्मिन् समये वाराणस्यां ब्रह्मदत्त इति राजा आसीत्। तस्य राजसभायां स: यदा वारं वारं हंसाधिपते: कथां श्रुतवान्, तदा स: तं हंसयूथं द्रष्टुमैच्छत्। स: अमात्यान् अकथयत् यत् भवन्त: तादृशमुपायान्वेषणं कुर्वन्तु येनाहं तं हंसयूथं द्रष्टुं शक्नोमि। तच्छ्रुत्वा नीतिवादिन: मन्त्रिण: कथितवन्त:

सुखाशा देवभूतानि विकर्षति ततस्तत:।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यत:॥[5]

अर्थात् अत: एकं सुन्दरं सरोवरं निर्मातु। तत्र घोषयतु यत्, सर्वे पक्षिण: निर्भयेण तत्रागम्य स्थातुं शक्नुवन्ति। इति श्रुत्वा स: हंसराज: स्वयमेव आगमिष्यति। अनेन परामर्शानुसारेण स: तत्र मानससरोवरात् एकमपरूपं सुन्दरं सरोवरं निर्मितवान् घोषितवाञ्च यत् तत्र सर्वे पक्षिण: निर्भयेण स्थातुं शक्नुवन्ति। एवं श्रुत्वा मानससरोवरस्था: सर्वे पक्षिण: तस्मिन् सरोवरे गन्तुमुद्यता: अभवन्। एतद्दृष्ट्वा बोधिसत्त्व: सेनापतिं सुमुखम् अपृच्छत् अवसरेऽस्मिन् भवत: क: विचार:। उत्तरे सुमुखोऽवदत् न प्राप्तं तत्र देवस्य गमनमिति पश्यामि। कुत:, आमूनि तावल्लोभनीयानि मनोहराण्यामिषभूतानि रूपाणि। न च न: किञ्चिदिह परिहीयते। कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्ण-दौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवघृतानि शठानि मानुषहृदयानि। पश्यतु स्वामी,

वाशितार्थसहृदया: प्रायेण मृगपक्षिण:।
मनुष्या: पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणा:॥[6]

यदि त्ववश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, गत्वानुभूय च तस्य सरसो गुणविभूतिरसं न नस्तत्र चिरं विचरितुं क्षमं निवासाय वा चित्तमभिनामयितुमिति पश्यामि। सुमुखस्य एतद्वचनमाकर्ण्यापि

सः हंसराजः बोधिसत्त्वः शरदः तस्य सरोवरस्य शोभादर्शनार्थं तत्र गतवान्। यद्यपि सः हंसराजः सरोवरं दृष्ट्वा विष्मया-विष्टोऽभवन् तथापि तस्य मनः अपरहंसेभ्यः किञ्चि-दि्भन्नमासीत्। तथापि सर्वैः सह तत्रैव तिष्ठति स्म। क्रमेण पूर्वतनं मानससरोवरं सः विस्मृतवान्। राजकर्मचारिणः तस्मिन् समये राजानं निवेदितवन्तः यत्, भवान् यद् हंसं द्रष्टुमिच्छति स्म, सः हंसः अस्माकं सरोवरे आगतः। एतच्छ्रुत्वा सः राजा एकं व्याधं नियुक्तवान् तं हंसं बन्धनार्थम्। व्याधोऽपि सयत्नेन सुनिपुणाभ्यासेन तस्मिन् सरोवरे पाशं सज्जितवान्। अनन्तरं सानन्देन विचरणकाले सः हंसराजः तस्मिन् पाशे निबद्धोऽभवत्। तदवस्थायां सः हंसराजः बोधिसत्त्वः अन्यान् हंसान् सतर्कीकरणार्थं विशेषरूपेण शब्दायते स्म। तच्छ्रुत्वा अन्ये सर्वे हंसाः तस्मात् स्थानात् पलायन्ते स्म। किन्तु बोधिसत्त्वस्य सेनापतिः परममित्रं सुमुखः तस्मात् स्थानात् न पलायते स्म। एवं दृष्ट्वा बोधिसत्त्वः सुमुखं कथयति स्म

गच्छ गच्छैव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम्।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थङ्गते मयि॥[7]

सुमुखः उक्तवान्

नैष धर्मो महाराज त्यजेयं त्वं यदापदि।
या गतिस्तव सा मह्यं रोचते विहगाधिप॥[8]

बोधिसत्त्वः कथितवान् यत्, पाशबद्धस्य विहगस्य गतिर्भवति महानसे। किन्तु भवांस्तु पाशमुक्तः स्वस्थचित्तश्च। अतः भवान् किमर्थं स्वस्य लाभं न पश्यति। सुमुखः उक्तवान्

सोऽहं धर्मं च संपश्यन् धर्माच्चार्थं समुत्थितम्।
तव मानद भक्त्या च नाभिकाङ्क्षामि जीवितम्॥[9]

अर्थात् भवन्तं प्रति भक्तिभाववशादहं केवलं भवतः जीवनं मुक्तरूपेण द्रष्टुमिच्छामि। बोधिसत्त्वः कथितवान्- मां प्रति भक्तिवशात् भवान् स्वयमेव विपदि पतिष्यति। अतः एतद् स्थानं परित्यज्य अन्यत्र गच्छतु।

एतत् सर्वं कथोपकथनं सः व्याधः दूरतः श्रुत्वा अवगतवान् यत्, जीवन-मरणे अत्र एकत्र समागते। सः आश्चर्या-न्वितोऽभवत्। सः व्याधः सुमुखस्य पार्श्वं गत्वा अवदत् मां प्रति भयवशात् सर्वे पक्षिणः हंसाः अस्मात् सरोवरात् पलायन्ते स्म। किन्तु किमर्थं भवान् अस्मात् स्थानात् न गतवान्। तदा सुमुखः कथितवान् यत्—

राजा मम प्राणसमः सखा च सुखस्य दाता विषमस्थितश्च।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम्॥[10]

मम राजानमहं त्यक्तुं न शक्नोमि। मां स्थापयित्वा एनं राजानं विमोचयत्विति। व्याधः एतच्छ्रुत्वा विष्मयाविष्टोऽभवन्। सः उक्तवान् यत्, भवान् यत्र तत्रापि गन्तुं शक्नोति। मित्रैः सह अन्यत्र जीवतु।

मानुषेष्वप्ययं धर्म आश्चर्यो दैवतेषु च।
स्वाम्यर्थं त्यजता प्राणान् यस्त्वयात्र प्रदर्शितः॥[11]

एवमुक्त्वा सः व्याधः बोधिसत्त्वं मोचितवान्। सुमुखोऽपि व्याधं कथितवान् यत् हंसराजेन सह सुमुखमपि राज्ञः समीपे नयतु। तद्दृष्ट्वा राजा सानन्देन व्याधं बहु धनं दास्यति। व्याधेन तथा कृते सति सः राजा बहुना आनन्दितोऽभवत्। पाशमुक्तं विशेषहंसद्वयं दृष्ट्वा सः राजा तद्वृत्तान्तं श्रोतुमैच्छत्। व्याधः सर्वमुक्तवान्। राजा आनन्देन तस्मै व्याधाय बहुधनं दत्तवान्। बोधिसत्त्वोऽपि राजानं मित्रत्वसम्बन्धेन सर्वं दातुमैच्छत्। बोतिधसत्तस्य वचनामृतैः सः राजा मैत्रीभावस्य ज्ञानं प्राप्तवान्, जीवने प्रजापालने च आचरितवान्। बोधिसत्त्वः सुमुखश्च तस्मात् स्थानात् सानन्देन उड्डीय अन्यत्र गतवन्तौ।

तदर्थमुच्यते—

कालेन चोपेत्य नृपं स हंसः परानुकम्पा व्यसनी सहंसः।
जगाद धर्मं क्षितिपेन तेन प्रत्यर्च्यमानो विनयानतेन॥[12]

तदेवं विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः प्रागेव सुगतिस्थानामिति। एवं कल्याणी वागुभयहितावहा भवतीति कल्याणवचनप्रशंसायामप्यपपनेयम्। कल्याणमित्रवर्णेऽपि वाच्यम्, एवं कल्याणमित्रवतां कृच्छ्रेऽप्यर्थाः संसिध्यन्तीति। स्थविराय निन्दपूर्वसभागप्रदर्शने च, एवमयं स्थविरः सहचरितचरणो बोधिसत्त्वेन चिरकालाभ्यस्तप्रेमबहुमानो भवतीति। एवंप्रकारेण हंसजातके बौद्धसंस्कृतिस्थितमैत्रीभावना प्रतिफलितास्ति।

बोधिसत्त्वोक्तापरजातकद्वये बौद्धसंस्कृतिस्थितकरुणायाः महत्वं दृश्यते। तज्जातकद्वयं भवति शक्रजातकम्, हस्तिजातकञ्चेति। महामानवाः सर्वदा व्यक्ति-जातिनिर्विशेषेषु सर्वत्र दरिद्रशोकपीडितान् प्रति अनुकम्पां करुणां वा प्रदर्शयन्ति। एकवारं बौधिसत्त्वः परोपकारार्थं देवराजेन्द्ररूपेण जातवान्। तदा तस्य पत्नी लक्ष्मी अतीव तेजस्विनी अभवत्। तस्मिन् समये स्वर्गमर्त्ययोः सम्यक् पालनात् सर्वत्र परमां कीर्तिमलभत् देवराजः इन्द्रः तथा बौधिसत्त्वः। एतद्दृष्ट्वा असुराः बोधिसत्त्वस्य देवेन्द्रस्य यशसं परमालक्ष्मीञ्च सोढुं न शक्तवन्तः। तदा ते असुराः सैनिकान् बौधिसत्त्वं निकषा प्रेषितवन्तः घोरसंग्रामञ्च कृतवन्तः। यद्यपि बोधिसत्त्वः धर्मात्मा आसीत् तथापि तं बोधिसत्त्वं ते असुराः युद्धे आकर्षितवन्तः। तत्र शक्रजातके

कथितमस्ति–

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेपः
क्रीडाविघातविरसं च भयं जनस्य।
तेजस्विता नयपथोपनतः क्रमश्च
युद्धोद्धवाभिमुखतां हृदयस्य चक्रुः॥[13]

एवमवस्थायां बोधिसत्त्वः चतुरङ्गसैनिकान् नीत्वा समुद्रतटे असुरैः सह युद्धेऽवतीर्णोऽभवत्। भीषणयुद्धे इन्द्रसैन्यदैत्य-सैन्ययोर्मध्ये बहवः सैनिकाः म्रियन्ते स्म। असुरसैनिकानामसीमबलैः देवसैनिकाः भीताः अभवन्। राक्षसानामस्त्रभयात् शक्तिभयाच्च देवसैनिकाः पलायन्ते स्म। तदा एकाकी बोधिसत्त्वः तथा देवेन्द्रः निर्भयेण महासंग्रामेऽ-वतीर्णोऽभवत्। जातकमालायामस्ति–

अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषां सुरेन्द्र एकः समरे व्यतिष्ठत॥[14]

देवेन्द्रं दृष्ट्वा तदा राक्षससैनिकाः सानन्देन तस्य समीपे समवेते सति देवेन्द्रस्य सारथिः देवेन्द्रं कथितवान् यत् भवान् इतः अन्यत्र गच्छतु, न चेत् महाविपद् आगमिष्यति। इत्युक्त्वा सः सारथिः रथं प्रत्यावर्त्य स्वर्गं गच्छतीत्यस्मिन् समये इन्द्रः सम्मुखे एकं विशालं शाल्मलीवृक्षं दृष्टवान्। तस्मिन् वृक्षे सः गडुरपक्षिनीडान्यपश्यत्। सः चिन्तितवान् यत्, रथवेगात् तानि नीडानि क्षतिग्रस्तानि भविष्यतीति विचिन्त्य दयार्द्रचित्तेन परमकरुणया च सः बोधिसत्त्वः सारथिं मातलिं कथितवान्–

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालयाः शाल्मलिपादपाश्रयाः।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा॥[15]

सारथिः तद्वचनमाकर्ण्य उक्तवान्–

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः॥[16]

अस्य सारार्थो भवति यद्यपि पक्षिणां मङ्गलं भविष्यति तथापि शत्रुसैनिकानां पराक्रमेण अस्माकं का अवस्था भविष्यति। एतच्छ्रुत्वा देवराजेन्द्रः दयार्द्रचित्तेन कथितवान् यत्, पक्षिणामङ्गलात् स्वीयमरणमपि सुखकरम्। तथेत्युक्त्वा मातलिः रथं निवर्तयामास। पुनः युद्धक्षेत्रे देवेन्द्रमागन्तुं दृष्ट्वा राक्षससैनिकाः भयात् पलायन्ते स्म। एवं दृष्ट्वा देवसैनिकाः लज्जया पुनरागतवन्तः। सर्वैः कथ्यते यत्, अधमाः क्रुरत्ववशात् निरीहप्राणिनः घ्नन्ति, मध्यमाः विपत्काले अन्यायकार्ये संलग्नाः भवन्ति। किन्तु उत्तमाः प्राणसङ्कटसत्त्वेऽपि सदाचारं कदापि न परित्यजन्ति। शास्त्रे कथितमस्ति–

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः॥[17]

अनेन प्रकारेण बहुनि दिनानि यावत् बोधिसत्त्वः तथा देवराजेन्द्रः प्राणिनः प्रति करुणां प्रदर्शितवान्।

एकवारं बोधिसत्त्वः स्वस्य दुःखं सुखमिव विचिन्त्य एकस्मिन् अरण्ये विशालकायहस्तीव जायते स्म। तस्मिन् अरण्ये सः सुखेन जीवति स्म।

स तत्र तरुपर्णेन बिसेन सलिलेन च।
अभिरेमे तपस्वीव सन्तोषेण शमेन च॥[18]

तस्मिन् महारण्ये विचरणकाले सः एकदा मनुष्याणां कण्ठस्वरं श्रुतवान्। श्रुत्वा सः विचिन्तितवान् यत्, किं नु खल्विदम्। न तावदनेन प्रदेशेन कश्चिद्देशान्तरगामी मार्गोऽस्ति। एवं महत्कान्तारं च व्यतीत्य मृगयापि न युज्यते प्रागेव महासमारम्भपरिखेदमस्मत्सयूथ्यग्रहणम्। अथवा राज्ञः क्रोधवशात् ते मानवाः भयादत्र आगताः। यतोहि तेषां कण्ठस्वरः दुःखपूर्णोऽपि मन्यते। अतः हस्तिराजः तेषां स्पष्टविवरणग्रहणार्थं तेषां समीपे गतवान्। तं हस्तिनं दृष्ट्वापि ते दुःखदुर्दशापीडिताः सप्तशताधिकामानवाः भयात् न पलायन्ते स्म। यतोहि सुदीर्घदुःखमयात् जीवनात् शीघ्रमरणं सुखकरमिति। भयहीनान् दुःखपीडितान् लोकान् सः हस्तिराजः बोधिसत्त्वः पृष्टवान् केऽत्र भवन्तः। केन चेमां दशामनुप्राप्ताः स्थ।

रजःसूर्यांशुसम्पर्काद्विवर्णाकृतयः कृशाः।
शोकक्लमार्ताः के यूयमिह चाभिगताः कुतः॥[19]

तदा ते मानवाः प्रत्युत्तरं तस्मै हस्तिने प्रदत्तवन्तः यत्, हे गजेन्द्र, शोकविह्वलानि मित्राणि दर्शनात् तद्देशस्थः राजा क्रोधात् अस्मान् प्रतारितवान्। किन्तु इदानीमस्माकं सौभाग्यं विनष्टे सति भवद्वत् लक्ष्मी सम्मुखे समुपस्थिता। मानवमुखात् सः हस्ती सर्वं वृत्तान्तं श्रुतवान् तस्य निर्दयस्य राज्ञो विषये कथितवाञ्च–

देहैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिनः।
इदं सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम्॥[20]

सः हस्तिरूपः बोधिसत्त्वः तान् कथितवान् यते, कान्तारस्य पार्श्वे एको जलह्रदो विद्यते। तस्मात् ते जलं पातुं शक्नुवन्ति। तदनन्तरं तत्र ते मांसं प्राप्स्यन्तीति। इत्युक्त्वा क्षुधार्तान् प्रति करुणावशात् सः हस्तिराजः पर्वतात् स्वदेहमनित्यं व्यधिमन्दिरञ्च विज्ञाय पतितवान्। तद्दृष्ट्वा स्वर्गस्थितदेवाः विष्मयान्विताः अभवन्, तं हस्तिनं नमस्कृतवन्तश्च। हस्तिकथितमार्गानुसारेण

गमनकाले ते पीडिताः मानवाः तं मृतहस्तिनं दृष्टवन्तः, तं दृष्ट्वा विचिन्तितवन्तश्च—

अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि।
सृहृत्तमस्मासु बतमेदमीदृशं सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम्॥[21]

अर्थात् अपरिचितान् प्रति यस्य एतादृशी करुणा, तस्य परिचितान् प्रति कीदृशी करुणा भवितुमर्हतीति विचिन्त्य ते विष्मयाविष्टाः अभवन्। एवंप्रकारेण अनेन जातकेन सर्वान् प्रति बोधिसत्त्वस्य करुणा प्रदर्शिता भवति।

जातकमालायां प्रतिफलितेषु जातकेषु लोककल्याणाय परोपकाराय सर्वजनानां शिक्षार्थञ्च बहवः उपदेशाः सन्ति। पूर्वपूर्वजन्मनि बोधिसत्त्वावस्थायां भगवान् बुद्धः यत् यत् विषयमनुभूतवान् तत्सर्वं विविधेषु जातकेष्वनुश्रूयते। अस्यां जातकमालायां यदुपलभ्यते तन्महौषधिवत् मानवानां कृते परमप्रयोजनमस्ति। अनुभव-चिन्तनानामन्तिमस्थानमतिक्रम्य भगवान् बुद्धः विचारकस्वरूपं चिन्तकस्वरूपं वा भूत्वा यदमृतवचनं कथितवान् तदवश्यमेव परमौषधमिव मन्यते। अस्मात् कारणात् जातकमाला अतीव महत्वपूर्णेति। मनः-शरीर-संसार-दुःख-आत्मावलम्बन-पुरुषार्थ-लोभ-ईर्षा-द्वेष-शीला-दिविषयेषु तत्कालीने समाजे कीदृशी अवस्था आसीत्? समाजे कीदृशी विधिव्यवस्था आसीत्? तस्मिन् समये समाजे कथोपकथनशैली कथमासीत्? वाद-विवादावस्थायां तर्कस्योपयोगः कथमासीत्? तदा मनुष्याणां मध्ये व्यसनं कथं प्रचलितमासीत्? राजनीतेः कुटिलता कथमासीत्? आतिथ्यस्य स्वरूपं किम्? मानवसमाजे दान-विनय-पुण्यकर्म-शील-मैत्री-करुणा-परोपकाराणां गुरुत्वञ्च कीदृशमासीदित्येतादृशानां सर्वेषां प्रश्नानां सम्यगुत्तराणि प्राप्यन्ते जातकमालायाम्। महापुरुषस्य मुखारविन्दात् कथ्यते इयं जातकमाला। अतः जातकोपदिष्टं वचनं सर्वेषां मङ्गलार्थमङ्गीकर्तव्य-माचरणीयञ्चेति।

सहायकाध्यापकः
संस्कृतविभागः
रायगञ्जविश्वविद्यालयः
Email id – swapanmalvb@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. जयदेव तगोविन्दम्-१/९
2. आर्यशूर ता जातकमाला, जगदीशचन्द्रमिश्रः (सम्पादकः), भूमिकांशः, पृष्ठा-5-6
3. हंसजातकम्-1
4. तत्रैव-2
5. तत्रैव-6
6. तत्रैव-19
7. तत्रैव-26
8. तत्रैव-29
9. तत्रैव-34
10. तत्रैव-44
11. तत्रैव-52
12. तत्रैव-100
13. शक्रजातकम्-3
14. तत्रैव-10
15. तत्रैव-11
16. तत्रैव-12
17. तत्रैव-18
18. हस्तिजातकम्-1
19. तत्रैव-5
20. तत्रैव-13
21. तत्रैव-37

सन्दर्भग्रन्थाः

मुख्यग्रन्थाः-

★ गीतगोविन्दकाव्यम् (जयदेवकृतम्), संस्करण 1899, मङ्गेशशर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बोम्बाइ
★ जातकमाला (आर्यशूरकृता), जगदीशचन्द्र मिश्र (सम्पादकः), संस्करण 2017, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
★ जातकमाला (आर्यशूरकृता), परशुराम वैद्य (सम्पादकः), संस्करण 1959, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, बिहार
★ जातकमाला (आर्यशूरकृता), सूर्यनारायण चौधरी (सम्पादकः), संस्करण 1971, मोतीलाल बनारसी दास, पटना
★ The Jatakamala of Aryasura, Hendrik Kern (Ed.), Edition 1943, Harvard University Press

गौणग्रन्थाः-

★ घोष, वारिदवरण, बुद्ध ओ बौद्ध, करुणा प्रकाशनी, कलिकाता, संस्करण 1942

- चतुर्वेदी, परशुराम, बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, साहित्य भवन, इलाहावाद, संस्करण 1958
- देव, नरेन्द्र, बौद्धधर्म दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण 1971
- धर्मरक्षित, भिक्षु, बुद्ध-धर्म के उपदेश, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, संस्करण 1951
- महास्थविर महाबोधिसभा, बुद्ध-वचनामृत, सारनाथ, वाराणसी, संस्करण 1956
- वियोगी, मोहनलाल महतो, जातककालीन भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण 1958
- शास्त्री, चतुरसेन, बुद्ध और बौद्धधर्म, हिन्दी साहित्य मंडल, बाजार सीताराम, देहली, संस्करण 1947
- सांकृत्यायन, राहुल, बौद्ध संस्कृति, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकाता, संस्करण 1952
- Das De, Gokul, *Significance of Jatakas*, Calcutta University, Edition 1951
- Feer, M.L., *A Study of the Jatakas*, Sushil Gupta Pvt. Ltd., Calcutta, Edition 1963
- Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy(Vol.-I)*, George Allen & Unwin Ltd., London, Edition 1966
- Sinha, J.N., *History of Indian Philosophy (Vol.-I)*, Sinha Publishing House, Calcutta, Edition 1956

जैन दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

शिवानी

शोध-सारांश : भारतीय दर्शन की समृद्ध परंपरा में मोक्ष को मानव जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। यह केवल दार्शनिक अवधारणा ही नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक साधना का विषय भी है। जैन दर्शन और वेदान्त दर्शन, दोनों ही भारतीय चिंतन की महत्वपूर्ण धाराएँ हैं, जो मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का अंतिम उद्देश्य मानती हैं, किन्तु उनके दृष्टिकोण, साधन और तात्त्विक आधार भिन्न-भिन्न हैं।

जैन दर्शन में मोक्ष का अर्थ है आत्मा का कर्मबंधन से पूर्णत: मुक्त हो जाना, जबकि वेदान्त दर्शन में मोक्ष को अविद्या (अज्ञान) के नाश और आत्मा-ब्रह्म की एकता के साक्षात्कार के रूप में देखा जाता है। इस शोध-पत्र में दोनों दर्शनों में मोक्ष की अवधारणा, उसके कारण, स्वरूप तथा साधनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि दोनों दर्शनों के मार्ग भिन्न हैं, तथापि उनका अंतिम लक्ष्य मानव को दु:ख, बंधन और अज्ञान से मुक्त कर परम शांति प्रदान करना है।

कूट शब्द- जैन दर्शन, वेदान्त दर्शन, मोक्ष, कर्म, अविद्या, आत्मा, ब्रह्म, त्रिरत्न, ज्ञान।

प्रस्तावना- भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य मानव जीवन के दु:खों का निवारण और परम सत्य की प्राप्ति है। मानव जीवन जन्म, मरण और विभिन्न प्रकार के कष्टों से युक्त है। इन कष्टों से मुक्ति पाने की जिज्ञासा ही दर्शन के उद्भव का कारण बनी। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन मिलता है, जिसमें मोक्ष को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। धर्म, अर्थ और काम जीवन के लौकिक पक्ष से संबंधित हैं, जबकि मोक्ष जीवन के आध्यात्मिक उत्कर्ष का प्रतीक है। जैन और वेदान्त दर्शन, दोनों ही इस परम लक्ष्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी व्याख्या और साधन भिन्न हैं।

दर्शन क्या है ? दर्शन शब्द 'दृश्' (धातु) से कारणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'देखना'। 'दृश्यते अनने इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, उसे दर्शन कहते हैं। परन्तु किसी भी वस्तु को सामान्यत: देखने के अर्थ में यहाँ दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं होता वरन् दर्शन किसी भी वस्तु को पारलौकिक दृष्टिकोण से देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'दर्शन शास्त्र' का उद्भव आत्म साक्षात्कार के लिए हुआ है। विभिन्न ऋषियों-महर्षियों आचार्यों ने विभित्र मार्गों से आत्मा का साक्षात्कार किया और इस आत्मसाक्षात्कार से उन्हें जिस ज्ञान राशि को प्राप्ति हुयी, उसे उन्होंने समाज के कल्याणार्थ अपने शिष्यों में फैलाया। जिस ऋषि ने अपनी विचारधारा को जिस मार्ग से दर्शाया, वह मार्ग उसका दर्शन कहलाया। धीरे-धीर शिष्य परम्परा समृद्ध होने से इन छोटे पंथों ने विस्तृत सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार भारतीय विचारधारा में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय विकसित हुये जिन्हें मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- आस्तिक तथा नास्तिक:।

नास्तिवेदोदितो लोक: इति येषां मति: स्थिर:।
नास्तिककास्ते तयास्तीति, मतिर्येषान्त अस्तिका: ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंधन के कारण हैं। जब आत्मा इनसे मुक्त हो जाती है, तब कर्मो का क्षय होता है और मोक्ष प्राप्त होता है।

जैन दर्शन का परिचय एवं परिभाषाएं - भारत में बौद्ध दर्शन के विकास के साथ-साथ ही जैन दर्शन का भी विकास हुआ। ये दोनों दर्शन समकालीन रहे। जैन दर्शन भी नास्तिक दार्शनिक परम्परा से जुड़ा है। जैन मत के संस्थापकों के सन्दर्भ में तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा रही है। इनमें ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर ये तथा महावीर जैन 24वें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का श्रेय महावीर जैन को हो दिना जाता है। जैन शब्द 'जिन' से बना है। 'जिन' का अर्थ है-विजेता, अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण ही ये जिन कहलाये तथा इन जिनों द्वारा प्रसारित मत 'जैन' कहलाया।

महावीर जैन का बचपन का नाम 'वर्द्धमान' था। मीतिक भोग-विलासों को त्यागकर वर्द्धमान एक दिन सत्य ज्ञान की खोज में निकल पड़े। बारह वर्ष के कठिन प्रयास के उपरान्त उन्हें सत्य ज्ञान की प्राप्ति हुयी। ज्ञान प्राप्ति के बाद राग-द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के कारण ये महावीर कहलाये। तदुपरान्त इन्होंने लोक कल्याणार्थ आजीवन घूम-घूमकर अपने उपदेश दिये। (सम्यक् दृष्टि), सही ज्ञान (सम्यक् ज्ञान), और सही आचरण (सम्यक् चारित्र) — ये तीनों मोक्ष का मार्ग हैं। यही जैन दर्शन का मूल आधार है। जैन दर्शन एक ऐसा तत्व ज्ञान है जो आत्मा की शुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अहिंसा अनेकांतवाद अपरिग्रह और तप जैसे सिद्धांतों का पालन करने पर बल देता है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा को कम के बंधनों से मुक्त कराकर मोक्ष की प्राप्ति करना है।

जैन दर्शन दो मुख्य परंपराओं में विभाजित है-

1. दिगंबर परंपरा
2. श्वेतांबर परंपरा

जैन दर्शन में ज्ञान के दो भेद किए गए हैं।

अपरोक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान

''सर्वकर्मक्षय: मोक्ष:'' अर्थात् सभी कर्मों का पूर्ण नाश ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति प्राप्त करती है और सिद्धशिला में स्थित हो जाती है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जैन दर्शन में त्रिरत्न का मार्ग बताया गया है

- ⋆ सम्यक् दर्शन
- ⋆ सम्यक् ज्ञान
- ⋆ सम्यक् चरित्र

इनके अतिरिक्त तप, संयम, ध्यान और राग-द्वेष का त्याग भी आवश्यक है।

जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा आत्मा की पूर्ण शुद्धि और बंधनों से मुक्ति का प्रतीक है। यह केवल एक सिद्धांत नहीं है, बल्कि जात्मा की वास्तविक स्थिति को समझने और उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया है। जैन आचार्यों के अनुसार, आत्मा अनंत काल से कर्मों के बंधन में बंधी हुई है, और जब यह कर्म पूरी तरह नष्ट हो उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 10, सूत्र 2 माने जाते हैं, तभी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष को प्राप्त करती है।

मोक्ष का महत्त्व

जैन दर्शन में मोक्ष केवल एक व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है, बल्कि यह आत्मा की सबसे ऊँची और पवित्र अवस्था है। यह वह स्थिति है जहाँ आत्मा अनंत काल तक शुद्ध और शांत रहती है। इस स्थिति में आत्मा को न कोई नया जन्म लेना पड़ता है और न ही किसी कर्मफल का भोग करना पड़ता है। आचार्य कुदकुंद ने समयसार में कहा है : **''मोक्षः निजरीतः सर्वकर्मणः सिद्धिः।''**[2,3] (अर्थात्, 'जब आत्मा सभी कर्मों से मुक्त हो जाती है, तभी वह सिद्ध अवस्था में पहुंचती है।) इन तीनों का सम्यक् पालन करने से आत्मा क्रमों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करती है।

वेदान्त दर्शन में मोक्ष का स्वरूप - वेदान्त शब्द का अर्थ है वैदिक विचारधारा की पराकाष्ठा। वेदान्त प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य शंकर का प्रसिद्ध सिद्धान्त है अद्वैतवाद। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह शंकर वेदान्त भी अज्ञान या अविद्या को बन्धन और दु:ख का कारण स्वीकार करता है। पारमार्थिकदृष्ट्या जीव ब्रह्म से अभित्र है, अनादि अविद्या के कारण वह स्वयं को ब्रह्म से पृथक् समझता है। वेदान्त का प्रसिद्ध उद्घोष है **''ब्रहा सत्यं जगन्मिथ्या जीवो बद्धौव नाऽपरः''**[4] शंकर मत में जीव ब्राह्म से अतिरिक्त नहीं है, ब्रह्मात्मैक्य को समझाने के लिए आचार्य शंकर के अनुयायियों ने तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किए प्रतिविम्बवाद, अवच्छेदवाद, आगासवाद। प्रतिविम्बवाद के अनुसार ईश्वर विम्ब है और जीव उसका प्रतिबिम्ब। जैसे एक ही चन्द्रमा के अनेक प्रतिबिम्व भिन्न-भिन्न जतारापों में पड़ते हैं और जत्त की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप ही प्रतिबिम्ब भी त्वच्छ या मलिन दिखाई देता है। ठीक उसी तरह अविद्या के अनुरुप ब्रह्म का प्रतिविम्यस्वरूप जीव भी

भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। जिस प्रकार जल के हटने पर केवल चन्द्र अवशेष रहता है, वैसे ही अविद्या के दूर होने पर प्रतिबिम्ब रूप जीव की सत्ता नहीं रहती है। ब्रह्म ही मात्र अवशिष्ट रहता है। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि शुद्ध चैतन्य निराकार है, फलतः उसका प्रतिबिम्ब असम्भव है। इसका उत्तर है ब्रह्म माया से युक्त रूप में बिम्ब होता है, फलतः प्रतिबिम्ब संभव है। इसके बाद द्वितीय सिद्धान्त वाचस्पति मित्र का है। इस मत में घटाकाश की तरह ब्राय एवं जीव की अनन्यता को सिद्ध किया जाता है।

इस मत में जैसे आकाश सर्वव्यापी एवं एक है किन्तु घट, मठ आदि मेद से वह घटाकाश एवं मठाकाश आदि रूपों में भासित होता है। इसी प्रकार ब्रहा सर्वव्यापी एवं एक है, वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नाना जीवों के रूप में आमासित होता है। घट, मठ आदि परिधियों के हटने पर केवल आकाश मात्र अवशिष्ट रहता है, वैसे ही अविद्या एवं उसकी उपाधियों के हटने पर चैतन्यस्वरूप जीव ब्रहा से अभिन्न हो जाता है। सुरेश्वराचार्य आभाराबाद की स्थापना करते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म का अइच्छेद या अवच्छिन होना पैधार्थ ने होकर आभास मात्र है। ईश्वर कारणोपाधि है तो जीव कार्योपाधि। माया में ब्रह्म का आभास ईश्वर है और अवधि में ब्राय का आभास जीव है। इस प्रकार ब्रह्म-जीव की एकता का कथन वेदान्त दर्शन में प्राप्त होता है। इस बात का ज्ञान अधिकारी ब्रह्मनिष्ठ गुरु से प्राप्त करता है, यह प्राप्त होने वाला ज्ञान है। तत्वमसि। तत् अर्थात् वह सर्वज्ञ ग्रहा, त्वम् अर्थात् अल्पज्ञ तुम (जीव) हो। इस हेतु वेदान्त लक्षणा का आश्रय लेता है। वेदान्त दर्शन भागत्याग या जहदजहत् लक्षणा का आश्रय लेता है। इस लक्षणा में परस्पर विरुद्धाश को त्याग करके समान अंश का ग्रहण किया जाता है। फलतः जीवग्रहीक्य का ज्ञान प्राप्त होता है। मोक्ष वस्तुतः जीव की अपने स्वरूप में अवस्थिति है। मोक्ष में किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है प्रत्युत मोक्ष अज्ञान रूपी आवरण को हटाने की प्रक्रिया मात्र है। जीव को बन्धन से मुक्ति निरपेक्ष ब्रह्म के साथ अपने अभेद का ज्ञान प्राप्त करने में ही मिलती है।

मोक्ष को आकाशवत् सर्वव्यापी कहा गया है। चूँकि ब्रह्म सर्वव्यापी है और मोक्ष की अवस्या ब्रह्म से अभिन्न है. फलतः मोक्ष भी सर्वव्यापी हुआ। जैसे रस्सी के स्थान पर मनुष्य को अज्ञातवश सर्प की प्रतीति होती है। परन्तु जब रस्सी का यथार्थ ज्ञान उसे होता है तो सर्प का मिथ्या ज्ञान समाप्त हो जाता है। रस्सी तो यथावत् ही रहती है, ठीक उसी तरह मोक्ष प्राप्ति में जगत् के प्रति हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित होता है, जगत् की सत्ता समाप्त नहीं होती। यही कारण है कि एक को मोक्ष होने पर सभी को मोक्ष नहीं मिल जाता या जगत् समाप्त नहीं हो जाता। मोक्ष समरत विकारों से रहित है। मोक्ष नित्यप्राप्ति की प्राप्ति है।

मोक्ष अनादि काल से एक पूर्ण तथ्य है केवल अज्ञान के कारण जीव बद्ध हो जाता है और ब्रह्मज्ञान से यह अज्ञान नष्ट होता है फलत. अपने को स्वयं जानने लगता है। वेदान्त विद्धान्त के अनुसार ब्रह्म अपनी आवरणशक्ति से स्वयं को आवृत करता हुआ ईथर उपाधि धारण करता है, माया और उस अज्ञान का विक्षेप शक्ति से ब्रह्माण्ड का सृजन करता है। माया के उक्त आवरण को हटाना ही मोक्ष है। माया का दूसरा नाम अज्ञान है। इस आवरण को हटाने का सामर्थ्य केवल मात्र ज्ञान में है। जिस विषय से सम्बन्धित अज्ञान है, उसी विषय के ज्ञान से ही उस अज्ञान का निवारण होता है। वेदान्ती विवर्तवाद को मानते हैं। इस मत में कारण का कार्य रूप में परिणति होती है परन्तु कारण तात्त्विक रूप से अपरिवर्तित रहता है। फलतः जब वास्तविक रूप से कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं तो मोक्ष प्राप्ति की जैत्तीं बात उत्पन्न ही नहीं होती है। मोक्ष तो वस्तुतः एक अवस्था है जहाँ अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं होता है। यही कारण है कि यहाँ कुछ प्राप्ति करने जैसी बात नहीं है। अद्वैत वेदान्त में इस मोक्ष के दो भेद प्राप्त होते हैं जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। शरीर को धारण किए हुए ही मोक्ष की अवस्था प्राप्त करना जीवन्मुक्त कहलाता है। श्रुति कहती है-

''भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे॥"[5]

कर्मों से पूर्ण रूप से मुक्ति और आत्मा की शुद्ध अवस्या को मोक्ष कहा जाता है। संसार के बंधनों से छुटकारा और ब्रह्म के साथ आत्मा का अभित्र एकत्व ही मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप आत्मा स्वतंत्र, शुद्ध, आनंदस्वरूप और अनन्त ज्ञान वाला बन जाती है। आत्मा ब्रह्मस्वरूप होकर अद्वैत स्थिति को प्राप्त करती है अहं ब्रह्मास्मि मोक्ष का साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र त्रिरत द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव है। ज्ञानयोग, भक्तियोग, और विशेष रूप से ज्ञान के द्वारा आत्मा-ब्रह्म की एकता की अनुभूति से मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्म सिद्धान्त कमों का सूक्ष्म रुप आत्मा से जुड़ा होता है। इन्हें नष्ट करना आवश्यक है। (अज्ञान) ही बंधन का कारण

है, विद्या (ज्ञान) से ही मोक्ष संभव है। अविद्या मोक्ष की स्थिति मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धशिला में निवास करती है वहीं न पुनर्जन्म होता है, न मृत्यु। मोक्ष में आया ब्राह्मरूप हो जाती है यह फैवल्य या अदेत स्थिति है जिसमें जन्म-मृत्यु चक्र समाप्त हो जाता है। मोक्ष की स्थिति मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धशिला में निवास करती है वहीं न पुनर्जन्म होता है, न मृत्यु। मोक्ष में आया ब्राह्मरूप हो जाती है यह फैवल्य या अदेत स्थिति है जिसमें जन्म-मृत्यु चक्र समाप्त हो जाता है। वेदान्त दर्शन, विशेषत: अद्वैत वेदान्त, मोक्ष को ज्ञानप्रधान मानता है। इसके अनुसार आत्मा और ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं है। बंधन का कारण कर्म नहीं, बल्कि अविद्या (अज्ञान) है। अज्ञान के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता।

उपनिषदों में कहा गया है ''अहं ब्रह्मास्मि'',''तत्त्वमसि'' इन महावाक्यों का साक्षात्कार ही मोक्ष है।

वेदान्त में कहा गया है ''अविद्यानिवृत्ति: मोक्ष:'' अर्थात् अज्ञान का नाश ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन और निदिध्यासन को प्रमुख साधन माना गया है।

तुलनात्मक अध्ययन

जैन और वेदान्त दर्शन दोनों ही मोक्ष को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण अंतर है। जैन दर्शन कर्म के नाश को मोक्ष मानता है, जबकि वेदान्त ज्ञान को। जैन दर्शन में आत्मा अनेक मानी गई है, जबकि वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म को एक माना गया है। जैन दर्शन आत्म-प्रयास पर बल देता है, जबकि वेदान्त ईश्वर की कृपा और ज्ञान को महत्व देता है। फिर भी दोनों दर्शनों का अंतिम उद्देश्य मानव को दु:ख और बंधन से मुक्त करना है।

निष्कर्ष - जैन और वेदान्त दर्शन दोनों ही भारतीय दर्शन की महान परंपराएँ हैं। यद्यपि उनके मार्ग और दृष्टिकोण भिन्न हैं, तथापि उनका लक्ष्य एक ही है मोक्ष की प्राप्ति। जैन दर्शन आत्मानुशासन और कर्मक्षय पर बल देता है, जबकि वेदान्त ज्ञान और आत्मबोध को प्रमुख मानता है। इन दोनों का समन्वय मानव जीवन को संतुलित, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध बना सकता है। अत: यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की प्राप्ति के अनेक मार्ग हो सकते हैं, किन्तु सभी मार्ग अंतत: सत्य, शांति और मुक्ति की ओर ही ले जाते हैं।

एम. ए (संस्कृत)
एमिटी इंस्टीट्युट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन, (दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, प्रकाशन वर्ष)
2. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 10, सूत्र 2
3. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 10, सूत्र 3।
4. आदि शंकराचार्य, विवेकचूडामणि, श्लोक 20
5. मुण्डक उपनिषद्, 2.2.8

संदर्भ ग्रंथ सूची

* उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स. दिल्ली
* आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, भारतीय ज्ञानपीठ. नई दिल्ली
* आचार्य कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय, श्री दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला. मुंबई
* आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, गुजरात विद्यापीठ.अहमदाबाद
* बादरायण, ब्रह्मसूत्र (शंकर भाष्य सहित) गीता प्रेस. गोरखपुर
* आदि शंकराचार्य, उपनिषद् भाष्य (बृहदारण्यक, छान्दोग्य), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स. दिल्ली
* भगवद्गीता (शंकर भाष्य सहित), गीता प्रेस. गोरखपुर
* डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, Indian Philosophy (Vol-I) Oxford University Press, लंदन

संस्कृत लौकिक साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वरूप

सुजल शर्मा

शोध-सारांश :

संस्कृत लौकिक साहित्य भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का दर्पण है, जिसमें राष्ट्रीयता का स्वरूप अत्यन्त समृद्ध एवं बहुआयामी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य संस्कृत के लौकिक ग्रन्थों जैसे महाकाव्य, नाटक, गद्यकाव्य एवं नीति- साहित्य में निहित राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र-धर्म एवं सामूहिक एकता के भाव का विश्लेषण करना है। संस्कृत साहित्य में राष्ट्र की अवधारणा केवल भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं है, अपितु यह सांस्कृतिक एकता, धर्म, परम्परा, भाषा एवं लोकमंगल की भावना से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि साहित्यकारों के कृतित्व में राष्ट्रप्रेम, राजधर्म, प्रजावत्सलता तथा सामाजिक समन्वय के आदर्श स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। इस शोध में यह प्रतिपादित किया गया है कि संस्कृत लौकिक साहित्य ने राष्ट्र को एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें व्यक्ति का कर्तव्य राष्ट्र की उन्नति एवं संरक्षण से सम्बद्ध है। इस प्रकार, संस्कृत साहित्य न केवल साहित्यिक सौन्दर्य का स्रोत है, बल्कि राष्ट्रीय चेतना एवं सांस्कृतिक एकात्मता का भी सशक्त माध्यम है।

कूट शब्द :

संस्कृत सेक्युलर साहित्य, राष्ट्र, सांस्कृतिक एकता, रामायण, महाभारत, कालिदास, चाणक्य नीति, राष्ट्रीय चेतना, धर्म, रामराज्य।

परिचय

राष्ट्र = राज् धातु से ष्ट्र प्रत्यय करने पर राष्ट्र शब्द निष्पन्न होता है जिसका सामान्य अर्थ है - शासन करना, संरक्षण देना, व्यवस्थित करना, जिसकी अपनी सांस्कृतिक,सामाजिक, ऐतिहासिक, तथा राजनितिक पहचान होती है।

''रक्ष्यते प्रजाः अनेन इति राष्ट्रम्।'' अर्थात् जिसके द्वारा प्रजा की रक्षा की जाती है, वही राष्ट्र कहलाता है।

''रञ्जयति प्रजाः इति राष्ट्रम्।'' अर्थात् जो प्रजा को संतुष्ट, सुरक्षित और समृद्ध करता है, वही राष्ट्र है।

राष्ट्रीयता मानव समाज की वह चेतना है, जो व्यक्ति को अपने राष्ट्र, उसकी संस्कृति, परंपरा और मूल्यों से जोड़ती है। संस्कृत साहित्य में यह भावना विशेष रूप से लौकिक साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यह साहित्य राष्ट्रजीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करता है।

★ राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की अवधारणा

'राष्ट्र' की अवधारणा संस्कृत साहित्य में 'राष्ट्र' शब्द केवल एक भू-भाग का सूचक नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति 'राज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—दीप्ति, प्रकाश या शासन।

भौगोलिक आधार : 'राष्ट्र' वह भूमि है जिसकी निश्चित सीमाएँ हैं। विष्णुपुराण और उत्तरकालीन लौकिक काव्यों में हिमालय से समुद्र तक के क्षेत्र को 'भारतम्' कहा गया है।

सजीव सत्ता : संस्कृत कवियों ने राष्ट्र को एक 'माता' के रूप में देखा है। यह निर्जीव मिट्टी नहीं, बल्कि एक चेतना है जो अपने नागरिकों का पोषण करती है।

घटक : प्राचीन आचार्यों (जैसे कौटिल्य) के अनुसार, एक राष्ट्र सात अंगों (सप्तांग) से मिलकर बनता है : स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री), जनपद (भूमि और जनता), दुर्ग,

कोष, दण्ड और मित्र।

★ 'राष्ट्रीयता' की अवधारणा

राष्ट्रीयता वह भावनात्मक सूत्र है जो राष्ट्र के निवासियों को एक-दूसरे से और अपनी मातृभूमि से जोड़ता है। लौकिक साहित्य में इसके निम्नलिखित स्वरूप दिखाई देते हैं :

• सांस्कृतिक एकता

संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता का अर्थ 'समान संस्कृति' का पालन करना है। कालिदास के 'मेघदूतम्' में जब मेघ उत्तर से दक्षिण की यात्रा करता है, तो वह अलग-अलग राज्यों को नहीं, बल्कि एक ही सांस्कृतिक विरासत वाले विभिन्न उपवनों और नदियों को देखता है।

• 'स्वदेश' के प्रति अनन्य अनुराग

राष्ट्रीयता का अर्थ है अपनी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानना। प्रसिद्ध उक्ति है :''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं। यह श्लोक भारतीय राष्ट्रीयता का मूल मंत्र है, जो रामायण काल से लेकर परवर्ती लौकिक साहित्य तक प्रवाहित होता रहा है।

• कर्तव्यनिष्ठा

लौकिक साहित्य में राष्ट्रीयता केवल नारों में नहीं, बल्कि कर्तव्यों में निहित है। 'किरातार्जुनीयम्' में भारवि कहते हैं कि वही व्यक्ति सच्चा राष्ट्रप्रेमी है जो विपत्ति के समय राष्ट्र के मान-मर्दन को सहन न करे और उसके उत्थान के लिए पुरुषार्थ करे।

1. रामायण में राष्ट्रीयता

वाल्मीकि रामायण भारतीय राष्ट्रीयता का आदि स्रोत है। इसमें 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग केवल शासन या प्रशासन के लिए नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक और भावनात्मक इकाई के रूप में किया गया है। रामायण में राष्ट्रीयता के स्वरूप को हम निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं : **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।**

रामायण में राष्ट्रीयता का सबसे प्रखर प्रमाण वह श्लोक है जो सदियों से भारतीय राष्ट्रवाद का आदर्श रहा है। जब लंका विजय के बाद लक्ष्मण स्वर्णमयी लंका की चकाचौंध से प्रभावित होते हैं, तब श्री राम उन्हें समझाते हैं :

''अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥''

अर्थ : हे लक्ष्मण! भले ही यह लंका सोने की बनी है, फिर भी इसमें मेरी रुचि नहीं है। माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ होती हैं। यह उक्ति सिद्ध करती है कि राष्ट्र के प्रति अनन्य प्रेम ही सर्वोच्च धर्म है।

2. भौगोलिक एवं सांस्कृतिक अखंडता

रामायण में भारत की भौगोलिक सीमाओं का सजीव वर्णन मिलता है। श्री राम का अयोध्या से लंका तक का वनवास मार्ग उत्तर से दक्षिण को एक सूत्र में पिरोता है।

सांस्कृतिक एकता : गंगा के तट से लेकर गोदावरी और पंपा सरोवर तक, राम ने ऋषि-मुनियों के आश्रमों और वनवासी जातियों (जैसे केवट, शबरी, हनुमान) को जोड़कर एक 'अखंड सांस्कृतिक राष्ट्र' की नींव रखी।

विविधता में एकता : आर्य और अनार्य के भेद को मिटाकर 'रामराज्य' की परिकल्पना ही वास्तविक राष्ट्रीयता है।

'रामराज्य' और सुशासन

रामायण में राष्ट्रीयता का अर्थ केवल सीमा रक्षा नहीं, बल्कि प्रजा का सुख है। 'कच्चित् सर्ग' (अयोध्या कांड) में राम भरत से राष्ट्र के कुशल क्षेम के विषय में जो प्रश्न पूछते हैं, वे आज के 'पॉलिटिकल साइंस' के लिए भी आदर्श हैं:

सुरक्षा : सीमाओं की रक्षा के लिए दुर्ग और सेना की महत्ता।

आर्थिक समृद्धि : कृषि, व्यापार और कोष का सुदृढ़ होना।

न्याय : बिना किसी पक्षपात के न्याय व्यवस्था।

राष्ट्र के लिए त्याग

रामायण की राष्ट्रीयता 'त्याग' पर आधारित है, अधिकार पर नहीं। श्री राम का राज्य त्यागना और भरत का पादुका शासन करना यह दर्शाता है कि सत्ता व्यक्तिगत भोग के लिए नहीं, बल्कि 'राष्ट्र-धर्म' के पालन के लिए है। हनुमान और विभीषण जैसे पात्र यह सिखाते हैं कि जब राष्ट्र और अधर्म के बीच चुनाव करना हो, तो सत्य और धर्म के पक्ष में खड़ा होना ही सच्ची राष्ट्रभक्ति है।

2. महाभारत में राष्ट्रधर्म की भावना

महाभारत केवल एक युद्ध की गाथा नहीं है, बल्कि यह 'राष्ट्रधर्म' का सबसे बड़ा विश्वकोश है। इसमें राष्ट्र की अवधारणा 'धर्म' से जुड़ी हुई है। महाभारत के अनुसार, जहाँ धर्म है, वहीं राष्ट्र सुरक्षित है। महाभारत में राष्ट्रधर्म के स्वरूप को हम मुख्य रूप से शांति पर्व और उद्योग पर्व के आधार पर समझ सकते हैं :

भीष्म पितामह का राजधर्म (शांति पर्व)

महाभारत का 'शांति पर्व' राष्ट्रनीति का हृदय है। शरशय्या पर लेटे भीष्म पितामह युधिष्ठिर को जो उपदेश देते हैं, वह एक राष्ट्र के अस्तित्व का मूल मंत्र है :

राजा और राष्ट्र : भीष्म कहते हैं कि ''राजा कालस्य कारणम्'' (राजा ही समय का निर्माता है)। यदि राष्ट्र में अराजकता है, तो उसका उत्तरदायी राजा है। राजा का प्रथम राष्ट्रधर्म प्रजा का रंजन (सुख) और रक्षण है।

दण्डनीति : राष्ट्र की सुरक्षा के लिए 'दण्ड' अनिवार्य है। बिना अनुशासन के राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।

राष्ट्र के प्रति व्यक्तिगत त्याग

महाभारत सिखाता है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए कुल और व्यक्ति का त्याग किया जा सकता है। विदुर नीति का प्रसिद्ध श्लोक राष्ट्रधर्म की प्राथमिकता को स्पष्ट करता है :

''त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥''

अर्थ : कुल (परिवार) की रक्षा के लिए एक व्यक्ति का, ग्राम की रक्षा के लिए कुल का, और राष्ट्र (जनपद) की रक्षा के लिए ग्राम का त्याग कर देना चाहिए। यह 'राष्ट्र प्रथम' की भावना का प्राचीनतम उद्घोष है।

श्रीकृष्ण और राष्ट्र-एकता

श्रीकृष्ण का संपूर्ण चरित्र भारतवर्ष को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास है। उन्होंने जरासंध और शिशुपाल जैसे अत्याचारी राजाओं का अंत इसलिए किया ताकि एक 'धर्मराज्य' की स्थापना हो सके।

अखंड भारत : महाभारत नम:उपदेश अर्जुन को उसके क्षात्रधर्म की याद दिलाता है। जब अर्जुन मोहवश शस्त्र त्याग देते हैं, तो कृष्ण उन्हें समझाते हैं कि राष्ट्र और धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना 'कायरता' से श्रेष्ठ है। ''स्वधर्मे निधनं श्रेय:'' का अर्थ यहाँ राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभाते हुए प्राण देना भी है।

3. कालिदास के काव्यों में राष्ट्रीय गौरव

महाकवि कालिदास संस्कृत लौकिक साहित्य के 'मुकुटमणि' हैं। उनके काव्यों में राष्ट्रीयता केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक उत्सव है। कालिदास ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारत की भौगोलिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक श्रेष्ठता का जो चित्रण किया है, उसे हम 'कालिदासीय राष्ट्रीय गौरव' कह सकते हैं। कालिदास के काव्यों में राष्ट्रीय गौरव के प्रमुख स्तंभ निम्नलिखित हैं :

भौगोलिक अखण्डता और गौरव

कालिदास ने भारत की सीमाओं को अत्यंत पवित्र और गौरवमयी माना है।

★ हिमालय का वर्णन : 'कुमारसंभवम्' के प्रथम श्लोक में ही वे हिमालय को 'मानदण्ड' कहते हैं :

• ''अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:।''

• यहाँ 'देवतात्मा' शब्द भारत की भूमि के प्रति आध्यात्मिक श्रद्धा और राष्ट्रीय गौरव को दर्शाता है।

मेघदूतम् की यात्रा : मेघदूत में रामगिरि से अलकापुरी तक मेघ की यात्रा वास्तव में 'भारत दर्शन' है। इसमें विन्ध्याचल, नर्मदा, उज्जयिनी और गंगा का वर्णन भारतीय भूगोल के प्रति कवि के अगाध प्रेम को प्रकट करता है।

रघुवंशम् में 'दिग्विजय' और राष्ट्र-नीति

'रघुवंशम्' महाकाव्य भारतीय राष्ट्रीयता का घोषणापत्र है। राजा रघु की 'दिग्विजय' का अर्थ साम्राज्य विस्तार मात्र नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एकीकरण था। अश्वमेध यज्ञ: राजाओं द्वारा किए गए यज्ञों का उद्देश्य एक सुदृढ़ और संगठित राष्ट्र का निर्माण करना था। त्याग और भोग का समन्वय: कालिदास के अनुसार भारतीय राजा ''त्यागाय संभृतार्थानाम्'' (दान के लिए धन संग्रह करने वाले) थे। राष्ट्र का गौरव राजा के भोग में नहीं, बल्कि प्रजा के सुख में था।

'भारत' शब्द और सांस्कृतिक चेतना

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अंत में बालक 'भरत' का चित्रण राष्ट्रीय गौरव का चरमोत्कर्ष है। जिस बालक के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' पड़ा, उसे शेर के शावकों के साथ खेलते हुए दिखाकर कालिदास ने राष्ट्र की वीरता और अदम्य साहस का परिचय दिया है। शकुन्तला के विदाई प्रसंग में प्रकृति (वृक्ष, हिरण, कोयल) का मानवीय संवेदनाओं से जुड़ना यह दिखाता है कि भारतीय राष्ट्रीयता में प्रकृति भी राष्ट्र का अभिन्न अंग है।

सुशासन और सामाजिक आदर्श

कालिदास के काव्यों में राष्ट्रीय गौरव का एक बड़ा आधार 'न्यायपूर्ण शासन' है। प्रजा रक्षण: ''स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतव:'' (रघुवंशम्)। अर्थात् राजा ही प्रजा का वास्तविक पिता है क्योंकि वह उनका रक्षण, भरण-पोषण और शिक्षण करता है। धार्मिक सहिष्णुता कालिदास के साहित्य में शैव,

वैष्णव और शाक्त मतों का समन्वय मिलता है, जो भारतीय राष्ट्र की 'सांस्कृतिक उदारता' का प्रतीक है।

4. नीतिसाहित्य और राष्ट्रीय चेतना

संस्कृत का 'नीतिसाहित्य' भारतीय राष्ट्रीय चेतना का व्यावहारिक व्यावहारिक मार्गदर्शक है। जहाँ महाकाव्यों में आदर्शवाद की प्रधानता है, वहीं नीतिसाहित्य (जैसे पंचतंत्र, हितोपदेश, नीतिशतक और चाणक्य नीति) में 'यथार्थवादी राष्ट्रीयता' का दर्शन होता है। नीतिसाहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को निम्नलिखित बिंदुओं में समझा जा सकता है–

चाणक्य नीति : अखंड भारत का स्वप्न- आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) का नीतिसाहित्य विशुद्ध रूप से 'राष्ट्र-प्रथम' की भावना पर आधारित है। उनके अनुसार, एक सशक्त राष्ट्र के लिए कूटनीति और अर्थनीति अनिवार्य हैं।

संगठन शक्ति : ''बहूनामप्यसाराणां समवायो दुर्जय:'' (कमजोर लोगों का संगठन भी अपराजेय होता है)। यह सूत्र राष्ट्र की एकता और अखंडता का प्रतीक है। शत्रु बोध: राष्ट्र की सुरक्षा के लिए मित्रों और शत्रुओं की पहचान करना राष्ट्रीय चेतना का अनिवार्य अंग माना गया है।

पंचतंत्र और हितोपदेश : व्यावहारिक राष्ट्रनीति

विष्णु शर्मा कृत 'पंचतंत्र' और नारायण पंडित कृत शहितोपदेश' केवल कहानियाँ नहीं हैं, बल्कि ये राजकुमारों को 'राजनीति' और 'संधि-विग्रह' सिखाने के ग्रंथ हैं। मित्रलाभ और विग्रह: राष्ट्र के लिए मित्र राष्ट्रों का चयन और शत्रु के विरुद्ध उचित समय पर युद्ध की घोषणा करना राष्ट्रीय चेतना की परिपक्वता को दर्शाता है। भेदनीति: राष्ट्र की आंतरिक सुरक्षा के लिए जासूसी और गुप्तचर व्यवस्था पर बल दिया गया है, ताकि राष्ट्र को बाहरी आक्रमणों से बचाया जा सके।

भर्तृहरि का 'नीतिशतकम्': चारित्रिक राष्ट्रीयता

महाकवि भर्तृहरि ने राष्ट्रीय चेतना को व्यक्ति के 'चरित्र' से जोड़ा है। उनका मानना है कि यदि नागरिक चरित्रवान और स्वाभिमानी हैं, तो राष्ट्र स्वत: ही गौरवशाली होगा।

स्वाभिमान (Self-respect):

''परिवर्तिनि संसारे मृत: को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंश: समुन्नतिम्॥''

संसार में जन्म तो सब लेते हैं, पर जन्म सफल उसी का है जिसके होने से राष्ट्र और वंश की उन्नति हो।

न्यायपथ :''न्याय्यात्पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा:'' (धीर पुरुष न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।) राष्ट्र की स्थिरता न्याय पर टिकी है।

5.नाट्य साहित्य में राष्ट्रभावना

संस्कृत नाट्य साहित्य में राष्ट्रभावना केवल उपदेशात्मक नहीं है, बल्कि यह सक्रिय राजधर्म, कूटनीति और मातृभूमि के प्रति बलिदान के रूप में चित्रित हुई है। नाटकों में पात्रों के संवादों और संघर्षों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को अत्यंत सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नाट्य साहित्य में राष्ट्रभावना के प्रमुख आयाम निम्नलिखित हैं :

कौटिल्य की कूटनीति और श्मुद्राराक्षस' (विशाखदत्त)

'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का एकमात्र ऐसा नाटक है जो पूरी तरह से 'राजनीति' और 'राष्ट्र-कल्याण' पर आधारित है। चाणक्य का एकमात्र लक्ष्य चंद्रगुप्त के माध्यम से एक संगठित और शक्तिशाली भारत का निर्माण करना था।

राष्ट्र-द्रोह का निषेध : इसमें दिखाया गया है कि व्यक्तिगत शत्रुता से ऊपर राष्ट्रहित होता है। चाणक्य राक्षस (अमात्य) को अपनी ओर इसलिए मिलाते हैं क्योंकि वह एक योग्य और राष्ट्रभक्त व्यक्ति था। ''राज्यं हि नाम धर्मत: शासितव्यम्'' (राज्य का शासन धर्मपूर्वक होना चाहिए)। यहाँ राष्ट्रभावना का अर्थ है आंतरिक विद्रोहों को शांत कर अखंडता बनाए रखना।

भास के नाटकों में राष्ट्रप्रेम

महाकवि भास के नाटकों (विशेषकर 'प्रतिमा-नाटकम्' और 'अभिषेक-नाटकम्') में राजा के प्रति निष्ठा को राष्ट्रभक्ति का पर्याय माना गया है। राजधर्म: 'स्वप्नवासवदत्तम्' में यौगन्धरायण का संपूर्ण संघर्ष अपने राजा उदयन के खोए हुए राज्य (राष्ट्र) को पुन: प्राप्त करने के लिए है। उनका त्याग यह दर्शाता है कि एक मंत्री का सर्वोच्च धर्म राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा और विस्तार है। भास के पात्र राष्ट्र के मान-सम्मान के लिए प्राणों की आहुति देने को तत्पर रहते हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में भरत और राष्ट्र का नाम

कालिदास के इस नाटक के अंतिम अंक में बालक 'सर्वदमन' (भरत) का चित्रण राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है।

सिंह के दाँत गिनने वाला बालक यह संदेश देता है कि भारत की भावी पीढ़ी वीर और निर्भीक है। भरतवाक्य: नाटक के अंत में 'भरतवाक्य' के माध्यम से संपूर्ण राष्ट्र की समृद्धि

और शांति की कामना की जाती है : ''**प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः...**'' (राजा सदैव प्रजा के हित में प्रवृत्त हो)। यह वाक्य राष्ट्र के सुशासन की सर्वोच्च भावना को प्रकट करता है।

उत्तररामचरितम् (भवभूति) : इसमें श्री राम का अपनी प्रजा के प्रति अगाध प्रेम और लोक-रंजन के लिए निजी सुखों का त्याग (सीता परित्याग) राष्ट्रभक्ति का एक कठिन और आदर्श रूप है। राम कहते हैं कि प्रजा की खुशी के लिए वे अपनी करुणा, स्नेह और प्राण तक त्याग सकते हैं।

निष्कर्ष

संस्कृत लौकिक साहित्य के विस्तृत अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में 'राष्ट्रीयता' की अवधारणा आधुनिक पश्चिमी राष्ट्रवाद से कहीं अधिक गहरी, व्यापक और आध्यात्मिक थी। जहाँ आधुनिक राष्ट्रवाद अक्सर राजनीतिक सीमाओं और भाषाई पहचान तक सीमित रहता है, वहीं संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता का आधार 'सांस्कृतिक एकता' और 'धर्म' रहा है।

इस शोध के मुख्य निष्कर्षों को निम्नलिखित बिंदुओं में संक्षेपित किया जा सकता है :

सांस्कृतिक अखंडता : रामायण और महाभारत से लेकर कालिदास के काव्यों तक, भारत को केवल एक भू-खंड नहीं, बल्कि एक 'देवतात्मा' और 'माता' के रूप में पूजा गया है। ''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'' का भाव संपूर्ण साहित्य की अंतर्धारा है।

कर्तव्य प्रधान राष्ट्रवाद : संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता 'अधिकारों' की माँग नहीं, बल्कि 'कर्तव्यों' (राजधर्म और प्रजाधर्म) का पालन है। राम का त्याग, भीष्म का उपदेश और चाणक्य की कूटनीति ये सभी राष्ट्र की स्थिरता और लोक-कल्याण के लिए समर्पित रहे हैं।

विविधता में एकता : लौकिक साहित्य के कवियों ने भारत की विभिन्न जातियों, वेशभूषाओं और भूगोल का वर्णन करते हुए भी इसे एक अखंड सूत्र में पिरोया है। रघु की दिग्विजय हो या मेघ का मार्ग, ये भौगोलिक एकता के ही प्रमाण हैं।

शाश्वत प्रासंगिकता : आज के युग में जब विश्व कट्टरता और अलगाववाद की चुनौतियों से जूझ रहा है, संस्कृत साहित्य की ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' वाली राष्ट्रीयता एक वैश्विक समाधान प्रस्तुत करती है। यह सिखाती है कि अपने राष्ट्र से प्रेम करना और संपूर्ण विश्व के कल्याण की कामना करना परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं।

बी. ए (आनर्स) संस्कृत
एमिटी इंस्टीट्यूट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

संदर्भ उद्धरण सूची

- "अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" (वाल्मीकि रामायण, लंका कांड (युद्ध कांड), सर्ग 124, श्लोक 37)
- "राजा कालस्य कारणम्'' (महाभारत, शांति पर्व अध्याय 69, श्लोक 79)
- "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥" (महाभारत, उद्योग पर्व (विदुर नीति) अध्याय 37, श्लोक 17)
- "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" (श्रीमद्भगवद्गीता (महाभारत, भीष्म पर्व) अध्याय 3, श्लोक 35)
- "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।" (कुमारसंभवम् , प्रथम सर्ग, श्लोक 1)
- "त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।" (रघुवंशम्, प्रथम सर्ग, श्लोक 7)
- "स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।" (रघुवंशम्, प्रथम सर्ग, श्लोक 24)
- "प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।" (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक (भरतवाक्य), श्लोक 35)
- "परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते। स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥" (नीतिशतकम् (भर्तृहरि), श्लोक 32)
- "न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।" (नीतिशतकम्, श्लोक 81)
- "बहूनामप्यसाराणां समवायो दुर्जयः।" (पंचतंत्र (विष्णु शर्मा) मित्रभेद (प्रथम तंत्र), श्लोक 330)
- "कोषमूलो हि राजा।" (कौटिल्य अर्थशास्त्र / शुक्रनीति, अर्थशास्त्र, अधिकरण 2 (कोष सुदृढ़ीकरण प्रकरण))

⋆ "राज्यं हि नाम धर्मतः शासितव्यम्।" (मुद्राराक्षस (विशाखदत्त), तृतीय अंक)

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- उपाध्याय, बलदेव. (2008). संस्कृत साहित्य का इतिहास. वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन।
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (2002). संस्कृत साहित्य की भूमिका. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- पाण्डेय, राजबली. (1998). हिन्दू संस्कार. वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन।
- शर्मा, रामशरण. (2003). प्राचीन भारत का इतिहास. नई दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान।
- कालिदास. (2001). रघुवंशम्. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज।
- कालिदास. (2000). कुमारसम्भवम्. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज।
- भारवि. (2002). किरातार्जुनीयम्. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज।
- माघ. (2003). शिशुपालवधम्. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज।
- दण्डी. (2005). दशकुमारचरितम्. वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन।
- अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1995). संस्कृत साहित्य का इतिहास. वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन।

ज्योतिषशास्त्रे दशाफलविमर्शः

प्रो. परमानन्द भारद्वाजः

विंशोत्तरीदशाफलकथने बलाबलविचारः

नक्षत्रदशेयं कथ्यते। नक्षत्रानुसारं ग्रहज्ञानं भवति। ततश्च ग्रहदशा भवति। ग्रहाणां बलाबलमवलोक्य चास्य फल कथयितुं शक्यते। जन्मकुण्डल्यां ये राजयोगादय उक्ता सन्ति तेषां फलं कदा भवतीति प्रश्ने दशाया आविष्कार समजनीति प्रतीयते। अनेनेत्थं कथ्यते यद्यश्च ग्रहोऽत्र यस्य योगस्य राजयोगस्य दरिद्रयोगस्य नेत्रान्धादिविविधयोगानाञ्च वा कारकस्तस्य दशायां तत्फलं भवतीति ज्ञेयम्। तस्य योगस्य फलस्यापि बलाबलं विविधप्रकारेणात्र निरूपितम्। फलविज्ञाने तस्य बलाबलस्य ज्ञानं सुतरामावश्यकम्। तद्बलाबलानुसारि च शुभाशुभफलं भवति। तस्य बलाबलस्यातिसूक्ष्मत्वं विस्तृतत्वं दृश्यते-

पूर्वग्रहाणां बलाबलविचारश्चात्र विधीयते। ग्रहाणां होराद्रेष्काणादिसप्तवर्गतं दशवर्गजं षोडशवर्गजं बलं कथितम्। इदं बलं वर्गजं बलं भवति।

केन्द्राधिपतयः शुभाशुभफलहीना अशुभाश्चाशुभफलहीना भवन्ति त्रिकोणपाश्च सदा शुभा इत्यादिकं भावबलं कथ्यते।

द्वितीयसप्तभावौ मारकौ। नवमदशमौ धर्मकर्मसूचकौ। नवमपञ्चमौ विशेषधनप्रदौ इति सर्वं भावानुसारं विचार्य भवतीति प्रकारान्तरेणापि भावबलमुपलभ्यते। लग्नेशः शुभोऽष्टमेशो नित्यमशुभ इत्यादिकं भावेशबलं भवति। तथा च लग्नेशोऽष्टमस्थः स्यादथवा नवमस्थः स्यादिति भावेशानां भावस्थितिवशात्फले वैशिष्ट्यवमतचेदं भावभावेशफलमपि कथितुं शक्यते। षोडशवर्गेषु स्वोच्चमित्रादिस्थानसङ्ख्यावशाच्च पारिजातसिंहासनादिसंज्ञावशादपि वर्गजं फलं भवति। ग्रह्मणामष्टकबलमपि प्रोक्तमस्ति-

स्वोच्चमूलत्रिकोणतिमित्रमित्रादिकग्रहयोगवशात्प्राप्तं शुभं नीचातिशत्र्वादिकग्रहयोगाप्तमशुभञ्चापि ग्रहजं बलं भवति। ग्रहाणां बालयुवावृद्धाद्यवस्थादीप्ताद्यवस्था जाग्रदाद्यवस्थापूर्णादि-विविधावस्थानुसारमपि ग्रहबलं ज्ञेयम्। आरोहणावरोहणादिकमपि ग्रहबलम्। ग्रहाणां भावस्फुटसन्धियोगस्थितिवशादपि बलं ज्ञेयम्। दृग्बलकाल-बलादिकषड्बलस्य रश्मिबलस्य चाप्यत्र विचारो विधातव्यः। अब्दचर्यामासचर्यादिनचर्यानुसारमपि बलज्ञान-मावश्यकम्। धूमाद्याप्रकाशकपापशुभमित्रादिराह्वादिग्रहाणां योगायोगेनापि प्राप्तं शुभाशुभं बलं ग्राह्यम्। राशीनामपि दृष्टिवशाग्रहाणां योगायोगेनापि प्राप्तं शुभाशुभं बलं ग्राह्यम्। राशीनामपि दृष्टिवशाग्रहाणां शुभाशुभवलं भवति। ग्रहाणां स्थानकरणादिकबलविचारोऽपि दृश्यते। ग्रहाणां कारकपाचकवेधकादिसंज्ञायामपि बलं भवति। सत्यत्रेताद्वापर-कलियुगानां भेदेनापि बलाबलज्ञानमत्र ग्राह्यम्। अन्यदपि यद्बलं यत्र शास्त्रे प्रोक्तं तत्सर्वं विचार्यैव दशाफलकथनं महर्षिपराशरेणात्र निर्देशो विहितः। तथा हि चास्मिन् ग्रन्थे-

द्रव्यकर्मगुणा यस्य स्वभावा कथिताः पुरा।
ते सर्वे स्वदशाकाले योज्या भावदृगादिषु॥
भाववृष्टिबलेष्टानि फलानि कथितानि च।
भावाध्यायोक्तरव्यादिफलान्यत्रैव योजयेत्॥

अनेनेदमपि सिध्यति यत्पूर्वं ग्रहाणां द्वादशभावानुसारं भावेशानुसारञ्च पृथक् पृथक् फलं निरूपितं तस्यापि पाककालस्तस्य तस्य ग्रहदशायामेव भवतीति निश्चितम्। अत्र च व्यङ्कटेशोऽपि-

यद्यद्व्यङ्कथितमृषिभिर्यस्य यस्य ग्रहस्य।
कर्माजीवोऽपि तनुभृतां यश्च यश्चोदितोऽत्र॥
यद्भावोत्थं यदपि ग्रहजं योगजं दृष्टिजञ्च।

तत्तत्सर्वं ग्रहबलवशाद्योजनीयं दशायाम्॥

जातकपारिजातकारोऽपि-

करोति यद्भावगतः स्वपाके तद्भावजन्यं त्वशुभं शुभं वा॥

दशाया फलं कदा भवतीति प्रश्नेऽत्रोत्तरमाह। ग्रहो यदि प्रथमद्रेष्काणस्थस्तदा दशारम्भकाले एव फलं करोति। द्वितीयद्रेष्काणस्थः स्यात्तदा दशामध्यकाले फलप्रद इति। तृतीयद्रेष्काणगतश्चेत्तदा दशाया अन्ते फलकारकः प्रोक्त इति। वक्रगतियुक्तो ग्रहश्चेत्तदा पूर्वोक्तं फलं वैपरीत्ये ज्ञेयमर्थाद्यदि वक्री ग्रहस्तृतीये द्रेष्काणगस्तदा तस्य फलं दशारमी भवति द्वितीये द्रेष्काणे दशामध्ये प्रथमे च दशान्तकाले इति ज्ञेयम्। अपि च - शीर्षोदयराशिस्थो ग्रहो दशारम्भे पृष्ठोदयस्थो दशान्ते चोभयोदयराशिगश्च मध्ये फलप्रदः। द्वादशभावानामधि पतित्वेन पृथक् पृथक् ग्रहाणां दशायां शुभाशुभमाह-तथा हि। लग्नेशस्य दशा बलकारिका, द्वितीयेशस्य मृत्युकरी कष्टकरी वा, तृतीयेशस्यापि दशा पापफलप्रदा, चतुर्थेशस्य गृहनिर्माणकरी, पञ्चमेशस्य विद्यासुखप्रदा षष्ठेशस्य रोगकरी, सप्तमेशस्य शोकप्रदा, अष्टमेशस्य मृत्युकरी, नवमेशस्य सत्कर्मकरी, दशमेशस्य नृपाश्रयप्रदा एकादशेशस्य लाभप्रदा, द्वादशेशस्य दशायां रोगो द्रव्यनाशो बहुकष्टञ्च भवति।

दशाफलेऽन्यद्वैशिष्ट्यम्

स्वगृहस्थ उच्चत्रिकोणशुभादिवर्गगतो बलयुतो भावेशो ग्रहः पूर्णफलं शुभं करोति। शत्रुनीचस्थानगो निर्बलश्च ग्रहोऽशुभं फलं करोति। पञ्चमेशस्य नवमेशस्य च दशातीव शुभप्रदा। नवमेशयुतस्य दशमेशस्य दशा राज्यपुत्रप्रदा। पञ्चमेशयुक्तस्य नवमेशयुतस्य वा दशाऽपि शुभदा। दशमेशयुतस्य चतुर्थेशस्यापि दशा सुखप्रदा। पञ्चमेशयुतस्य दशमेशस्य दशा राज्यसुखधनप्रदा। दशमेशयुतस्य पञ्चमेशस्यापि दशा शुभा। पञ्चमेशयुतस्य दशमेशस्यापि शुभदेति ज्ञेयम्। चतुर्थेशयुतस्य नवमेशस्य दशाऽपि शुभा। पञ्चमस्थस्य दशमेशस्य दशा शुभा।

षष्ठसप्तमयोरेकोऽधिपतिः सन् दशमस्थः दशमेशेकेन युतः वा स्यात्तदापि तस्य ग्रहस्य दशा शुभा। षष्ठाष्टमद्वादशाधीशा यदि पञ्चमेशयुता भवेयुस्तदा तेषामपि दशा शुभा। चतुर्थेशो दशमस्थश्चेदथवा दशमेशश्चतुर्थस्थः स्यात्तदा तयोरपि दशा शुभा। पञ्चमेशदशमेशचतुर्थेशनवमेशा यद्येकत्र युता यत्र कुत्रापि स्युरथवैतैर्युता वाऽन्ये ग्रहा स्युस्तदैषां दशा राज्यप्रदा। चतुर्थस्थस्य पञ्चमेशस्य दशासम्पत्करी। दशमस्थस्य नवमेशस्य दशा राज्यप्रदा। यस्मिन् भावे शुभस्वामिनसम्बन्धयुत उच्चस्थो वा भवति स्वभावं द्वितीयभावञ्च पश्यति तस्यापि दशायां धनलाभो जायते। यस्माद्ग्रहाद्द्वादशरथो ग्रहःस्यात्तस्य दशायां धनक्षयो भवति। यस्माच्च त्रिकोणस्थाः षष्ठाष्टमेशौ सूर्यचन्द्रशनयश्च भवेयुस्तस्य दशायामपि पुत्रपीडा, धनहानिश्च भवति। यस्मात्त्रिकोणगो राहुः केतुर्वा स्यात्तस्य च दशायां विदेशभ्रमणं क्लेशो भयच्च भवति। यस्माच्च षष्ठाष्टमयोः स्थानयोर्नीचाः क्रूरा वा ग्रहाः स्युस्तस्य दशायां शत्रुरोगनृपाणां भयं प्रोक्तम्। यस्माच्चतुर्थस्थः क्रूरः स्यात्तस्य दशा भूगृहक्षेत्रनाशप्रदा। भौमश्चेत्तदा गृहदाहः पशुहानिश्च भवति। यदि शनिश्व स्यात्तदा ह्लदयशूलम् सूर्यश्चेत्तदा राजप्रकोपः। राहुः स्यात्तदा सर्वस्वहरणं विषचौरादिजं भयञ्च। यस्माच्च दशमस्थः राहुः स्यात्तस्य दशा पुण्यतीर्थाटनप्रदा। यस्माद्दशमैकादशनवमस्थाः शुभग्रहा स्युस्तस्य दशायां विद्याधनधर्मसत्कर्मख्यातिपौरुष-सिध्द्यादीनां वस्तुनां लाभो भवति। यस्माच्च पञ्चमसप्तमषष्ठगाः स्वोच्चशुभग्रहा भवेयुस्तस्य दशा पुत्रदारादि सम्प्राप्तिकरा नृपपूजाप्रदा च। यस्मिन् भावे पञ्चमैकादशदशमचतुर्थनवमलग्नपतयः स्थिताः स्युस्तस्य दशा तत्तद्योगानुसारं तत्तद्भाववृद्धिकरोति ज्ञेया। अत्र गुरुः शुक्रः शुभभावेशो वा स्थितः स्यात्तस्यापि दशा शुभैश्वर्यकल्याणकरा देवब्राह्मणभक्तिप्रदा च ज्ञेया।

यस्माच्च चतुर्थस्य उच्चस्त्रिकोणेशो वा स्यात्तस्य दशा वाहनग्रामलाभप्रदा पशुवृद्धिकरी च ज्ञेया। अत्र यदि चन्द्रः स्यात्तदा घृतादिरस लाभः प्रोक्तः। पूर्णचन्द्रे च निधिप्राप्ति-र्मणिसञ्चयो वा प्रोक्तः शुक्रश्चेत्तदा मृदङ्गवाद्यगनादिपुरस्कारो भवति। गुरुः स्यात्तदान्दोलिकालाभः। यत्र लग्नेशदशमेशनव-मेशोच्चशुभग्रहयोगः स्यात्तस्य दशा सर्वोत्कर्षमहैश्वर्य-साम्राज्यादिमहत्फलप्रदा। एवं भावभावेशयोगानुसारं फलमुक्त्वा ग्रहाणामुच्चनीचादिसंज्ञानुसारं फलमाह। अत्रैवं नक्षत्रदशायां ग्रहाणां परमोच्चोच्चपूर्वापरत्रिकोणस्वगृहस्थमित्रस्थाधि मित्रस्थतात्कालिकमित्रस्थोदासीनस्थशत्वधिशत्रुनी-चतत्पूर्वापरपरमनीचनीचशत्रुवर्गस्थपापयुक्तस्ववर्गस्थत्रिकोण-केन्द्रस्थयुद्धपराजितपरमास्तादिसंज्ञायुतानां स्वगुणानुसारं शुभाशुभं फलं ज्ञेयम्।

षड्बलैक्ययुक्तस्य परमोच्चस्य च दशा सम्पूर्णाख्या सा च राज्यभोग्यशुभफलकरी। उच्चस्य बलयुतस्य च ग्रहस्य दशा पूर्णाख्या बहुलैश्वर्यप्रदा किंचिद्रोगभयकरा चेति प्रोक्ता। परमनीचस्य दुर्बलस्य च दशा रिक्ताख्या रोगधनहानिर्मृत्युभयप्रदा। अत्युच्चातिनीचयोर्मध्यगस्य ग्रहस्य दशावरोहिणीनाम्नी प्रोक्ता। मित्रस्थोच्चस्य च दशा मध्याख्या साधारणशुभफलप्रदा। परमनीचात्परमोच्चान्तगतस्य ग्रहस्य दशा चारोहिणी नाम्नो प्रोक्ता।

नीचस्य शत्रुनवांशस्थस्य च दशाऽधमाख्या भयकष्टदुःखप्रदा ज्ञेया। एवमेता दशा नामानुरूपं फलप्रदा भवन्ति। पुनरपि गुरुनवमेशयोर्योगेन फले वैशिष्ट्यमाह-योगदृष्टि केन्द्रगृहादिभिः यदि गुरोर्नवमेशस्य वा सम्बन्धः स्यात्तदा तद्योगविशिष्टानामपि ग्रहाणां दशा भाग्यवृद्धिकराः जन्मकाले भाग्यभायोगादिफलदो ग्रहश्च यदा मार्गो भवति तदैव शुभफलप्रद इति ज्ञेयम्। एवमेवान्येषामपि ग्रहाणां बलाबलानुसार तारतम्येन शुभाशुभं फलं प्रोक्तम्। केन्द्रपणफरापोक्तिलमभावानां योगेनापि तारतम्येन पूर्णमध्याल्पफलं बोध्यम्। नैसर्गिकाणां तात्कालिक मित्रग्रहाणामन्तर्दशायां सर्वे ग्रहाः शुभफलप्रदाः। शत्रुग्रहाणाञ्चान्तर्दशायामशुभफलकराश्चेति भावः।

चरदशाफले विशेषः

चरदशाफले द्वादशराशीनां दशायां तेषामन्तर्दशायाञ्च फलमाह। दशाधीशो ग्रहो यस्मिन् राशौ स्थितस्तत आरभ्य द्वादशराशीनामन्तर्दशा ज्ञेया। तत्र यो राशिः स्वस्वामियुतो मित्रयुतो वा तस्मिन् राज्यादिसम्पत्प्राप्तिर्जेज्या। यत्र पापो नीचः शत्रुस्थो वा स्यात्तत्राशुभं फलं वाच्यम्। यत्राष्टकवर्गीयशुभ-चिह्नबाहुल्यन्तत्र शुभम्। यशाशुभ-बाहुल्यन्तत्राशुभम्।

स्वभावक्रमेणापि (तनुधनसहजादिक्रमेणेति भावः) पुत्रदारादिकानां शुभाशुभं बोध्यम्। यथा पुत्रचिन्तायां पञ्चमस्थानं पुत्रलग्नमवबुध्य ततश्च द्वितीयस्थानात्पुत्रधनचिन्ता तृतीयस्थानात्पुत्रातृणां चिन्ता चतुर्थात्पुत्रमातृचिन्ता पञ्चमात्पुत्रविद्यादिचिन्ता चेत्यादिकं सर्वं विचार्यमेवमेव मातृपितृदारादिकानामपि ज्ञेयम्। ग्रहाणां राशीनाञ्च यद्धात्वादिकं प्रोक्तन्तस्य लाभालाभादिकं तेषां ग्रहाणां राशीनाञ्च दशायामेव ज्ञेयम्। एवमेवेष्टानिष्टस्थानभेदाच्छुभपापग्रहदशाभेदाच्छु-भपापग्रहयोगाच्य यत्किमपि शुभाशुभं प्रोक्तन्तस्य फलमपि तत्तद्ग्रहराशिदशास्वेव बोध्यम्। ग्रहवद्राशिदशायामपि द्वादशराशीनामन्तर्दशादिकं प्रोक्तम्। पुनरपि फले वैशिष्ट्यमाह-

येषां भावानां स्वामिनः कारकः वा केन्द्रत्रिकोणस्थास्तेषां दशायां तत्तद्भावानां वृद्धिः। येषां भावानाञ्च कारकादयो दुष्टस्थानस्था (षष्ठाष्टमद्वादशस्था इति भावः) तेषां भावानां हानिरिति। यस्माद्भावाद् द्वितीयलाभे तृतीये चतुर्थे दशमे चतुर्थे वा ग्रहा अथवा यद्भावनाथो भावं पश्यति यद्वा यस्य भावस्य स्वामी बलवानुच्चस्थो वा तद्भावपुष्टिमाहुः। वैपरीत्ये यद्भावेशः शत्रुस्थो नीचः पापा वा तद्भावहानिरिति ज्ञेया। भावेशाश्रितराशीशोऽपि यदि ग्रहः षष्ठाष्टमभावस्थो भावेशश्च स्वभावं न पश्यति चेत्तदापि तद्भावहानिरिति। लग्नेशे च परमोच्चस्थे लग्ने च शुभयुते दृष्टे वा शतमायुर्योगो भवति। द्वितीयनवमैकादशमभावचतुष्टये बलयुते सति सम्पूर्णधनागमयोगः प्रोक्तः। मनुष्यश्च कुबेरवद्धनाढ्यो भवति। लग्ने लग्नेशचतुर्थेशयोगेऽश्ववाहनादि लाभः। अत्र शुकश्चेत्तदान्दोलितकाप्राप्तिः। गुरुश्चेत्तदा गजवाहनलाभ इति विशेषेण बोध्यम्। केन्द्रैकादशद्वितीयलग्नत्रिकोणतृतीयस्थानेषु लग्नेशचतुर्थेशयोगे लग्नेऽपि लग्नेशचन्द्रयोगे वा लग्ने चन्द्रे चन्द्रराशौ च लग्नेशे सति चौतयोर्भाग्यकेन्द्राश्रितयोर्वा सति द्वौ दुःस्थानगौ भूत्वा स्वभावं पश्येतान्तदा दीनवंशसुमुत्पन्नोऽपि मनुष्यश्चतुर्वाहनयुतो नृपो भवतीति ज्ञेयम्।

चरदशाफलकथनम्

चरदशायाम अपि विंशोत्तरीकालचक्रदशाफलवद्विशेषेण फलमत्र ग्रन्थकारेणाङ्कितम्। इयं दशा लग्नमारभ्य द्वादशभावानायायुर्वर्षानुरूपं प्रोक्ता। अथ चात्र यदि दशाप्रदाशितोऽष्टमपञ्चमनवमभावेषु पापग्रहश्चेत्तदा सा दशा दुःखप्रदा ज्ञेया। यदि च तृतीयषष्ठभावगतः पापग्रह स्यात्तदा तदद्दशायाञ्जयसुखादिकं वाच्यम्। अथ चात्र तृतीयषष्ठमभावगतः शुभग्रहो भवेत्तदा पराजयादिकमशुभं प्रोक्तम्। दशाप्रदाशितः एकादशभावगतः पापः शुभो वा ग्रहः स्यात्तदा तु शुभमेव फलम्। अथ च यदि दशाप्रदाशिः शुभग्रहयुतश्चेत्तदा शुभं फलम्। अशुभग्रहयुतः स्यात्तदा चाशुभं फलमिति विशेषेण ज्ञेयम्।

यदि दशाप्रदराशिः शुभः परञ्चात्र पापग्रहयुतिस्तदा पूर्वं शुभं पश्चादशुभं फलं वाच्यम्। एवं यदि दशाप्रदाशिः पापः परञ्चात्र शुभग्रहयुतिस्तदा पूर्वं फलाफलं पश्चाच्छुभफलं वाच्यम्। दशाप्रदाशिरपि पापोऽत्र ग्रहोऽपि पापः स्यात्तदा सदा चात्र पापफलमेव वाच्यम्। एवं शुभराशौ शुभग्रहयोगे सदा शुभं फलं ज्ञेयम्। अथ च शुभराशिः शुभपापग्रहयुतश्चेत्तदा पूर्वं कष्टं पश्चात्सुखं वाच्यम्। एवमेव पापराशिः पापशुभयुतः स्यात्तदा पूर्वं सौख्यं पश्चात्कष्टमिति बोध्यम्।

अत्र विश्लेषणम्

द्वितीयपञ्चमचतुर्थभावेषु राजप्रीतिजयसौख्यारोग्यादिकं वाच्यम्। नवमभावेऽपि शुभयुते सति धर्मबुद्धिगुरुजनसौख्यादिकं प्रोक्तम्। तृतीयस्थे पापे शत्रुजयो ज्ञेयः। चतुर्थस्थे पापे स्थानहानिः सप्तमस्थे पापे स्त्रीकष्टं दशमस्थे कीर्तिहानिः नवमस्थे पितृपीडनमित्यादिकञ्चात्र ज्ञेयम्। एषु शुभग्रहयोगे सौख्यं वाच्यं केन्द्रस्थानेष्वपि शुभग्रहेषु लाभशत्रुजयादिकं जेयम्। जन्मकालिकग्रहस्थित्यनुरूपं दशाकालेऽपि गोचरवशाद्ग्रहस्थितौ

सत्यां द्वयोस्तारतम्येन फलं वाच्यम्। यथा हि यदि जन्मकालेऽपि राशिः शुभग्रहयुतस्था दशाभोगकालेऽपि गोचरवशात्म राशिः शुभग्रहयुतस्तदा पूर्णं शुभं फलं वाच्यम्। यदि च जन्काले राशिः पापयुतो गोचरेऽपि पापाक्रान्तस्तदा पूर्णपापफलं बोध्यम्। मिश्रे मिश्रफलं जेयम्।

यश्च दशाप्रदराशिः शुभग्रहयुतस्तस्य च पश्चादपि शुभग्रहः स्थितस्तदा तस्य दशा शुभप्रदा बोध्या। अन्यथा चाशुभं फलं वाच्यम्। यद्राशितः पञ्चमे नवमे शुभग्रहाः स्युस्तस्य राशेर्दशायामपि शुभं फलं ज्ञेयम्। अन्यथा पापग्रहाः स्युस्तदा पापफलं वाच्यम्।

राशीनां बाधास्थानान्यधिकृत्य फलम्

मेषकर्कतुलामकराणां चरराशीनां क्रमेण कुम्भवृषसिंह-वृश्चिकाख्या राशयो बाधास्थानानि प्रोक्तानि दशाप्रदराशीशाक्रान्तराशौ बाधास्थानेषु वा पापग्रहयतौ महाशोकबन्धरोगादिकं पापफलं प्रोक्तम्।

अत्रापवादमाह

अथ च दशाराशिः स्वोच्चग्रहयुतश्चेत्तदा तत्रापि शुभं फलम्। यश्च राशिर्ग्रहशून्यस्तस्य दशायां फलमपि दुःखप्रदमिति बोध्यम्। दशाराशितः षष्ठाष्टमद्वादशभावा एव बाधास्थानानि भूत्वा राहुयुता भवेयुस्तदा तद्दशायां प्रस्थानबन्धननृपभयशत्रुपीड़ादिकर्मशुभं फलं प्रोक्तम्। दशाप्रदाशिर्यदिशनिरविराहुमङ्गलादिपापग्रहयुतश्चेत्तदा तदन्तर्दशायां राजकोपद्धनिर्भयञ्च वाच्यम्। दशाप्रदाशितस्तद्राशीशाद्वा पञ्चमे नवमे वा नीचपापग्रहयुते मृत्युभयं प्रोक्तम्। अन्यथा स्वोच्चग्रहयुते तु सौख्यं नगरग्रामाधिपत्यं धनपुत्रसौभाग्यादिकं सेनापत्यादिकञ्च शुभं फलं ज्ञेयम्। दशाप्रदाशीशो गुरुदृष्टः शुभराशिगश्च स्यात्तदा तद्दशायां धनपुत्रमङ्गलप्राप्त्यादिकं प्रोक्तम्।

ग्रहाणां शत्रुराशिवर्णनमाश्रित्य फलम्

वृषतुलामकरकुम्भमिथुनाख्या राशयः सूर्यस्य, वृश्चिकतुलाकुम्भाख्या चन्द्रस्य, कुम्भमीनमिथुनतुला-कन्याख्या भौमस्य, कर्कमीनवृश्चिककुम्भाख्या बुधस्य, वृषतुला मिथुनकन्याख्या गुरोः सिंहवृश्चिककर्कध नुराख्या शुक्रस्य मेषसिंहधनुर्वृश्चिककर्काश्च शनैः क्रमेण शत्रुराशयो बोध्याः। सूर्यादिग्रहाणामेषु शत्रुराशिषु योगे सति चाशुभं फलं वाच्यम्।

राजयोगकारकग्रहानुसारं फलम्

ये राजयोगप्रदाः शुभग्रहमध्यस्थाश्च वा भवेयुरथवा येभ्यो द्वितीयचतुर्थभावस्थाः शुभग्रहाः स्युस्तेषां ग्रहाणां दशा शुभफलदा। शुभग्रहद्वयमध्यगः पापग्रहोऽपि शुभफलप्रदो वाच्यः। शुभग्रहस्य मध्ये शुभग्रहदशा शुभा प्रोक्ता। यस्य ग्रहस्य पञ्चमनवमभावस्थः शुभग्रहस्तस्यापि दशा शुभप्रदा। यस्य ग्रहस्य दशारम्भे दशान्ते च मित्रग्रहस्य शुभराशेर्वा दशा भवेत्तस्यापि ग्रहस्य दशा शुभफलप्रदेति ज्ञेयम्। यस्य दशारम्भात्पञ्चम- नवमस्थः शुभग्रहोऽथ वा शुभराशौ शुभग्रहस्य दशान्तरं भवेत्तस्यापि फलं शुभम्। शुभराशौ पापदशारम्भोऽपि शुभः। शुभराशौ शुभदशारम्भस्त्वतीव शुभ इति स्वतः स्पष्टम्। दशारम्भे पापराशिश्चेदथवा तस्य राशेः स्वामी नीचादौ स्थितः स्यात्तदा तद्दशायां भाग्यहानिर्जेज्या। यद्राशौ राशितो वा पञ्चमनवमस्थौ नीचग्रहोऽथवा राशीश्वरो वा नीचो नीचयुक्तो वा स्यात्तद्दशायां धनधान्यादिकहानिरोगभयञ्चिं वाच्यम्।

राहुकेत्वोर्विशेषमाह

कुम्भराशितो राहोर्वृश्चिकाच्च केतोः राशिचतुष्टयान्तं स्वस्थानं प्रोक्तम्। तद्राशिषु राहुकेत्वोः स्थितिवशात्तद्राशीनां दशासु शुभं ज्ञेयम्। यस्य ग्रहस्य दशा शुभा प्रोक्ता स ग्रहो यदि मारकराशिस्थोऽथवा यद्राशौ दशान्तः स्यात्तत्र शुक्रेण चन्द्रेण युते दृष्टे वा तद्दशायां राजकोषाद्धनक्षय इति ज्ञेयम्। शत्रुराशौ राहुणा दृष्टे युतो युते वापि पूर्वोक्तं फलं बोध्यम्। शनिदशायां मकरराशिदशायां वा पूर्वोक्तं फलं न भवतीति विशेषः। राहोर्दशान्ते सर्वस्वनाशमरणबन्धदेशत्यागकष्टादिकं ज्ञेयम्। यदि राहुतः पञ्चमनवमस्थः पापश्चेत्तदा तु निश्चयेन दुःखं ज्ञेयम्। राहवादिपापग्रहाक्रान्तराशीनामपि दशासु पूर्वफलं प्रोक्तम्। राशिदशारम्भे मारकग्रहयुतिश्चेत्तदापि न शुभं फलम्। अत्र राहुणां योगे तु बन्धनं धननाशश्च वाच्यः। यत्र कुत्रापि दशारम्भे राहुश्चेत्तदा तद्भावहानिर्बोध्या। यथा द्वितीयभावस्थे धननाश इति। चन्द्रशुक्रयुते द्वादशभावे राजकोपेण धननाशो भवति प्रोक्तः। केतुमङ्गलयुतिश्चेत्तदा मरणमग्निभयञ्च वाच्यम्। दशारम्भे चन्द्रशुक्रयुतिद्वितीयभावे चेत्तदा राज्यलाभः।

अर्गलाविचारेण चरदशाफलम्

एवमर्गलाविचारेणाऽपि शुभाशुभं फलं ज्ञेयम्। अर्थाद्यस्य ग्रहस्य राशेः शुभार्गलायां शुभः पापो वा ग्रहस्तिष्ठेत् तेन दृष्टं लग्नं प्रबलं भवति। (अत्र लग्नशब्देन राशिर्याह्यः) तद्दशायां शुभं वाच्यम्। यश्च राशिर्विपरीतार्गलायुतश्चेदथवा शुभग्रहदृष्टो न स्यान्तद्दशायामशुभं ज्ञेयम्। शुभग्रहदृष्टे सति शुभं फलं भवति।

दशाफलभेदद्वयकथनम्

ग्रहाणां दशाया अपि प्रकारद्वयेन फलमुपलभ्यते। साधारण-विशिष्टभेदेन। स्वभावतो ग्रहस्य यत्फलं प्रोक्तं तत्साधारण-मित्युच्यते। स्थानस्थितिवशाच्च यत्फलं कथ्यते तद्विशिष्टाख्यं

निगदितम्।

सूर्यादिग्रहाणां क्रमेण दशाफलकथनम्

तत्रादौ सूर्यफलम्

स्वोच्च: परमोच्च: स्वस्थ: केन्द्रात्त्रिकोणैकादशाभावगो मूलत्रिकोणस्थो नवमेशेन दशमेशेन वा युत: षड्बलयुत: स्ववर्गादिस्थित: सूर्यश्चेत्तदा महासौख्यधनलाभराजसम्माना-श्वान्दोल्यादिकप्राप्तिर्भवति। पञ्चमेशेन युते सति पुत्रलाभो द्वितीयेशेन युते सति गजान्तैश्वर्यलाभश्चतुर्थेशेन युते तु वाहनत्रयप्राप्तिर्नृपकृपया सेनापतिश्च भवति। सुखधनवस्त्र-वाहनादिकलाभश्च प्रोक्त:। नीच: षष्ठाष्टमद्वादशभावगो निर्बल: पापयुतेक्षितो षष्ठाष्ट-मद्वादशभावपतियुतो राहुकेतुयुतो वा स्यात्तदा सूर्यस्य दशायां धनधान्यनाशराजदण्डमहापीड़ाज्वर-प्रकोपप्रवासाप-मृत्युभयचौरसर्पव्रणभीतियश: क्षयादिकञ्च प्रोक्तम्। यत्नात्कार्यसिद्धिर्गृहेशुभकार्याणि भवन्ति। अश्वान्दोल्यादिलाभ: श्वेतवस्त्रप्राप्तिश्च ज्ञेया। चन्द्रेद्वितीयस्थे चोच्चस्थे स्वस्थे वा सति विविधैश्वर्यधनलाभो भाग्यवृद्धि-र्महत्सुखञ्च ज्ञेयम्। राजसम्मानं विद्याप्राप्तिश्च भवति। क्षीणे नीचे चन्द्रे धनहानि: प्रोक्ता। षष्ठाष्टमद्वादशभावगे सबले सति क्वचित्सौख्यं धनलाभश्च ज्ञेय:। पापयुते दुर्बले तु राजद्वेषो, मनोव्यथा धनधान्यनाशश्च ज्ञेय: शरीरपीडामातृकष्टमपि बोध्यम्।

भौमदशाफलम्

पूर्वोक्तसूर्यचन्द्रवदुच्चादिराशिस्थे केन्द्रत्रिकोणलाभगे शुभयुते दृष्टे वा बलवति च भौमे राज्यभूतिधन धान्यवाहनवस्त्राभूषणा-दिकस्य लाभो राजसम्मानञ्च प्रोक्तम। विदेशे स्थानलाभ: सोदराणां सुखप्राप्तिश्च ज्ञेया। केन्द्रगे तृतीयस्थे वा पराक्रमेण धनाप्तिर्युद्धे शत्रुञ्जयश्च प्रोक्त:। स्त्रीपुत्रधनराजसम्मानादिकस्य प्राप्तिश्च बोध्या। दशादौ सुखप्राप्तिर्दशान्ते किञ्चित्कष्टमित्यत्र विशेषोऽपि ज्ञेय:। नीचादिराशिगे षष्ठाष्टमद्वादशस्थे दुर्बले पापदृष्टे युते वा सति चाशुभं फलं प्रोक्तम्।

राहुदशाफलम्

पूर्ववद्राहोरप्युच्चादिराशिस्थे (अत्र राहोवृषराशिवच्च संज्ञक:। केतोश्च इति ग्रन्थान्तरेषु राहुर्मिथुनं केतोश्च धनुरिति प्रोक्तम्। अत्र राहोर्मिथुनं केतोश्च धनुरिति मूलत्रिकोणं ज्ञेयम्। राहो: कन्या केतोर्मानमिति स्वगृहे प्रोक्ते) राहो: स्वगृहं कुम्भमपि लिखितम्। बहुसौख्यं धनधान्यादिप्राप्ति: मित्रप्रभुवशाच्छुभं वाहनपुत्रवस्त्रालङ्कारादिलाभो विदेशे राजसम्मानञ्च प्रोक्तम्। शुभयुक्ते दृष्टे योगकारकसंयुते केन्द्रत्रिकोणतृतीयैका-दशान्यतमस्थानगे शुभराशिगे वा महाराजप्रसादेन सर्वसम्पत्सुखाप्तिर्यवचनराजसम्मानं गृहे कल्याणञ्च ज्ञेयम्। अष्टमस्थे द्वादशस्थे वा कष्टं ज्ञेयम्। पापग्रहेण वा युते नीचराशिगे वा स्थानभ्रंशो मनोव्यथा। स्त्रीपुत्रनाश: कुत्सितभोजनाप्तिश्च ज्ञेया। दशादौ शरीरपीड़ाधनधान्यनाशश्च ज्ञेय:। दशामध्ये सौख्यं स्वदेशधनाप्तिस्तथा दशान्ते कष्टं स्थानभ्रंशो मनोव्यथा च प्रोक्ता।

गुरुदशाफलम्

पूर्वदुच्चादिराशिस्थे केन्द्रलाभत्रिकोणादिस्थे च महत्सौख्यं राजसम्मानं गजाश्वादिप्राप्तिर्देवब्राह्मणपूजनं स्त्रीपुत्रादि-सौख्यवाहनवस्त्रादिलाभो यज्ञयागादिकर्मसिद्धिर्वेदान्तश्रवणादिकं महाराजप्रसादेनेष्टसिद्धरान्दोलिकादिप्राप्ति: कल्याणं महत्सुख-मन्नदानञ्च प्रोक्तम्। नीचास्तादिके च स्थिते षष्ठाष्टमस्थे पापयुते दृष्टे वा स्थानभ्रंशो मनस्तापं पुत्रपीडापश्वादिधनहानिस्तीर्थ-यात्रादिकं महद्भयञ्च बोध्यम्। दशादौ कष्टफलं चतुष्पादजीवलाभस्तथा मध्येऽन्ते च सुखं राजसम्मानवैभवा-दिप्राप्तिश्च बोध्या।

शनिदशाफलम्

शनिरपि स्वोच्चादिराशिगे तृतीये चौकादशे वा स्थिते सति राजसम्मानवैभवैश्वर्य-सत्कीर्तिविद्यावाद-विनोदादिकस्य लाभो ज्ञेय:। महाराजप्रसादेन गजवाहनभूषणाप्ति: सेनाधीशान्तहत्सुखञ्च प्रोक्तम्। राज्यलाभो गृहे कल्याणं स्त्रीपुत्रादिलाभश्च बोध्य:। षष्ठाष्टमद्वादशस्थे नीचौऽस्तङ्गते वा विषशस्त्रादिपीड़ा स्थानभ्रंशो महद्भयं पितृमातृवियोग: स्त्रीपुत्रादिपीडनमनिष्टं राजवैषम्यकार्यञ्च बोध्यम्। शुभयुक्तेक्षिते योगकारकसंयुक्ते केन्द्रत्रिकोणलाभगे धनुर्मीनराशिगते वा शनौ राज्यलाभो महोत्साहो गजाश्ववस्त्रादिप्राप्तिश्च कथिता।

बुधदशाफलम्

पूर्ववत्स्वोच्चादिराशिस्थे केन्द्रलाभत्रिकोणगे च बुधे धनधान्यकीर्तिज्ञानमहत्सुखनृपप्रीतिसुकर्मगुण-वृद्धिपुत्रदारासौख्यं देहारोग्यादिकप्राप्तिश्च प्रोक्ता। व्यापारेण धनागम: क्षीरेण भोजनञ्च बोध्यम्। शुभदृष्टियुते नवमशत्वेन दशमस्थे सति बुधस्य दशा सम्पूर्णफलदा बलवती च प्रोक्ता। पापग्रहयुते दृष्टे वा राजद्वेषमनोव्यथा बन्धुजनविरोधविदेशगमनकलह-मूत्रकृच्छ्रादिकं परप्रेश्यञ्च प्रोक्तम्। षष्ठाष्टमद्वादशस्थे सति लाभ भोगध नादिनाशवातपीडापाण्डुरोगकृषिगोभूमिनाशनृप-चौराग्निभयादिकञ्च बोध्यम्। दशादौ धनधान्यविद्यालाभ-महत्सुखादिकं पुत्रकल्याणसम्पत्ति: सन्मार्गेण धनाप्तिश्च ज्ञेया। दशामध्ये राजसम्मानं दशान्ते च दु:खमिति प्रोक्तम्।

केतुदशाफलम्

स्वौच्चादिस्थे केतौ (केतुर्वृश्चिकस्थ उच्चो मिथुनस्थो मूलत्रिकोणी मीनस्थः स्वगृहीति पूर्वोक्तम्) केन्द्रलाभत्रिकोणस्थे शुभराशिस्थे शुभवर्गस्थे वा देशग्रामाधिपत्यं स्त्रीपुत्रवाहनचतुष्टपादजीवादिकलाभो देशान्तरप्रयाणमन्यदेशे च सौख्यं प्रोक्तम्। तृतीयैकादशषष्ठान्यतभावस्थे सुखं राज्यञ्च प्रोक्तम्। मित्रनवांशस्थे गजाश्वादिलाभश्च ज्ञेयः। द्वितीयाष्टमद्वादशान्यतमभावगे पापदृष्टयुते वा शूद्रसङ्गो निकटबन्धुनाशः स्थानभ्रंशो मनोव्यथा नानारोगपीडा च ज्ञेया। दशादौ राजयोगा दशामध्ये महद्भयं दशान्ते दूराटनं शरीरपीडा च ज्ञेया।

शुक्रदशाफलम्

पूर्ववदुदच्चादिस्थे केन्द्रादिगे राज्याभिषेकगजाश्वपश्वादिलाभो नित्यमिष्टान्नभोजनं वस्त्रभूषादिकस्य प्राप्तिखण्डमण्डलाधीशराजसम्मानं मृदङ्गवाद्यघोषो ग्रहलक्ष्मीप्राप्तिश्च बोध्या। त्रिकोणस्थे मीनस्थे च सति राज्यार्थगृहसम्पत्प्राप्तिर्विवाहोत्सवैश्वर्यपुत्रकल्याणेष्टबन्धुसमागमादिकं सेनाधिपत्यं नष्टराज्याद्धनप्राप्तिगृहे गोध नसङ्ग्रहश्च प्रोक्तः। षष्ठाष्टमद्वादशनीचान्यतमभावस्थे स्त्रीपुत्रादिपीडात्मबन्धुजनवियोगादिकं ज्ञेयम्। नवमेशदशमेशत्वेन लग्नस्थे चतुर्थस्थे वा सति शुक्रस्य दशायां देशग्रामाधिपत्यं देवालयतडागादिपुण्यकर्मसङ्ग्रहोऽन्नदानं नित्यमिष्टान्नभोजनमुत्साहः कीर्तिः सम्पत्ति स्त्रीपुत्रधनैश्वर्यप्राप्तिर्महत्सौख्यञ्च बोध्यम्। एवमेव शुक्रस्यान्तर्दशाया अपि फलं ज्ञेयम्। शुक्रस्य द्वितीयेशत्वे सप्तमेशत्वे वा दशायां शरीरपीडा ज्ञेया। अस्य शान्तिरप्यत्रैवोक्ता। मृत्युञ्जयमन्त्रजपो रुद्रोपाठो गोदानं महिषीदानं वा कार्यम्। अनेन जपदानादिकेनारोग्यं भवतीति भावः। दशानामन्तदर्शानां प्रत्यन्तर्दशानामप्येवं बलाबलानुसारं फलं वाच्यम्। अयमेव प्रकारः सर्वत्र। अन्यच्च विस्तारभयादत्र न निरूप्यते।

कालचक्रदशाफलम्

इयं दशा पूर्व भगवता शङ्करेण पार्वतीं प्रति प्रोक्ता। अस्या महिमा चात्र दृश्यते। ग्रन्थकारेण सारमुद्धृत्य लघुमार्गेणात्र फलप्रकारो दर्शितः। नवांशानुसारं फलनिरूपणम्। मेषनवांशके चौरो भवति, वृषांशे श्रीमान्, मिथुनांशे ज्ञानी, कर्कांशे राजा, सिंहांशे राजसः, कन्यांशे पण्डितः, तुलांशे राजमन्त्री, वृश्चिकांशे निर्धनो, धनुरंशे ज्ञानी, मकरांशे पापः, कुम्भांशे व्यापारी, मीनांशे च धान्यवान् भवतीति क्रमेण बोध्यम्।

आचार्यः, ज्योतिषविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली-110016

शोध-पत्र

रामायण और महाभारत में वर्णित राजधर्म की मूल अवधारणा का चिंतन

तनिष कुमार देवड़ा

सारांश :

प्रस्तुत शोधलेख का उद्देश्य रामायण तथा महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म की मूल अवधारणा का तुलनात्मक एवं वैचारिक अध्ययन करना है। भारतीय राजनीतिक चिंतन में राजधर्म को केवल शासन-व्यवस्था का साधन न मानकर धर्म, न्याय, लोककल्याण तथा नैतिक उत्तरदायित्व से संबद्ध एक व्यापक सिद्धांत माना गया है। इसी आधार पर दोनों महाकाव्यों में राजा की भूमिका, कर्तव्य और शासन-दृष्टि का विश्लेषण किया गया है। श्रीराम के चरित्र में राजधर्म का आदर्श मर्यादा, सत्यपालन, प्रजावत्सलता तथा आत्मत्याग के रूप में प्रकट होता है, जहाँ शासक व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर लोकमंगल को प्रधानता देता है। दूसरी ओर युधिष्ठिर के माध्यम से राजधर्म का यथार्थवादी स्वरूप सामने आता है, जिसमें जटिल परिस्थितियों में न्यायपूर्ण निर्णय, दण्डनीति, आत्मसंयम तथा नीति-विवेक को विशेष महत्व प्राप्त है। भीष्म एवं कृष्ण के उपदेशों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि शासन का उद्देश्य धर्म की स्थापना तथा सामाजिक संतुलन बनाए रखना है। अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि रामायण में राजधर्म मर्यादा-प्रधान आदर्श के रूप में तथा महाभारत में परिस्थितिजन्य नैतिक विवेक के रूप में विकसित हुआ है। दोनों महाकाव्य मिलकर यह स्थापित करते हैं कि सत्ता का सर्वोच्च उद्देश्य प्रजासुख, न्याय, उत्तरदायित्व तथा धर्माधारित शासन की स्थापना है।

मुख्य शब्द :

राजधर्म, धर्मराज्य, प्रजापालन, न्यायव्यवस्था, दण्डनीति, लोककल्याण, मर्यादा, राजनीतिक चिंतन, महाकाव्यीय शासन-दर्शन।

प्रस्तावना :

भारतीय चिंतन परंपरा में राजनीति को केवल सत्ता प्राप्ति अथवा प्रशासनिक संरचना तक सीमित नहीं माना गया, अपितु उसे धर्म, नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा लोककल्याण के साथ अभिन्न रूप से जोड़ा गया है। इसी कारण भारतीय राजनीतिक दर्शन में राजधर्म की संकल्पना अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। राजधर्म का तात्पर्य उस धर्मसंगत कर्तव्य-व्यवस्था से है जिसके अंतर्गत शासक अपने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर प्रजा की रक्षा, न्याय की स्थापना, सामाजिक संतुलन तथा धर्म की मर्यादा का पालन करता है। भारतीय महाकाव्य-परंपरा में यह अवधारणा विशेष रूप से रामायण तथा महाभारत में अत्यंत विकसित रूप में उपलब्ध होती है।

इन दोनों महाकाव्यों में राजधर्म केवल सैद्धान्तिक रूप में नहीं, बल्कि पात्रों के आचरण, निर्णय, संघर्ष तथा शासन-व्यवस्था के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त हुआ है। श्रीराम के चरित्र में राजधर्म मर्यादा, सत्य, त्याग और प्रजावत्सलता के रूप में प्रतिष्ठित होता है। राम का समस्त जीवन इस तथ्य का उदाहरण है कि शासक का प्रथम दायित्व व्यक्तिगत सुख नहीं, बल्कि धर्म की रक्षा और लोकविश्वास की स्थापना है। वनगमन की घटना से लेकर राज्याभिषेक के पश्चात् उनके शासन तक प्रत्येक स्तर पर यह स्पष्ट होता है कि आदर्श राजा वही है जो स्वयं मर्यादा का पालन कर समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करे। इसी कारण भारतीय जनमानस में रामराज्य न्यायपूर्ण, संतुलित और लोकहितकारी शासन का प्रतीक बन गया।

दूसरी ओर महाभारत में राजधर्म का स्वरूप अधिक जटिल

और यथार्थपरक रूप में सामने आता है। यहाँ शासन केवल आदर्श का विषय नहीं, बल्कि कठिन परिस्थितियों में धर्मसम्मत निर्णय लेने की प्रक्रिया है। युधिष्ठिर के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि राजा को अनेक बार ऐसे निर्णय लेने पड़ते हैं जहाँ धर्म और नीति के बीच सूक्ष्म संतुलन स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। विशेषत: शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजधर्म भारतीय राजनीतिक विचारधारा का अत्यंत प्रौढ़ स्वरूप प्रस्तुत करता है, जिसमें दण्डनीति, न्याय, प्रजापालन, करव्यवस्था तथा आत्मसंयम को शासन का अनिवार्य अंग माना गया है। रामायण और महाभारत दोनों का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि भारतीय परंपरा में राजधर्म सत्ता की निरंकुशता का नहीं, बल्कि उत्तरदायी शासन का सिद्धांत है। रामायण में जहाँ राजधर्म मर्यादा-प्रधान आदर्श के रूप में व्यक्त हुआ है, वहीं महाभारत में वह परिस्थितिजन्य नैतिक विवेक और राजनीतिक यथार्थ के रूप में विकसित होता है। दोनों ग्रंथों में यह समान रूप से प्रतिपादित है कि राजा का वास्तविक वैभव प्रजा के सुख, न्याय की स्थापना और धर्म की रक्षा में निहित है।

अत: प्रस्तुत विषय ''रामायण और महाभारत में वर्णित राजधर्म की मूल अवधारणा का चिंतन'' भारतीय राजनीतिक चिंतन की उन मूलभूत अवधारणाओं को समझने का प्रयास है जिनके माध्यम से प्राचीन भारतीय समाज ने आदर्श शासन, नैतिक सत्ता और लोककल्याणकारी राज्य की परिकल्पना की। यह अध्ययन न केवल प्राचीन महाकाव्यों की राजनीतिक दृष्टि को उद्घाटित करता है, बल्कि समकालीन शासन-दर्शन के लिए भी महत्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करता है।

रामायण और राजधर्म : रामायण भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन की प्राचीनतम एवं महत्त्वपूर्ण कृतियों में से एक है। इसे आदिकाव्य कहा जाता है, क्योंकि इसमें पहली बार मानव जीवन, धर्म, नीति, आदर्श आचरण और सामाजिक व्यवस्था का अत्यंत व्यवस्थित काव्यात्मक निरूपण मिलता है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित यह महाकाव्य केवल श्रीराम के जीवन का आख्यान नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के नैतिक और राजनीतिक आदर्शों का भी दर्पण है। रामायण के सात काण्डों में पारिवारिक संबंधों, सामाजिक मर्यादाओं, धर्मपालन तथा शासन-सिद्धांतों का ऐसा समन्वय मिलता है, जिसने भारतीय जनजीवन को सहस्राब्दियों तक प्रभावित किया है। विशेषत: राजधर्म की दृष्टि से रामायण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें आदर्श राजा, आदर्श शासन और प्रजावत्सल राज्य की अवधारणा सजीव रूप में प्रतिपादित हुई है।[1]

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में राजधर्म का अर्थ है – राजा द्वारा धर्मानुकूल शासन, प्रजा की रक्षा, न्याय की स्थापना तथा लोककल्याण का संवहन। रामायण में यह अवधारणा केवल सैद्धान्तिक रूप में नहीं, बल्कि राम के जीवन और निर्णयों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त हुई है। भारतीय परंपरा में राजा को राज्य का स्वामी नहीं, बल्कि धर्म का धारक माना गया हैय इसीलिए उसका जीवन निजी नहीं, लोकनिष्ठ माना गया।[2] यही कारण है कि रामायण में राजधर्म का सर्वोत्तम रूप राम के चरित्र में दिखाई देता है। राम के जीवन का आरंभिक राजनीतिक महत्त्व उस समय स्पष्ट होता है जब अयोध्या में उनके राज्याभिषेक की तैयारी होती है। दशरथ स्वयं स्वीकार करते हैं कि राम में वे सभी गुण विद्यमान हैं जो एक आदर्श शासक में अपेक्षित हैं – सत्यप्रियता, विनय, धैर्य, आत्मसंयम और प्रजाप्रेम।[3] यह इस बात का संकेत है कि रामायण में शासनाधिकार केवल वंशानुगत नहीं, बल्कि नैतिक पात्रता पर आधारित माना गया है।

राजधर्म का वास्तविक स्वरूप तब सामने आता है जब कैकेयी के वरदानों के कारण राम को वनवास स्वीकार करना पड़ता है। राम राज्य और वैभव त्यागकर पिता के वचन की रक्षा करते हैं। यह केवल पुत्रधर्म नहीं, बल्कि राजधर्म का भी महत्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं सत्य और प्रतिज्ञा का पालन न करे, वह राज्य में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। राम स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि पिता की आज्ञा उनके लिए सर्वोच्च धर्म है।[4] इस प्रसंग में राजधर्म का मूल तत्त्व यह है कि सत्ता कभी धर्म से ऊपर नहीं हो सकती। वनवास के समय भी राम का आचरण राजधर्म से पृथक नहीं होता। वन में वे ऋषियों और तपस्वियों की रक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं तथा राक्षसों के अत्याचार से उन्हें मुक्त करने का संकल्प लेते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा का दायित्व केवल राजधानी या सीमित भूभाग तक नहीं, बल्कि जहाँ कहीं धर्म संकट में हो, वहाँ तक विस्तृत है।[5]

रामायण में राजधर्म का आदर्शतम स्वरूप रामराज्य में दृष्टिगोचर होता है। अयोध्या लौटकर राज्याभिषेक के पश्चात् राम ऐसा शासन स्थापित करते हैं जिसमें न्याय, सुरक्षा, समृद्धि और सामाजिक संतुलन का अद्भुत समन्वय है। वाल्मीकि वर्णन करते हैं कि उस समय न कोई भय था, न रोग, न

अकाल, न अन्याय्य प्रजा संतुष्ट थी और धर्म स्वाभाविक रूप से समाज में प्रतिष्ठित था।[6] इससे स्पष्ट होता है कि राजधर्म का लक्ष्य केवल प्रशासन नहीं, बल्कि लोकजीवन में नैतिक संतुलन स्थापित करना है।

न्याय की दृष्टि से सीता-प्रसंग अत्यंत महत्वपूर्ण है। सीता के प्रति गहन प्रेम होते हुए भी राम लोकापवाद के कारण कठोर निर्णय लेते हैं। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से यह निर्णय विवादास्पद प्रतीत हो सकता है, परंतु परंपरागत राजनीतिक चिंतन में इसे इस रूप में देखा गया कि राजा का निजी जीवन भी सार्वजनिक विश्वास से जुड़ा होता है।[7] यहाँ राजधर्म लोकमत और व्यक्तिगत भावनाओं के मध्य कठिन संतुलन के रूप में प्रकट होता है। रामायण में परामर्शात्मक शासन की भावना भी स्पष्ट रूप से मिलती है। भरत के साथ राम का संवाद इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि राज्य अधिकार नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व है। भरत के आग्रह पर भी राम प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, जिससे स्पष्ट है कि राजधर्म में मर्यादा सर्वोपरि है।[8]

इसी प्रकार रावण के विरुद्ध युद्ध से पूर्व शांति-प्रयास और दूत-परंपरा का पालन यह सिद्ध करता है कि धर्मयुक्त शासन में युद्ध अंतिम साधन है, प्रथम विकल्प नहीं।[9] अतः रामायण में राजधर्म सत्य, त्याग, न्याय, प्रजापालन, आत्मसंयम और मर्यादा का समन्वित सिद्धांत है। राम का चरित्र भारतीय राजनीतिक परंपरा में इस सत्य को स्थापित करता है कि आदर्श शासक वही है जो स्वयं धर्म का पालन करते हुए समाज के लिए नैतिक आदर्श बने। इसी कारण रामराज्य आज भी आदर्श शासन की शाश्वत संकल्पना माना जाता है।

महाभारत और राजधर्म : महाभारत भारतीय वाङ्मय की सर्वाधिक विस्तृत और बहुआयामी कृति है, जिसे केवल महाकाव्य न मानकर धर्म, नीति, इतिहास, दर्शन तथा समाजशास्त्र का विश्वकोश भी कहा गया है। महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित यह ग्रंथ अठारह पर्वों में विभक्त है और इसमें मानव जीवन के विविध पक्षों - धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—का गहन निरूपण प्राप्त होता है। महाभारत की विशेषता यह है कि यह आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वित चित्र प्रस्तुत करता है; जहाँ एक ओर धर्म की स्थापना का आदर्श है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक संघर्ष, नैतिक द्वंद्व और सत्ता-संबंधी जटिलताओं का यथार्थ भी उपस्थित है। इसीलिए भारतीय राजनीतिक चिंतन में महाभारत का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमें राजधर्म को केवल आदर्श सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि व्यवहारिक शासन-नीति के रूप में भी व्याख्यायित किया गया है।[10]

महाभारत में राजधर्म का विवेचन विशेषतः शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में अत्यंत विस्तार से प्राप्त होता है। युद्ध के उपरान्त जब युधिष्ठिर राज्य ग्रहण करने में संकोच व्यक्त करते हैं, तब भीष्म उन्हें राजधर्म, दण्डनीति और प्रजापालन का विस्तृत उपदेश देते हैं। महाभारत का यह भाग भारतीय शासन-दर्शन का अत्यंत परिपक्व स्रोत माना जाता है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि राजा धर्म का मूल आधार है - यदि राजा धर्मयुक्त है तो समाज सुरक्षित रहता है, और यदि वह धर्म से विचलित हो जाए तो राज्य में अराजकता फैल जाती है।[11] महाभारत में राजधर्म का प्रथम आधार है - प्रजापालन। राजा का अस्तित्व प्रजा के हित के लिए है, न कि व्यक्तिगत ऐश्वर्य के लिए। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को गर्भवती माता की भाँति प्रजा की रक्षा करनी चाहिए; जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु के पोषण के लिए स्वयं कष्ट सहती है, वैसे ही राजा को भी प्रजा के सुख के लिए व्यक्तिगत सुख का त्याग करना चाहिए।[12] इस उपमा से स्पष्ट होता है कि महाभारत में राजधर्म को लोकमंगल के साथ प्रत्यक्ष रूप से जोड़ा गया है।

युधिष्ठिर के चरित्र में राजधर्म का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष सत्य और न्याय है। वे स्वभावतः सत्यप्रिय हैं, किन्तु महाभारत यह भी दर्शाता है कि शासन केवल सत्यभाषण से नहीं चलता; उसके लिए निर्णयक्षमता और दण्ड-विधान भी आवश्यक है। द्यूतसभा के प्रसंग में युधिष्ठिर की दुर्बलता यह संकेत करती है कि राजा को केवल नैतिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक रूप से भी सजग होना चाहिए।[13] इसी अनुभव के कारण युद्ध के पश्चात् उनके भीतर शासन के प्रति गहन उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है। महाभारत में राजधर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है - दण्डनीति। भीष्म स्पष्ट रूप से कहते हैं कि दण्ड के अभाव में समाज में अनुशासन नहीं रह सकता। यदि अपराधी को दण्ड न मिले तो धर्म की रक्षा असंभव हो जाती है। परन्तु दण्ड न्यायसंगत और संतुलित होना चाहिए; अत्यधिक कठोरता भी अनुचित है।[14] यह विचार भारतीय शासन-व्यवस्था की परिपक्व राजनीतिक समझ को व्यक्त करता है, जहाँ राज्य का बल धर्म के अधीन माना गया है।

कृष्ण महाभारत में राजधर्म के व्यवहारिक पक्ष के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि केवल आदर्शवाद

से शासन नहीं चल सकता; अनेक बार धर्म की रक्षा के लिए नीति, समय-बुद्धि और रणनीति का भी सहारा लेना पड़ता है। कौरवों के साथ शांति-प्रयास, दूत-परंपरा तथा अंतिम क्षण तक युद्ध टालने का प्रयास इस बात का प्रमाण है कि धर्मयुक्त शासन में युद्ध अंतिम उपाय होना चाहिए।[15] महाभारत में आत्मसंयम को भी राजधर्म का आवश्यक तत्व माना गया है। भीष्म कहते हैं कि राजा यदि इन्द्रियों का दास बन जाए तो उसका राज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ और अहंकार राजा के प्रमुख शत्रु हैं। अत: शासक के लिए आत्मनिग्रह, विनय और धैर्य अनिवार्य हैं।[16] इस सिद्धांत का प्रत्यक्ष उदाहरण कौरव पक्ष में दुर्योधन के चरित्र में मिलता है, जहाँ अहंकार और लोभ के कारण संपूर्ण राज्य विनाश की ओर अग्रसर होता है।

राजधर्म के अंतर्गत कर-व्यवस्था और अर्थनीति का भी महाभारत में विवेचन मिलता है। राजा को मधुमक्खी के समान बताया गया है, जो पुष्प से मधु लेती है किन्तु पुष्प को नष्ट नहीं करती। इसी प्रकार राजा को प्रजा से कर लेना चाहिए, परंतु ऐसा कर प्रजा पर अत्याचार का कारण न बने।[17] यह दृष्टि स्पष्ट करती है कि शासन का आर्थिक पक्ष भी धर्म से पृथक नहीं माना गया। महाभारत में युद्ध और राजधर्म का संबंध भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अर्जुन जब युद्धभूमि में मोहग्रस्त होते हैं, तब श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण उन्हें कर्तव्य और धर्म का उपदेश देते हैं। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि शासक और योद्धा का धर्म निजी मोह से ऊपर उठकर न्याय की रक्षा करना है।[18]

इस प्रकार महाभारत में राजधर्म केवल आदर्श शासन का सिद्धांत नहीं, बल्कि जटिल राजनीतिक परिस्थितियों में धर्मसम्मत निर्णय लेने की कला है। जहाँ रामायण मर्यादा-प्रधान राजधर्म प्रस्तुत करती है, वहीं महाभारत यथार्थ और नीति से संयुक्त राजधर्म का चित्र देती है। युधिष्ठिर, भीष्म और कृष्ण के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य की स्थिरता का आधार न्याय, दण्ड, आत्मसंयम और प्रजापालन है। अत: महाभारत भारतीय राजनीतिक दर्शन में राजधर्म का अत्यंत गहन और व्यवहारिक प्रतिमान प्रस्तुत करती है।

रामायण और महाभारत के आधार पर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चिंतन : भारतीय राजनीतिक परंपरा में राजधर्म की अवधारणा यद्यपि प्राचीन महाकाव्यों में विकसित हुई, तथापि उसका प्रभाव आधुनिक भारत की शासन-दृष्टि में आज भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। रामायण और महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म का मूल आधार यह था कि शासन का उद्देश्य सत्ता-सुख नहीं, बल्कि लोकमंगल, न्याय, मर्यादा और सामाजिक संतुलन की स्थापना हो। आधुनिक लोकतांत्रिक भारत में यद्यपि राजतंत्र का स्थान जनतंत्र ने ले लिया है, फिर भी शासन की नैतिकता, उत्तरदायित्व, विधि-पालन और लोककल्याण जैसे सिद्धांत उसी राजधर्म की आधुनिक अभिव्यक्ति के रूप में देखे जा सकते हैं।

रामायण में श्रीराम के माध्यम से जो आदर्श प्रस्तुत हुआ, उसका केंद्र बिंदु था शासक का निजी हित लोकहित के अधीन होना। आधुनिक भारत में यह सिद्धांत संविधानसम्मत शासन में दिखाई देता है, जहाँ शासन-प्रमुख को व्यक्तिगत इच्छा के स्थान पर संवैधानिक मर्यादा का पालन करना होता है। भारत का संविधान इसी मर्यादा का आधुनिक रूप है। संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, न्यायपालिका तथा संसद सभी निश्चित संवैधानिक सीमाओं में कार्य करते हैं। यह व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक भारत में सत्ता को मर्यादित और उत्तरदायी बनाने का प्रयास उसी प्रकार है जैसे राम के जीवन में धर्म सत्ता से ऊपर स्थित था।[19] रामायण में राम द्वारा लोकमत को महत्त्व देना भी आधुनिक लोकतंत्र में जनभावना के महत्व से जुड़ता है। लोकतंत्र में सरकारें चुनावों के माध्यम से प्रजा के विश्वास पर आधारित होती हैं। यदि लोकविश्वास कमजोर हो जाए, तो शासन परिवर्तन संभव हो जाता है। इस दृष्टि से प्राचीन राजधर्म का **''प्रजावत्सलता''** सिद्धांत आधुनिक उत्तरदायी शासन में परिवर्तित रूप में विद्यमान है।

दूसरी ओर महाभारत में युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के माध्यम से जो राजधर्म प्रतिपादित हुआ, उसका केंद्र न्याय, दण्डनीति और परिस्थितिजन्य निर्णय है। आधुनिक भारत में यह पक्ष विधिशासन (Rule of Law) के रूप में दिखाई देता है। संविधान के अनुसार सभी नागरिक और शासकीय संस्थाएँ विधि के अधीन हैं। यह वही सिद्धांत है जिसे महाभारत में कहा गया कि राजा स्वयं भी धर्म से ऊपर नहीं हो सकता।[20] स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय गणराज्य ने जिस कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की दिशा अपनाई, वह महाकाव्यीय राजधर्म की आधुनिक व्याख्या कही जा सकती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक न्याय, ग्रामीण विकास तथा निर्धन वर्गों के उत्थान हेतु योजनाएँ इस विचार पर आधारित हैं कि शासन का उद्देश्य प्रजा के सुख की व्यवस्था करना है। महाभारत में भीष्म

ने राजा को गर्भवती माता के समान बताया था, जो स्वयं कष्ट सहकर भी संतति की रक्षा करती है; आधुनिक शासन में यह भावना सार्वजनिक नीति और कल्याणकारी योजनाओं में परिलक्षित होती है।[21]

भारतीय विधि-व्यवस्था में दण्डनीति का स्वरूप भी महाभारत की परंपरा से तुलनीय है। प्राचीन ग्रंथों में दण्ड को धर्मरक्षा का साधन माना गया था। आधुनिक भारत में हाल के वर्षों में लागू भारतीय न्याय संहिता, भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता तथा भारतीय साक्ष्य अधिनियम इसी दण्ड-संरचना के नवीन रूप हैं, जिनका उद्देश्य अपराध-नियंत्रण और न्याय-प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाना है। यहाँ भी मूल भाव यही है कि समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए दण्ड आवश्यक है, परंतु दण्ड न्यायसंगत और विधिसम्मत होना चाहिए।[22]

मनुस्मृति में वर्णित राजधर्म और आधुनिक संवैधानिक शासन के बीच भी एक विचारात्मक संबंध देखा जा सकता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए और निर्बल की रक्षा करनी चाहिए। यद्यपि आधुनिक भारत समानता, मौलिक अधिकार और लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है, फिर भी न्याय और सामाजिक अनुशासन का मूल भाव प्राचीन राजधर्म से जुड़ा हुआ है।[23] आधुनिक भारतीय राजनीति में संकट-काल के निर्णयों में महाभारतीय राजधर्म की झलक विशेष रूप से दिखाई देती है। जब राष्ट्रीय सुरक्षा, सीमाओं की रक्षा या आंतरिक संकट की स्थिति आती है, तब शासन को अनेक बार कठोर निर्णय लेने पड़ते हैं। यह वही स्थिति है जहाँ महाभारत का नीति-आधारित राजधर्म अधिक समीचीन प्रतीत होता है - अर्थात् केवल आदर्श नहीं, बल्कि यथार्थ के भीतर धर्म की रक्षा। इस दृष्टि से राष्ट्रीय सुरक्षा, न्यायिक सुधार तथा प्रशासनिक अनुशासन में महाभारतीय सोच का प्रभाव देखा जा सकता है।

भारतीय लोकतंत्र में संसद, न्यायपालिका और कार्यपालिका के मध्य शक्तियों का संतुलन भी राजधर्म की आधुनिक व्याख्या है। रामायण में परामर्श और महाभारत में सभा-विमर्श की जो परंपरा मिलती है, वही आज संसदीय बहस, न्यायिक समीक्षा और संघीय ढाँचे के रूप में विकसित हुई है। शासन अब एक व्यक्ति का धर्म न होकर संस्थाओं का सामूहिक उत्तरदायित्व बन गया है। फिर भी आधुनिक राजनीति में अनेक बार नैतिकता और सत्ता के बीच संघर्ष दिखाई देता है। भ्रष्टाचार, दलीय हित, राजनीतिक ध्रुवीकरण तथा प्रशासनिक पक्षपात जैसी चुनौतियाँ यह संकेत करती हैं कि राजधर्म की मूल भावना - लोककल्याण, निष्पक्षता और आत्मसंयम - आज भी पूर्णतः स्थापित नहीं हो सकी है। यही कारण है कि रामराज्य और धर्मराज्य की अवधारणाएँ आज भी सार्वजनिक विमर्श में आदर्श के रूप में स्मरण की जाती हैं।

अतः आधुनिक भारत में राजधर्म का स्वरूप बदल गया है, पर उसका मूल तत्व अभी भी वही है - विधि के अधीन सत्ता, लोककल्याण के प्रति प्रतिबद्धता, न्याय की स्थापना तथा नैतिक उत्तरदायित्व। रामायण मर्यादा का आदर्श देती है, महाभारत जटिल निर्णय की बुद्धि; और आधुनिक भारत इन दोनों के बीच संतुलित शासन की निरंतर खोज करता हुआ दिखाई देता है।

उपसंहार : रामायण और महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म की अवधारणा भारतीय राजनीतिक चिंतन की उस उच्च परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें शासन को केवल सत्ता संचालन की तकनीक नहीं, बल्कि नैतिक उत्तरदायित्व, सामाजिक संतुलन और लोककल्याण की व्यापक व्यवस्था के रूप में देखा गया है। प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय महाकाव्य-परंपरा में राजा का स्वरूप किसी स्वेच्छाचारी शासक का नहीं, बल्कि धर्म के संरक्षक, न्याय के प्रवर्तक और प्रजा के हितैषी के रूप में निर्मित किया गया है। यही कारण है कि राजधर्म भारतीय शासन-दर्शन का मूलाधार बनकर सामने आता है।

रामायण में श्रीराम के चरित्र द्वारा राजधर्म का जो आदर्श प्रस्तुत हुआ है, वह मर्यादा, सत्यपालन, त्याग, वचननिष्ठा और प्रजावत्सलता पर आधारित है। राम अपने व्यक्तिगत सुख, पारिवारिक भावनाओं और राजसुख से ऊपर उठकर धर्म की रक्षा को प्राथमिकता देते हैं। वनगमन, पितृवचन-पालन, ऋषियों की रक्षा तथा राज्याभिषेक के पश्चात् लोकहितकारी शासन ये सभी प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि आदर्श शासक वही है जो स्वयं अनुशासित होकर समाज के लिए आदर्श बने। रामराज्य की कल्पना इसी कारण भारतीय मानस में न्यायपूर्ण और संतुलित शासन के प्रतीक के रूप में स्थिर हुई।

दूसरी ओर महाभारत राजधर्म का अधिक यथार्थवादी और व्यवहारिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। यहाँ शासन केवल आदर्श मर्यादा का विषय नहीं, बल्कि जटिल परिस्थितियों में धर्मसम्मत निर्णय लेने की क्षमता का परीक्षण भी है। युधिष्ठिर, भीष्म और कृष्ण के माध्यम से यह प्रतिपादित होता है कि राजा को

न्याय, दण्डनीति, आत्मसंयम, करुणा तथा राजनीतिक विवेक इन सबका संतुलन साधना पड़ता है। विशेषत: शान्तिपर्व में प्रतिपादित राजधर्म यह स्पष्ट करता है कि राज्य की स्थिरता केवल सद्भावना से नहीं, बल्कि अनुशासन, दण्ड और नीति से भी सुनिश्चित होती है। इस प्रकार महाभारत राजधर्म को व्यवहारिक शासनशास्त्र के रूप में विकसित करता है।

दोनों महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि रामायण जहाँ आदर्श शासक का नैतिक प्रतिमान निर्मित करती है, वहीं महाभारत शासन की जटिल वास्तविकताओं में धर्म की रक्षा का मार्ग बताती है। एक में मर्यादा प्रधान है, दूसरे में नीति-विवेक; एक में त्याग की ऊँचाई है, दूसरे में निर्णय की गहराई। परंतु दोनों का अंतिम उद्देश्य समान है प्रजा का कल्याण, न्याय की स्थापना और धर्म की रक्षा। यही भारतीय राजनीतिक दर्शन की मौलिक विशेषता है कि सत्ता को सदैव उत्तरदायित्व से जोड़ा गया।

आधुनिक भारत के लोकतांत्रिक शासन में भी इन आदर्शों की प्रासंगिकता बनी हुई है। संवैधानिक मर्यादा, विधिशासन, लोककल्याणकारी नीतियाँ और उत्तरदायी प्रशासन ये सभी उसी राजधर्म की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि प्राचीन महाकाव्यों में वर्णित राजधर्म केवल ऐतिहासिक विचार नहीं, बल्कि आज भी शासन-नैतिकता के लिए प्रेरक सिद्धांत है।

एम. ए (संस्कृत)
एमिटी इंस्टीट्युट फार संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी युनिवर्सिटी, उत्तर प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, बाल कांड
2. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, अयोध्या कांड
3. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, अयोध्या कांड
4. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, अयोध्या कांड
5. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, अरण्य कांड
6. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, उत्तर कांड, राम राज्य वर्णन
7. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, उत्तर कांड, सीता-परित्याग प्रसंग
8. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, अयोध्या कांड, भरत-राम संवाद
9. गीता प्रे., श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, लंका कांड (युद्ध कांड), अंगद-दूत प्रसंग
10. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 1, आदि पर्व
11. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व
12. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व, अध्याय 57
13. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 1, सभा पर्व, द्यूत सभा प्रसंग
14. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व, दण्ड नीति अध्याय
15. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 3, उद्योग पर्व, श्री कृष्ण शांति दूत प्रसंग
16. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व
17. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व, कर व्यवस्था प्रसंग, ''मधुमक्खी उपमा''
18. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 3, भीष्म पर्व, श्रीमदभगवद्गीता, 2.31 ''युद्ध और स्वधर्म उपदेश''
19. अंबेडकर भीमराव, भारत का संविधान, प्रस्तावना, अनुच्छेद 14-21
20. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व
21. गीता प्रे., महाभारत, खण्ड 5, शांति पर्व, अध्याय 57, ''प्रजापालन की गर्भिणी माता उपमा''
22. जोशी मनमोहन, बी.एन.एस., सामान्य सिद्धांत
23. मनु, मनुस्मृति, अध्याय 7, दण्ड एवं राज कर्तव्य विवेचन

संदर्भ ग्रंथ सूची :

★ गीता प्रेस गोरखपुर, श्रीमदवाल्मिकीय रामायण, नवीनतम संस्करण
★ गीता प्रेस गोरखपुर, महाभारत, नवीनतम संस्करण
★ चौखंभा संस्कृत संस्थान, मनुस्मृति, हरगोविंद शास्त्री
★ Integrity Education India, भारतीय न्याय संहिता, मनमोहन जोशी, प्रकाशन, 30 नवंबर 2024
★ Samyakprakashan, भारत का संविधान, डॉ. भीमराव अंबेडकर , प्रकाशन , 13 मार्च 2024

संजीव के उपन्यास 'मुझे पहचानो' में स्त्री जीवन और सामाजिक परम्पराएँ

डॉ० मोहित

'मुझे पहचानो' उपन्यास 19वीं के प्रारंभ में व्याप्त सामाजिक रुढ़ियों को दर्शाता है। इन रुढ़ियों में सती प्रथा मुख्य भूमिका निभाती है। स्त्री जीवन के लिए एक अभिशाप बन चुकी इस सामाजिक प्रथा को संजीव ने अपने इस उपन्यास में गंभीरता से दर्शाया है। जब तक स्त्री जाति इन सामाजिक कुरीतियों का पालन चुपचाप करती रही, उन्हें देवी स्वरुप दर्जा मिलता रहा, किंतु जब भी किसी स्त्री ने इस अत्याचार को सहने से मना किया तो पूरे समाज ने मिलकर उसका प्रतिकार किया। विरोध में पुरुष समाज ही नहीं बल्कि स्त्रियाँ भी शामिल होती हैं। स्त्री के जीवन और अधिकार की लड़ाई में उसे पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों का विरोध भी झेलना पड़ा है। सती प्रथा जैसे अमानुषिक कृत्य को धार्मिक कृत्य मानकर स्त्री जाति का बड़ा भाग उसमें अपने लिए गर्व ढूँढ़ता रहा है। उपन्यास में कुछ पंक्तियाँ हैं जो इस प्रकार की वैचारिकता को स्पष्ट करती हैं -

'' ...जीवन में कभी-कभी तो ऐसे पुण्य का मौका देते हैं राम ! . ऐसा सौभाग्य सबको कहाँ मिलता है।''[1]

यह कथन एक स्त्री के सती होने के समय दूसरी स्त्री द्वारा कहा गया है, जिससे उनकी कुत्सित मानसिकता का परिचय प्राप्त होता है।

यह उपन्यास एक स्त्री की पीड़ा तथा उसकी अस्मिता की कहानी कहता है।

उपन्यास की केंद्रिय पात्र सावित्री कुँवर है जो दलित समाज से है, किंतु पढ़ी-लिखी है। उच्च वर्गीय एवं पूंजीपति राय साहब का छोटा भाई सावित्री कुँवर से जबरदस्ती विवाह कर लेता है। कुछ समय पश्चात् जब राय साहब के छोटे भाई की गोली लगने से मृत्यु हो जाती है तो सावित्री कुँवर को सती होने के लिए तैयार किया जाता है। संयोग से वह अधजली अवस्था में बच निकलती है। सभी उसे सती मानकर उसकी पूजा करते हैं। वह भी अपनी पहचान समाज से छुपा कर रखती है। दिखावे के लिए वह स्वयं अपनी ही पूजा करती है। वह जानती है कि यदि उसके जीवित होने की खबर किसी को लग गई तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। किसी व्यक्ति को मृत मानकर उसकी पूजा करना तथा उसके जीवित होने का आभास पाकर उसे प्रताड़ित करने के लिए तैयार रहना, समाज की जड़ता और पाखंडपूर्ण विचारधारा को दर्शाता है। यह उपन्यास सामाजिक तथा धार्मिक कर्मकांडों को उजागर करता है। इसमें सती प्रथा जैसे अमानवीय कृत्य और पाखंड में लिपटे झूठे गौरव को दर्शाया गया है। लॉर्ड विलियम बैंटिंग और राजाराम मोहन राय के प्रयास से 1829 में सती प्रथा पर रोक लगी। उनके द्वारा किए इस महान कार्य को धर्मविरुद्ध कहकर सती प्रथा को जीवित रखने पर बल देना पाखंड और अज्ञानता की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। उपन्यास में सती प्रथा से जुड़ी कुछ पंक्तियाँ हैं जो स्त्री के साथ किए गए व्यवहार को दर्शाती है -

''कहीं भाग न जाएँ, सो औरत को मृत पति के साथ बाँध दिया जाता था, फिर थी कुछ भाग जाती अतः बाँसों से दबाकर जलती स्त्री को तब तक रखा जाता, जब तक जल न जाए।''[2]

उपन्यास में धार्मिक पाखंड के साथ-साथ स्वार्थ लोलूपता भी दिखाई देती है, जहाँ व्यक्ति अपने लाभ के लिए समाज में

पाखंड को जन्म देता है। उपन्यास के पात्र 'लाल साहब' और 'राय साहब' इसी प्रकार के चरित्र को उद्घाटित करते हैं। अपने लाभ व झूठी शान के लिए समय-समय पर सामाजिक मर्यादाओं का हनन करते हैं। समाज में अपनी झूठी शान बनाए रखने के लिए अपने घर की स्त्रियों की बलि देने से भी पीछे नहीं रहे। दूसरी स्त्रियों के साथ इन्होंने भले ही कितने भी पापकर्म किए हो किंतु इन्हें अपने घर की स्त्रियाँ धर्मपरायण और संस्कारी ही भाती हैं। उपन्यास की ये पंक्तियाँ समाज के बहुत सारे उच्च वर्गीय व्यक्तियों पर व्यंग्य करती हैं -

''...रक्त संबंधों की पवित्रता का इतना ही ख्याल है तो ये जो राजे-रजवाड़े छींटते-छिड़कते रहते हैं अपने बीज, उन औरतों में, उनसे जो लड़कियाँ पैदा होती हैं, वंश की उन गरिमाओं का क्या करते है? उद्धार करना तो दूर, पीछे मुड़ कर देखा भी कभी उन्होंने?''[3]

अत्याचार करने वाला जितना बड़ा अपराधी है, उतना ही बड़ा अपराधी अत्याचार को मूक दर्शक बनकर देखने वाला है। समाज में यदि समय रहते ऐसी कुप्रथाओं का विरोध होता तो इतनी संख्या में निरपराध स्त्रियों को जलना नहीं पड़ता। धार्मिक कर्मकांडों में ब्राह्मणवादी विचारधारा मुख्य रूप से कार्य करती रही है। निम्न वर्ग की स्त्रियों का जीवन तो और भी कठिन रहा है। जब भी उन्होंने अपने ज्ञान और मेहनत से समाज में कुछ अर्जित करने का प्रयास किया, ब्राह्मणवादी विचारधारा रखने वाले व्यक्तियों ने, सदैव उनका विरोध किया। उपन्यास में 'भँवरी देवी' नामक निम्न वर्गीय स्त्री पात्र का वर्णन है जो सरकारी योजना के तहत लोगों शिक्षित कर रही थी।

परिणामस्वरूप ऐसी ही कुंठित वैचारिकता रखने वाले व्यक्तियों द्वारा उसका सामूहिक बलात्कार किया जाता है। तत्कालीन न्याय व्यवस्था में भी स्त्रियों के प्रति निष्पक्षता नहीं दिखती। 'भँवरी देवी' के अपराधियों को दंड नहीं मिलता, क्योंकि न्यायायिक अधिकारियों का यह मानना था कि कोई ब्राह्मण व्यक्ति निम्न वर्ग की स्त्री के साथ ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकार के न्यायायिक तर्कों से न्याय की उम्मीद करना व्यर्थ है। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण इतिहास में मिल जाते हैं, जहाँ स्त्रियों को दबाने-कुचलने के लिए अनेक घृणित कार्य किए गए। लेखक के अनुसार हत्यारा मनुष्य नहीं बल्कि उसकी सोच होती है, जो तरह-तरह के प्रपंचों के माध्यम से दूसरों का शोषण करती है।

''...हिंदू-सिक्ख, हिंदू-मुस्लिम, हिंदू-इसाई, प्रांत-प्रांत में, जाति-जाति में हत्यारा कोई एक नहीं पूरा समूह है। .हिंदू हो या मुसलमान औरतों के जिस्म को बोटी-बोटी काट कर उस पर अपने धर्म और मजहब की मीनारें खड़ी करते रहो।''[4]

निष्कर्ष

इस उपन्यास में स्पष्ट होता है कि विभिन्न जाति और धर्मों में स्त्री की पीड़ा में महानता को खोजा जाता रहा है। स्त्रियों की इस पीड़ा और दुर्गति का कारण केवल पुरुष नहीं बल्कि स्त्रियाँ स्वयं भी हैं, क्योंकि वह स्वयं सती प्रथा जैसी घृणित व जड़ परम्परा की पालक रही हैं। यह उपन्यास तत्कालीन समय में स्त्री जीवन से जुड़ी सामाजिक परम्पराओं को उद्घाटित करता है।

सहायक प्रोफेसर (अतिथि संकाय)
हिन्दी विभाग
शहीद राजगुरु कॉलेज ऑफ
एप्लाइड साइंस फॉर विमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : mohitdhawan1992@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. संजीव, मुझे पहचानो उपन्यास, पृष्ठ 56
2. संजीव, मुझे पहचानो उपन्यास, पृष्ठ 129
3. संजीव, मुझे पहचानो उपन्यास, पृष्ठ 136
4. संजीव, मुझे पहचानो उपन्यास, पृष्ठ 146

सहायक ग्रंथ सूची

1. संजीव, मुझे पहचानो उपन्यास, सेतु प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2020 (2023 साहित्य अकादमी से सम्मानित कृति)
2. तद्भव पत्रिका (नवम्बर 2019) में प्रकाशित लेख अंक 40
3. मिथकों का बाजार : रत्नापट्टी, अमरदीप कुमार का लेख 'समालोचन' पत्रिका में प्रकाशित

भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण के महत्व

Dr. Binita Oraon

'आप्तोपदेश: शब्द:' (न्यायसूत्र) अर्थात् आप्त पुरुष के शब्द, उपदेश अथवा कथन ही शब्द है वेदों, पुराण, धर्म शास्त्र एवं ऋषियों इत्यादि से जिस ज्ञान की प्राप्ति हमें होती है उसे शब्द कहते हैं। यहां आप्त से कोई पुरुष भी हो सकता है या कोई ग्रंथ। आप्त शब्द आप् धातु से बना है जिसने सत्य को प्राप्त कर लिया हो या सत्य तक पहुंच चुका हो, पूर्णता विश्वसनीय हो। शब्द ज्ञान का अनिवार्य लक्षण वाचकता है। अपनी इसी 'वाचक' विलक्षण गुण के कारण शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से भिन्न है। शब्द-एक सार्थक ध्वनि जो श्रोता को स्रोत से ग्राह्य है वही शब्द है जिस ध्वनि से किसी अर्थ का बोध हो वही शब्द है शब्द के दो प्रकार हैं— 1. ध्वन्यात्मक 2. वर्णात्मक।

ध्वन्यात्मक - जैसे ढोल आदि की आवाज। वर्णात्मक - जैसे - मनुष्य की आवाज। अन्नंभट्ट का कहना है कि आप्त यर्थाथ वक्ता है, (आप्तस्तु यथार्थ वक्ता) उसका वचन प्रामाणिक है। नव्य ;न्याय में आप्तता के विचार को अस्वाभाविक माना गया है । श्री केशव मिश्र ने उपदेश को छोड़ दिया है उनका मानना है आप्त वाक्य ही शब्द प्रमाण है।[1] ऐसे ही अन्नंभट्ट ने भी आप्त वाक्य को ही शब्द प्रमाण माना है।[2] श्रीगंगेशापाध्याय का कहना है कि वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है।[3]

प्रश्न उठता है आप्त वाक्य क्या है? आप्त अर्थात् यथार्थ, वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बतलानेवाला व्यक्ति आप्त है। अर्थपूर्ण शब्दों के सहयोग से वाक्य बनता है। इस प्रकार वाक्य को सार्थक होने के लिए चार शर्तें आवश्यक हैं जैसे-आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और चौथा है तात्पर्य। यह सभी युक्त पदों का समूह है। पद अर्थात् महर्षि गौतम के अनुसारजिन वर्णों के अंत में विभक्तियांलगी होवे पद हैं।1 श्री केशव मिश्र के अनुसार वर्णों का समूह पद है।2 महर्षि वात्यायन का कहना है कि विकार को प्राप्त वर्ण विभक्ति से युक्त होने पर पद है।3 इस प्रकार ऐसे पदों का समूह शब्द प्रमाण कहलाता है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझेंगे 'सुरभि-चन्दनम' अर्थात् चंदन में सुगंध है। इस उदाहरण में वाक्य के पद में आकांक्षा योग्यता सन्निधि और तात्पर्य है। इसके कारण यह वाक्य शब्द प्रमाण है।

1. आकांक्षा -किसी भी वाक्य की सार्थकता के लिए उसके शब्दों में पारस्परिक संबंध की योग्यता होती है। एक शब्द से हम संपूर्ण वाक्य के पूरे अर्थ को नहीं जान सकते क्योंकि शब्द किसी संपूर्ण वाक्य का एक अंश होता है ना की वाक्य। उसे पूर्ण होने के लिए अन्य शब्दों की आवश्यकता रहती है जिसे आकांक्षा कहते हैं जैसे -कोई कहता है 'चलो'। उससे पूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं होता अर्थात् चलो तो कहां चलो? इस अर्थ को पूर्ण करने के लिए हमें जोड़ना पड़ता है कि 'महाविद्यालय चलो' इस प्रकार ऐसा करने से ही पूर्ण अर्थ स्पष्ट होता है जिसे आकांक्षा कहते हैं।

2. योग्यता - किसी बात की सार्थकता तभी हो सकती है जब उसमें योग्यता भी हो। योग्यता अर्थात् पदों के अर्थों में पारस्परिक विरोध का अभाव जैसे - बर्फ से लकड़ी जलाओ, आग से खींचे। इस पद समूह से वह क्या अर्थ का बोध नहीं होता। इसका मुख्य कारण पड़ा में परस्पर विरोध है। जिस प्रकार ना ही बर्फ से जलना संभव है और ना आग से सींचना। इस विरोध से वाक्यात स्पष्ट नहीं है क्योंकि पदों के अर्थ में विरोध है अत: वाक्य की सार्थकता के लिए वाक्य में आत्म

विरोध नहीं होनी चाहिए। इसे ही योग्यता की संज्ञा दी जाती है।

3. सन्निधि (आसत्ति) - सन्निधि अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पदों का उच्चारण, देशकाल के बिना होना चाहिए साथ ही साथ पदों में परस्पर सन्निधि होनी चाहिए जैसे -यदि हम 2 घंटे का अंतर देकर बोलेंगे एक...घोड़ा....लाओ, तो हमें समय के अंतराल के कारण कुछ समझ में नहीं आयेगा। वहीं पर वाक्य में सन्निधि है - एक घोड़ा लाओ।' तो वहां व्यक्ति थोड़ी ही देर में घोड़ा को ले आएगा। इसे प्रमाणित होता है कि शब्दों को एक दूसरे के समीप रहना चाहिए इसे ही सन्निधि से संबोधित करते हैं।

4. तात्पर्य - अर्थात् अभिप्राय कहने वाले अथवा लिखने वाले का अभिप्राय जानना अत्यंत आवश्यक है जैसे एक ही शब्द की अनेक अर्थ होते हैं अनेकार्थक शब्दों के लिए ही तात्पर्य ज्ञान की आवश्यकता है सभी जगह के लिए नहीं। जैसे- मान लिया जाए कोई कि कोई कहता है 'सैन्धव लाओ' किंतु सैन्धव का अर्थ घोड़ा और नमक दोनों होता है। इस अवस्था में देश-काल का प्रसंग एवं अभिप्राय जानना अति आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति अस्त्र-शास्त्र को लेकर लड़ाई के लिए प्रस्थान कर रहा है तो हमें समझना चाहिए कि वह सैन्धव लाओ से तात्पर्य घोड़ा लाओ है और यदि कोई व्यक्ति खाने के समय सैन्धव मांगे तो हमें समझना चाहिए कि वह नमक की मांग कर रहा है। इसे ही तात्पर्य से संबोधित किया जाता है।

ज्ञान के विषय के अनुसार मुकता शब्द का विभाजन दो दृष्टिकोण से हुआ है -

1. दृष्टार्थ - अर्थात् वैसे शब्द का ज्ञान जो संसार की प्रत्यक्ष की जा सकने वाली वस्तुओं से संबंधित हो जैसे - यदि हमें गुरुजी कहते हैं विश्वास में प्रसिद्ध पिरामिड मिस्र देश में स्थित है तो इस प्रकार के दृष्टार्थ शब्द प्रमाण है क्योंकि इनका प्रत्यक्ष हम मिस्र जाकर कर सकते हैं। इसे दृष्टार्थ कहेंगे।

2. अदृष्टार्थ - अर्थात् वैसी शब्द जिसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकते हैं जैसे धर्म धर्मपाप पुण्यनीति दुराचार आदि से संबंधित बातें।

ज्ञान स्रोत के अनुसार शब्द का विभाजन दो वर्गों में किया गया है-

1. वैदिक शब्द - भारत का प्राचीन साहित्य वेद है। वेद साक्षात ईश्वर की वाणी है।अत: इसमें वर्णित सभी विषयों को संशयहीन तथा विश्वासपूर्ण माना जाता है। वेद की बातों को ही वैदिक शब्द की संज्ञा दी जाती है। वैदिक शब्द के प्रकार-

1. विधि वाक्य - अर्थात् आदेश मूलक अथवा आज्ञासूचक वाक्य कहलाता है। जैसे-जो स्वर्ग पाने का इच्छुक है वह यज्ञ करें।

2. अर्थ वाक्य - अर्थात् स्तुति, निंदा, प्रकृति अथवा पुराकाल्प की अभिव्यक्ति होती है वह वाक्य अर्थ वाक्य कहलाते हैं। उदाहरण-' तमसी मा ज्योतिर्गमय'।

3. अनुवाद - अर्थात् वेदविहित वाक्यों की व्याख्या अनुवाद, पुनरावृत्ति इत्यादि वैदिक वाक्य कहलाते हैं ।

2. लौकिक शब्द - अर्थात् साधारण मनुष्य के शब्द (वचन) को लौकिक शब्द कहते हैं। इसका निर्माण स्वयं मानवकृत होते हैं। इस प्रकार लौखिक शब्द सांसारिक मनुष्य के वचन होने के कारण सत्य भी हो सकते हैं और असत्य भी ऐसे शब्द को लौकिक शब्द की संज्ञा दी जाती है।

शब्दार्थ ज्ञान के साधन

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान - कोशाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:॥

इसका अर्थ ही होता है कि शक्ति का ज्ञान, व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष की शब्द शक्ति उसके अर्थ में होती है। इसे ही शब्दार्थ संबंध या इसे ही आठ साधन कहते हैं -

1. व्याकरण - व्याकरण को व्युत्पत्तिमूलक भी कहते हैं। प्रकृति प्रत्यय के विश्लेषण से शब्द के अर्थ का ज्ञान होना ही व्याकरण है जैसे - जो पाक करता है उसे पाचक कहते हैं।

2. उपमान - सादृश्य या सामान्य के आधार पर अर्थ का निश्चय होता है उदाहरण—गो सदृश्य दिखाई देने वाला पशु ही गवय है।

3. कोष-शब्द - के अर्थ का ज्ञान शब्दकोश की सहायता से ही होता है शब्दकोश में पर्यायवाची शब्द रहते हैं। जैसे - जल-पानी, नियर, अमृत आदि।

4. आप्तवाक्य - शब्द तभी प्रमाण बनते हैं जब वह यथार्थ, वास्तविक एवं विश्वास के योग्य हो इस प्रकार विश्वसनीय व्यक्ति के कथन से ही हमें शब्द के अर्थ का ज्ञान मिलता है।

5. व्यवहार - लोक व्यवहार ही अर्थ ज्ञान है।

6. वाक्यशेष - किसी भी शब्द का प्रयोग वाक्य में होता है और वाक्य में प्रकरण या संदर्भ का महत्व है। इस प्रकार शब्दों

का अर्थ क्या है। इसका निश्चय संदर्भ से होता है।

7. विवरण - अर्थात् किसी शब्द की व्याख्या, विस्तार है। अत: विस्तार होने पर शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है।

8. सिद्ध- पद-सानिध्य हम देखते हैं कि किसी शब्द का अर्थ स्वयं स्पष्ट नहीं होता तो, वाक्य में प्रयुक्त प्रसिद्ध पद की निकटता के कारण ही उसका अर्थ स्पष्ट होता है या हो सकता है।

यहां प्रश्न उठता है कि शब्द शक्ति है,व्यक्ति में, आ ति में या फिर तीनों में ?

1. सांख्य दर्शन की मान्यता है कि शब्दार्थ व्यक्ति है (व्यक्तिवाद)।

2. जैन आचार्यों का कहना है कि शब्दार्थ आकृति है (आकृतिवाद)।

3. मीमांसा दर्शन की मान्यता है कि शब्दार्थ जाती है अर्थात् शब्दों की शक्ति केवल जाति में है (जातिवाद)।

4. शब्द के उच्चारण करने पर श्रोता को तीनों अर्थों में शब्द की शक्ति पता चलता है। इस कारण न्याय दर्शन के अनुसार व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों शब्दार्थ हैं।

5. अभिहितान्वयवाद आचार्यकुमारी भट्ट का मत है। इस मत के अनुसार वाक्यार्थ बोध शब्दबोध पर निर्भर हैं।

6. अन्विताभिधानवाद -आचार्य प्रभाकर का मत है। इस मत के अनुसार पद की शक्ति शुद्ध अर्थ में नहीं वरन अंवित संबंध युक्त अर्थ में होता है।

प्रश्न उठता है शब्द नित्य है या अनित्य ?

न्याय और मीमांसा में यह विवाद का विषय है। मीमांसा के अनुसार शब्द नित्य हैं अपितु यह सदैव विद्यमान रहता है वायु, कंठ का संयुक्त और विभाग तो उसके व्यंजकमात्र है। जैसे—क, ख, ग, घ इत्यादि शब्द हम जो सुनते हैं। यह सभी शब्द अनादि काल से आकाश में विद्यमान है। शब्दों की ना उत्पत्ति होती है और ना विनाश। जबकि न्याय दर्शन के मतानुसार शब्द आकाश का गुण है। इनका मानना है कि शब्द की उत्पत्ति होती है और शब्द का विनाश भी इस कारण शब्द और अनित्य है। इनका मानना है कि शब्दनित्य होते तो क्रिया के पूर्व भी प्रत्यक्ष होते हैं परंतु ऐसा नहीं होता जैसे-नगाड़े के पीटने पर ही आवाज शब्द सुना जाता है। इस प्रकार दो वस्तुओं के सयोगज होने से शादी और अनादि नहीं।

न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि के अनुसार शब्द स्वतंत्र प्रमाण है। शब्द प्रमाण को स्वीकार करने वाले न्यायिकों का कहना है कि और अतीन्द्रिय विषयों जैसे-स्वर्ग, देवता, अपूर्व आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान आदि से नहीं हो सकता इन सभी विषयों का ज्ञान आप्तपुरुष की उपदेश से ही प्राप्त होता है। इस कारण शब्द अनुमान का अंग नहीं हो सकता कोई भी शब्द को सुनने के बाद उपस्थित अर्थों का भी अनुमान मानना होगा। जो उन शब्दों से उपस्थित नहीं होते बल्कि दूसरे साधनों से उपस्थित होते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि शब्द सुनने के बाद उसे शब्द से उपस्थित अर्थों के परस्पर संबंध का ज्ञान केवल शब्दों द्वारा ही हो सकता है। अत: शब्द स्वतंत्र प्रमाण है सभी शब्द ज्ञान यथार्थ नहीं होता अत: शब्द को प्रमाणित तभी समझ जाता है जब इसके द्वारा यथार्थ ज्ञान मिलता है। चार्वाक, बौं और वैशेषिक के अनुसार शब्द स्वतंत्र प्रमाण नहीं है क्योंकि इनका अंतर भाव प्रत्यक्ष ,अनुमान आदि में होता है। इस कारण इसे पृथक प्रमाण मनाने की आवश्यकता नहीं। शब्द प्रमाण नहीं तो शब्द प्रयोग की सार्थकता भी नहीं। इस प्रकार प्रमाण के रूप में शाब्दिक प्रमा के खंडन के अनेक प्रयासों के बाद प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण को महत्वपूर्ण स्थान मिला। इस प्रमाण की विशेषता इसकी ध्वन्यात्मकता अथवा वाचकता में समाहित है इस कारण यह वाक्यार्थ ज्ञान कहलाता है शब्द प्रमाण के अतिरिक्त अन्य और किसी भी प्रमाण के लिए वाक्यार्थ ज्ञान आवश्यक नहीं। यही शब्द प्रमाण की प्रमुख विशेषता है।

Assistant Professor
Department of Philosophy
K.S. College, Seraikella (K.U.)

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, डॉ. बी. एन : प्रमाण परिचय (वैदिक और बौद्ध न्याय), आशा प्रकाशन वाराणसी 1994
2. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2012
3. सिन्हा, डॉ . नीलिमा : भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2005
4. निगम, डॉ. शोभा : भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011
5. पट्टोपाध्याय, श्री सतीशचंद्र : भारतीय दर्शन, पुस्तक भंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना 1994
6. दत्त, श्री धीरेद्रमोहन :

भारतीय ज्ञान परम्परा और अथर्ववेद

डॉ. धनेश कुमार सुमन

शोध-सार

भारत की सनातन एवं शाश्वत परम्परा को आज सम्पूर्ण विश्व अपना रहा है। इस बदलती वैश्विक परिस्थिति में हमें और हमारी भावी पीढ़ियों को भी भारत की प्राचीन मूल्यों से परिचित कराना होगा एवं यथोचित इसके महत्त्व देना होगा। इसके लिए आंतरिक ज्ञान, गुण, शक्ति, मूल्य एवं आदर्शों को ठीक से पहचानना एवं सही दिशा प्रदान करना होगा। प्राचीन भारतीयों के द्वारा अविष्कृत विचारों एवं तकनीकों का आधुनिक विज्ञान प्रौद्योगिकी की मूलाचार को दृढ़ करने में अद्‌भुत योगदान रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के आलोक में प्राचीनतम भारतीय ज्ञान परम्परा और विरासत एवं सनातन मूल्यों को आधुनिक शैक्षणिक पद्धति एवं व्यवस्था में समाहित करने का संकल्प किया गया है। भारतीय ज्ञान परम्परा वैदिक काल, उपनिषद काल से लेकर बौद्ध काल तक जो देखने को मिलती है, उसका लोप विगत 400-500 वर्षों में हुआ है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में अध्यात्म को विज्ञान से, परमार्थ को व्यवहार से, परंपरा को आधुनिकता से जोड़ते हुए वैयक्तिक, सामाजिक एवं वैश्विक जीवन में समरसता के लिए एकता के सूत्र को खोजने का प्रयास है उसी दिशा में यह शोध पत्र प्रकाश डालने का प्रयास कर रहा है।

ऋग्वेद आदि चारों वेद में अथर्ववेद की क्या स्थिति है, उन पर विचार प्रारंभ करते हैं।

वेद ज्ञान के अक्षयनिधि के रूप में माने जाते हैं। इसीलिए चारों वेदों के सम्बन्ध में अन्य अनेक उक्तियों के साथ भगवान मनु ने भी कहा है—'सर्वज्ञानमयो हि सः।'[1] तथा सर्व वेदात्प्रसिद्धति।[2]

कुछ विद्वान् शुरू में वेदत्रयी का अस्तित्व ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार अथर्ववेद की वेद के रूप में गणना परवर्ती काल में हुई। यदि यह मान भी लिया जाये कि अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा अर्वाचीन है, तो भी प्रश्न होता है कि, अथर्ववेद को ऋग्वेदादि के साथ क्यों ग्रहण करते हैं? इससे सिद्ध है कि अथर्ववेद ऋग्वेदादि के ही समतुल्य है। विद्वान् मानते हैं कि ''तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः।''[3] और ''ऋचां त्वः पोषमास्तेपुपुष्यान्''[4] इत्यादि मन्त्रों में अथर्ववेद का ही उल्लेख है।

ऋग्वेद आदि चारों वेद ऋग्वेद, (यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस) है। अथर्वा और अङ्गिरा इस वेद से सम्बद्ध दो ऋषि हैं। अथर्वा नाम ऋग्वेद में भी कई मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है।[5]

अथर्ववेद के दो अन्य नाम भी हैं, भृग्वङ्गिरोवेद तथा भृगुवेद।[6] जैसे अङ्गिरा का सम्बन्ध अग्नि से है वैसे ही भृगु का सम्बन्ध भी अग्नि से ही है। भृगु को अभिचारादि कर्मों के द्वारा आपत्तियों का शमन करने वाला बताया गया है।[7]

अथर्ववेद का एक नाम क्षत्रवेद भी है। क्षत्रियों तथा राजाओं व राजनीति से सम्बद्ध तत्त्वों की विद्यमानता के कारण इस वेद का यह नाम पड़ा है। अथर्ववेद में हमें न केवल सभा, समिति, विशः, राज्य, राष्ट्र आदि शब्द प्राप्त होते हैं, प्रत्युत इन तत्त्वों की विशेषताएं, राजा का निर्वाचन, युद्धनीति आदि के सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में उक्थम् (ऋग्)-यजुस्, साम और क्षत्रम् का उल्लेख है।[8] इससे भी स्पष्ट होता

है कि चौथा वेद क्षत्रम् के नाम से पठित अथर्व ही है। किन्तु यह नाम एक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है।

अथर्ववेद में उपचार आदि का प्रभूत मात्रा में वर्णन होने से इसका भिषग्वेद भी नाम पड़ा प्रतीत होता है। आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद को ही माना जाता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद का कहा गया है। अथर्ववेद में भी अथर्व के लिए भेषज शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9] यहां भेषज शब्द ऋगादि तीनों वेदों के साथ पठित होने से चौथे अथर्ववेद का ही द्योतन करता है।

अथर्ववेद का एक अन्य नाम भी प्राप्त होता है, जो कि छन्दोवेद के नाम से प्रसिद्ध है। अथर्ववेद में ही अन्य तीनों वेदों के साथ छन्दांसि कहकर अथर्ववेद को संकेतित किया गया है। ''ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।'' गोपथ ब्राह्मण में भी अथर्ववेद को छन्दोवेद कहने का कारण स्पष्ट किया गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद में सभी छन्द हैं।[10] पुरूष सूक्त चारों वेदों में प्राप्त है, उसका मन्त्र भी इस छन्दोवेद की पुष्टि करता है।

ब्रह्मवेद के नाम से भी अथर्ववेद को जाना जाता है। इसका आधार ब्रह्मनामक ऋषि के साथ अथर्ववेद के बहुत से सूक्तों का सम्बन्ध है। ब्रह्मा पुरोहित अथर्ववेद का ज्ञाता ही होता है।[11] यागादि कर्मों को विधिवत् सम्पन्न कराने का उत्तरदायित्व ब्रह्मा का ही होता है।

सम्पूर्ण त्रयी विद्या ब्रह्मा की कार्य साधिका है। अथर्ववेद संहिता के अध्ययन के बिना समग्र त्रयी विद्या का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें होता, अध्वर्यु, और उद्गाता के द्वारा व्यवहार्य मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य ऋचाएं यजुष् तथा दूसरे मन्त्र भी हैं।

इसीलिए ''ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्.''[12] मन्त्र की व्याख्या करते समय आचार्य यास्क ने भी कहा है कि – ''ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्ववेदितुमर्हति'' ब्रह्मा, सभी वेदों का ज्ञाता होता है, वह सब जान सकता है। अथर्ववेद का ज्ञाता ही ब्रह्मा होता है। और वही यज्ञ की सब प्रकार से रक्षा कर सकता है। गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि वही विद्वान् यज्ञ की रक्षा कर सकता है, जो भृगु और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रों का ज्ञाता है, समधीत है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, उसके शरीर में न तो कोई अंग अधिक हो और न ही कोई कम, वह प्रमादरहित होना चाहिए। जैसे- अगाध जल में नाव डूब जाती है, वैसे ही ब्रह्मा के प्रमाद असान्निध्य और अयोग्यता से यज्ञ डूब जाता है। इसीलिए यजमान को चाहिए कि वह भृग्वङ्गिरोविद् अर्थात् अथर्ववेदी को ही ब्रह्मा बनाये। वही यज्ञ को पार लगाता है।[13]

सामवेदी भी ब्रह्मा को यज्ञ-वैद्य मानते हैं—''भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यज्ञ एवंविध ब्रह्मा भवति।'' सामवेद भाष्य भूमिका में सायणाचार्य का भी कथन है-''त्रयाणामपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा।'' अन्य तीन ऋत्विजों की त्रुटियों का निवारण ब्रह्मा ही करता है। ब्रह्मा के लिए यह और तभी सम्भव है जब उसे निश्चित रूप से चारों वेदों का ज्ञान हो, समग्र त्रयीविद्या से भलीभांति परिचित हो।

गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्द्ध में भी कहा गया है कि – ऋग्वेदज्ञ को होता बनाओ, यजुर्वेदज्ञ को अध्वर्यु, सामवेदज्ञ को उद्गाता और अथर्ववेदी को ब्रह्मा बनाओ।

प्रजापति ने यज्ञ का विस्तार किया, उन्होंने ऋग्वेद से होता का कार्य सम्पन्न किया, यजुर्वेद से अध्वर्यु का और सामवेद से उद्गाता का तथा अथर्ववेद से ब्रह्मा का।[14]

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि ''ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्यु सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा'' अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा नियुक्त करें।

अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ''अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' अथर्वाङ्गिरोविद ब्रह्माणम्।'' अर्थात् अथर्ववेद से ब्रह्मा होता है। अथर्ववेद को जानने वाला ब्रह्मा होता है।

अथर्ववेद में लिखा है कि जब व्रात्य सर्वोत्कृष्ट दिशा को चला तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद उसके पीछे चले। जो व्रात्य इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है, वह ऋचाओं, साममन्त्रों, यजुर्मन्त्रों व अथर्वमन्त्रों का प्रिय आश्रय होता है।[15]

ब्रह्मा के कार्य निर्वाह हेतु अथर्ववेद के अध्ययन का विशिष्ट प्रयोजन ऋगादि अन्य वेदों का अध्ययन किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अतः अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले को ऋग्वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्ववेद से ही होती है इसलिए अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद भी रखा गया है। गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि ''चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदो, ब्रह्मवेदः।''[16]

उपर्युक्त समस्त प्रमाण और अन्तर्निहित अर्थ यह प्रमाणित

करते हैं कि अथर्ववेद का दूसरा नाम ब्रह्मवेद एक तो ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने के कारण और दूसरे ब्रह्मा पुरोहित की नियुक्ति का आधार होने के कारण पड़ा प्रतीत होता है।

अथर्ववेद 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 मन्त्रों का संग्रह है। इस वेद की नौ शाखाएं प्रसिद्ध हैं।[17]

इन शाखाओं में से दो ही आजकल उपलब्ध होती हैं। पैप्पलाद और शौनकीय। इन दोनों में भी शौनकीय संहिता का अधिक प्रचार है। अथर्ववेद का ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथ ब्राह्मण प्राप्त है। इस वेद के आरण्यक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अथर्ववेद का अथर्ववेद प्रतिशाख्य प्राप्त है। अथर्ववेद के वैतानश्रौतसूत्र तथा कौशिक सूत्र प्रसिद्ध हैं।

अथर्ववेद की विभिन्न शाखायें-

सर्वप्रथम वेदव्यास जी ने अथर्व का अध्ययन अपने शिष्य 'सुमन्तु' को कराया इन्होंने इसकी शाखा कर अपने शिष्यों को दीक्षा दी और शिष्यों ने अपने शिष्यों को इस प्रकार अथर्ववेद की कई शाखायें हो गईं।

'पस्पशाह्निक महाभाष्य' में 'पतञ्जलि' ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है।[18]

'चरणव्यूह' और 'सायण' की 'अथर्ववेद भाष्य भूमिका' में भी अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। संख्या में भेद न होते हुए भी इनके नामों में बहुत अन्तर है।

अथर्ववेद भाष्य

भूमिका के अनुसार 9 शाखायें निम्न हैं- 1. पैप्लाद, 2. तौद, 3. मौद, 4. शौनकीय, 5. जाजल, 6. जलद, 7. ब्रह्मवेद, 8. देवदर्श, 9. चारणवैद्ध।

'अथर्वपरिशिष्ट चरणव्यूह' में भी 9 शाखाओं के यही नाम दिये गये हैं। इसमें तौद के स्थान पर 'स्तौद पाठ' है।[19] अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय 20 में अथर्ववेद की 5 शाखाओं का उल्लेख है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है।[20]

वर्त्तमान समय में अथर्ववेद की दो शाखायें 'शौनक' और 'पैप्पलाद' ही प्रसिद्ध हैं। शौनक शाखा पर अधिक भाष्य मिलता है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध साहित्य-

अथर्ववेद का निर्माणकाल ऋग्वेदादि संहिताओं के समकालीन हुआ हो या पश्चादवर्तीकाल में हुआ हो लेकिन उसमें चित्रित संस्कृति से मानव समाज के आरम्भिक युग का प्रकटीकरण होता है। प्राचीन समाज में ऐसी बहुत सी क्रियाएँ विश्वास व अनुष्ठान थे जिनका वर्णन वैदिक-साहित्य में अथर्व-संहिता में ही प्राप्त होता है- शत्रुओं पर विजय पाने, क्लेश देने वाले रोगों को दूर करने के लिए, सद्योजात बालकों व उनकी माताओं का कष्ट देने वाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए बहुत से अभिचारों का उल्लेख मिलता है। जादू-टोना का प्रचार आथवर्ण युग की विशेषता है।

यह जादू (यातु) भी दो प्रकार का होता है- शोभन व अशोभन जिसे अथर्वन् का 'शिव' और घोर पक्ष भी कहा जाता है।

1. शोभन प्रकार का जादू (शिव पक्ष) में किसी दूसरे द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने का विधान है।
2. अशोभन प्रकार का जादू (घोर पक्ष) में इसे अंग्रेजी में ब्लैक मैजिक के नाम से जाना जाता है, शत्रु विशेष के ऊपर मारण, मोहन एवं उच्चाटन आदि के कर्म प्रधान होते हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण- इसके दो ब्राह्मणों के नाम प्राप्त हैं- 1. गोपथ ब्राह्मण 2. पैप्पलाद ब्राह्मण

जिनमें से शौनकीय शाखा का एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ 'गोपथ ब्राह्मण' उपलब्ध होता है। पैप्पलाद शाखा का पैप्पलाद ब्राह्मण का केवल नामोल्लेख प्राप्त है ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

1. गोपथ ब्राह्मण

इसके दो भाग हैं। पूर्व गोपथ और उत्तर गोपथ। उत्तर गोपथ में 6 प्रपाठकों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है। पूर्व गोपथ में 135 कण्डिकाएँ हैं और उत्तर गोपथ में 123 कण्डिकाएँ हैं। कण्डिकाओं का सर्वयोग 258 है।

2. पैप्पलाद ब्राह्मण

प्रपञ्चहृदय का कथन है पैप्पलाद संहिता का पैप्पलाद ब्राह्मण भी था। इसमें आठ अध्याय थे।[21] वेङ्कमाधव ने अपने 'ऋग्वेद भाष्य मण्डल 8.1' की अनुक्रमणी में लिखा है कि 'ऐतरेय' हमारा ब्राह्मण है और 'पैप्पलाद' आथर्वणों का।[22] यह ब्राह्मण अप्राप्य है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है।

अथर्ववेदीय उपनिषद्-

अथर्ववेद की प्रमुख तीन उपनिषदें हैं। इनमें से 'पैप्पलाद शाखा' की 'प्रश्नोपनिषद्' है। 'शौनकीय शाखा' की दो उपनिषदें हैं- 'मुण्डकोपनिषद्' और 'माण्डूक्योपनिषद्'।

'मुक्तिकोपनिषद्' में उपनिषदों की संख्या 108 उल्लिखित है।[23] इनमें से 10 उपनिषदें ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, 19 शुक्ल यजुर्वेद से 32 कृष्ण यजुर्वेद से, 16 सामवेद से और 31 अथर्ववेद से। 'मुक्तिकोपनिषद्' में अथर्ववेद से सम्बद्ध 31 उपनिषदों का उल्लेख प्राप्त है।[24]

अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य और शिक्षा ग्रन्थ-

अथर्ववेद प्रातिशाख्य के तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

1. अथर्व प्रातिशाख्य या शौनकीय चतुराध्यायिका का सम्पादन डब्ल्यू.डी. व्हिटने ने किया है।
2. अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र यह श्री विश्वबन्धुशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।
3. अथर्वप्रातिशाख्य इसका सम्पादन डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री ने किया है।
4. माण्डूकी शिक्षा यह अथर्ववेद से सम्बद्ध शिक्षा ग्रन्थ है। इसमें 179 श्लोक है इसमें अथर्ववेद के स्वरों और वर्णों के ज्ञान की विधि दी हुई है।

अथर्ववेदीय कल्पसूत्र-

अथर्ववेद के पाँच कल्पसूत्रों का उल्लेख आचार्य सायण ने अथर्वभाष्य भूमिका में किया है।[25] 1. वैतानश्रौत्रसूत्र, 2. कौशिकसूत्र, 3. नक्षत्रकल्प, 4. अङ्गिरसकल्प, 5. शान्तिकल्प।

1. **वैतान श्रौत्रसूत्र**- इसकी प्राचीनता संदिग्ध है। यह परवर्ती ग्रन्थ माना जाता है वैतान का अर्थ है- तीन अग्नियों के वर्णन वाला ग्रन्थ। यह गोपथ ब्राह्मण पर आधारित है। इसमें आठ अध्याय हैं जो कण्डिकाओं में विभक्त हैं। कात्यायन श्रौत्र-सूत्र का प्रभाव भी इस पर पड़ा है।
2. **कौशिक गृह्यसूत्र**- यह अथर्ववेद का गृह्यसूत्र है। इसमें विभिन्न संस्कारों का वर्णन है। इसमें अथर्ववेदीय यातुविद्या का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है। इसके द्वारा अथर्ववेद के विविध कृत्याप्रयोगों आदि का ज्ञान होता है। इसमें 14 अध्याय हैं। इस पर केशव और दारिल की व्याख्यायें भी हैं। इसके अभाव में अथर्ववेद का रहस्य प्रकट नहीं होता है।
3. **नक्षत्रा कल्प**- इसमें तीन महाशक्तियों का वर्णन किया है जिसमें अमृताशान्ति, आदिम और अभयाशान्ति अन्तिम है।
4. **अङ्गिरसकल्प**- इसमें त्या प्रयोगों के काल स्थान आदि का निर्देश और त्या-परिहार के उपाय बताये गये हैं।
5. **शान्तिकल्प**- इसमें ग्रहादि के दुष्परिणामों के वारणार्थ यज्ञादि का वर्णन है।

सहायक शिक्षक
उत्क्रमित उच्च विद्यालय
सोलरा, परैया, गया (बिहार)

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति - 217
2. मनुस्मृति - 12.67
3. यजु. सं.- (31.7)
4. ऋग्. सं.- (10,71,11)
5. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्ते।
6. त्वामग्ने भृगवो नयन्तामङ्गिरसः सदनं श्रेय एहि। कौ सू. - 137.24.
7. एते हवा अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारो यद् भृग्वङ्गिरसः।। कौ.सू. 64.2.4.
8. क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रम् प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते। - बृ.उ. 5. 13.1 4
9. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वहंसः।। - अथर्व. सं.- 11.6.14
10. अथर्वणां सर्वाणि छन्दांसि। - गो. ब्रा. 1.26
11. अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्। - गो. ब्रा. 3.2
12. ऋ. सं. 10.71.11.
13. ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोविद् सम्यगधीयानश्चरित ब्रह्मचर्यो न्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादात् यदि वाऽपि असान्नैध्यात् यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत् तस्मात् यजमानो भृग्वङ्गिरसमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात् स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्॥ - गोपथ ब्राह्मण
14. प्रजापतिर्यज्ञमतनुत, स ऋचैव हौत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यवम् साम्नौद्गात्रम, अथर्वाङ्गिरोभिब्रह्मत्वम्॥
- गो. ब्रा. - 3.2.
15. तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्॥
16. गो. ब्रा. - 2.16.
17. नवधाथर्वणो वेदः। महाभाष्य पश्पशाह्निक।
ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ - अथर्व. सं.- 15.6.8.
18. 'नवधाथर्वणो वेदः'-पतञ्जलि महाभाष्य
19. अथर्व. भाष्य-भूमिका, अथर्व परिशिष्ट पृ. 93
20. 'साम्नां शाखाः सहस्त्रां स्युः पञ्च शाखा ह्यथर्वणाम्-अहिर्बुध्न्य संहिता 12.9, 20.21

21. तथाथर्वणिके पैप्पलाद शाखायां मन्त्रो विंशतिकाण्डः। तद् ब्राह्मणमध्यायाष्टकम्-प्रपञ्चहृदय
22. ऐतरेयमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्-वेङ्कटमाधव
23. विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ-मुक्ति., 2.2
24. प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यार्थवशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबाल-नृसिंहतापिनीनारदपरिव्राजकसीता-शरभमहानारायण-रामरहस्यरामतापिनीशाण्डिल्यपरमहंसरिव्राजकान्नपूर्णासूर्यात्म-मुक्तिकोपनिषद् (1.5)
25. तानि च सूत्राणि कौशिकम्, वितानम्, नक्षत्रकल्पः, अङ्गिरसकल्पः, शान्तिकल्पश्चेति।, अथर्व. भाष्य भूमिका-सायणाचार्य, पृ. 23

कृष्णभक्त मुसलमान कवयित्रियाँ : एक अध्ययन

हेमंत कुमार

मध्यकालीन उत्तर भारत में राजनैतिक रूप से जो दौर मुगल काल है वही कमोवेश सांस्कृतिक-साहित्यिक रूप से भक्तिकाल व रीतिकाल भी माना जाता है। इसमें भक्तिकाल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भक्ति आंदोलन इतना व्यापक एवं मानवीय था कि इसमें हिंदुओं के साथ मुसलमान भी आ जुड़े। भक्ति आन्दोलन भाषा की दीवारें तो तोड़ता ही है साथ ही मजहब की दीवारों को भी चटकाते हुए आगे बढ़ता है। मुसलमान कवियों और कवयित्रियों का एक पूरा कुनबा इस भक्ति आन्दोलन में शिरकत करता हुआ पाया जाता है। ये कृष्ण-भक्ति की ओर ज्यादा मुखातिब हुए। इनके कृष्ण भक्ति की ओर उन्मुख होने का मुख्य कारण था कृष्ण काव्य की कमनीयता और कृष्ण का लीलाधारी रूप। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञों ने मध्यकालीन हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवयित्रियों का वर्णन किया है जिनमें मुख्यत: ताज बेगम, शेख रंगरेजन, रूपवती बेगम, मुश्तरी बाई और सुंदरकली आदि का नाम आता है। इनमें कुछ मुसलमान कवयित्रियों की रचनाएँ कृष्ण भक्ति से सराबोर हैं। इन पाँचों का जिक्र श्री गंगाप्रसाद विशारद द्वारा लिखित 'हिंदी के मुसलमान कवि' नामक पुस्तक में है। इनके अतरिक्त गौहर बानू, जहांआरा बेगम, जैबुनिशा बेगम व पीरजादी ने भी कृष्ण भक्ति में स्फुट काव्य रचे हैं। हालाँकि इनकी अभी तक कोई रचना देखने को नहीं मिली है। अत: इन कृष्ण भक्त मुसलमान कवयित्रियों के साम्य वैषम्य को परखते हुए इनके व्यक्तित्व और कृतित्व को जानना हमारा अभीष्ट है।

ताज बेगम मुगल दौर की एक प्रमुख कृष्ण-भक्त मुसलमान कवयित्री थीं। कई स्रोतों में इन्हें सम्राट अकबर के समकालीन माना जाता है तो कई स्रोत इन्हें बादशाह औरंगजेब के समकालीन बताता है। आम जनमानस में व्याप्त मान्यता के अनुसार यह एक मुगल शाहजादी थी तो वहीं कुछ लोग इन्हें अकबर की बीबी भी मानते हैं। वचनेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'भगवत भक्त मुस्लिम कवि और संत फकीर' नामक अपनी पुस्तक में 'ताज को ईरान का मूलनिवासी और कवि रसखान की बहन बताया है।'[1] शिव सिंह सेंगर, मिश्र बंधू आदि ने भी इनका जिक्र हिंदी साहित्य के इतिहास में किया है तथा रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इनकी चर्चा की है। आगे भी इनकी उपस्थिति कृष्ण-भक्त कवयित्री के रूप में हिंदी की पुस्तकों में रही है। किन्तु यह कवयित्री हिंदी साहित्य के मर्मज्ञों का उतना स्नेह नहीं पा सकी जिसकी ये अधिकारिणी थीं। कृष्ण प्रेम में डूबने के बाद इनका स्थायी निवास-स्थल वृंदावन रहा और वहीं वनखंड के रमणरेती क्षेत्र में इनकी समाधि भी है। वृंदावन के श्रीनाथ जी के मंदिर में इन्होंने कृष्ण-भक्ति अंगीकार किया।

दरअसल ताज बेगम हिंदी साहित्येतिहास की एक अबूझ पहेली हैं। उनका काव्य विराट हिन्दू-चेतना का प्रतिफलन है, जो अपनी जड़ों से जुड़ना चाहती हैं। ताज बीबी का आगमन मध्यकाल की सीमाओं पर एक चोट है। मध्यकाल में कई मुसलमान कृष्ण-भक्त हुए हैं चाहे वो रसखान हों, जान कवि हो, शेख हों या जमाल पर किसी में इतना साहस नहीं कि वो ये कह सकें कि मैं कृष्ण-प्रेम में नवाज भुलाकर, कलमा-कुरान त्यागकर, इस्लाम छोड़कर हिन्दू हो जाने को तैयार हूँ। किन्तु मुसलमान स्त्री होने के बावजूद, तथाकथित मुगल खानदान से तालुक रखने के बावजूद कृष्ण-प्रेम में ताज बेगम ने जो कहा

वह केवल एक असांप्रदायिक रचनाकार ही कह सकता था। रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में यदि कहें तो इन कवियों ने कृष्ण-भक्ति, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रति ऐसी निर्मल, प्रगाढ़ और निश्छल श्रद्धा व्यक्त की है कि वह कविता का स्वतंत्र विषय हो उठी। ताज का वह कवित्त इस प्रकार है :–

''सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहौंगी मैं
देव-पूजा ठानी मैं, निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान, सारे गुनन गहौंगी मैं
स्यमला सलोना सिरताज सिर कुल्ली दिए,
तेरे नेह-दाग में निदाग हो दहौंगी मैं
नंद के कुमार कुरबान तेरी सूरत पे
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुवानी हो रहूंगी मैं''[2]

ताज सहित गौहर बानो, रूपमती बेगम, जहाँआरा बेगम, जैबुन्निशा बेगम, शेख रंगरेजन, मुस्तरी बाई और सुंदरकली जैसी कृष्ण-भक्त मुसलमान कवयित्रियों का मूल्यांकन दार्शनिकता लौकिकता के सरणियों में किया जाना चाहिए। ताज बीबी पर चर्चा के उपरांत अन्य मुसलमान कृष्णभक्त कवयित्रियों की पृष्ठभूमि, रचना और भक्ति चेतना का विहंगमविलोकन करना उचित रहेगा। ताज बीबी और गौहर बानू से सम्बंधित सूचना का एक महत्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत वार्ता साहित्य है—गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता।

गौहर बानू भी मध्यकाल की एक कृष्णभक्त मुसलमान स्त्री थीं। हरिराय जी कृत गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता के अनुसार गौहर बानू मनिहारिन थी। विट्ठलनाथ जी के कालखंड से सम्बद्ध होने के कारण गौहर बानू का कालखंड भी 16वीं शताब्दी ई. का ठहरता है। हरिराय जी कृत गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता के अनुसार एक बार गौहर बानो चूड़ी बेचने के लिए आचार्य श्री विट्ठलनाथ जी महराज के घर गई। विट्ठलनाथ के सात पुत्र थे और सात पुत्रवधु। गौहर बानो ने सबको चूड़ियाँ दिखाई और सबको चूड़ियाँ पहनाई। उनमें से एक स्त्री का हाथ अलौकिक था। उसका रूप भी दिव्य था। उसे चूड़ी पहनकर गौहर बानो अत्यंत प्रसन्न थी। जब सबको चूड़ियाँ पहनाकर गौहर बानो अपना काम खत्म कर चलने को हुई तो बाहर द्वार पर विट्ठलनाथ जी ने पूछा कि कितना हुआ। तो गौहर बानू ने आठ स्त्रियों को चूड़ियाँ दिए जाने की बात कही। इस पर विट्ठलनाथ जी ने कहा कि मेरे तो सात पुत्र और सात पुत्र वधुएँ ही हैं। आठवीं स्त्री कौन हैं? इस पर गौहर बानो ने जिस अलौकिक और दिव्य रूप का बखान किया, वैसी स्त्री घर में कोई थी ही नहीं। तब उसे एहसास हुआ कि ये तो स्वयं भगवान कृष्ण चूड़ियाँ पहनकर चले गये। अत: उस पल से उस रूप और स्पर्श को याद कर वह दहाड़े मारकर रोने लगी और आजीवन कृष्ण भक्ति में लीन हो गई। ये कृष्ण की सहृदय उपासिका हुई। अभी तक गौहर बानो की कोई प्रमाणिक रचना प्राप्त नहीं हुई है।

गंगा प्रसाद विशारद की पुस्तक हिन्दी के मुसलमान कवि में एक मुसलमान भक्त कवयित्री के रूप में एक उल्लेख रूपमती बेगम का आता है। रूपमती बेगम का जन्मस्थान वर्तमान मध्यप्रदेश के उज्जैन के निकट 16वीं सदी के मालवा क्षेत्र में था। रूपमती रूपाजीवा थीं। संगीत प्रवीण थी और कविता दक्ष थी। श्रुति है कि इन्हीं गुणों के कारण तत्कालीन मालवा के अफगान नवाब बाज बहादुर रूपमती से अनुरक्त हो गये। उस समय दिल्ली में अकबर का शासन था। अकबर ने मालवा पर आक्रमण का आदेश अहमद खां को दिया। अफगान सरदार बाज बहादुर मुगल बादशाह अकबर की सेना से हार गया और भाग गया। बाज बहादुर की बेगम 'रूपमती' मुगल सरदार अहमद खान के कब्जे में आ गई। अहमद खान ने रूपवती बेगम को अपना बनाना चाहा पर रूपवती बेगम ने इनकार कर दिया। रूपवती बेगम बाजबहादुर से प्रेम करती थीं। अहमद खान के लगातार दबाब को झेल न सकी। बाज बहादुर के प्रति एकनिष्ठ रूपमती बेगम ने अधम खान और अकबर के अनैतिक कामेच्छा से असहमति व्यक्त की और मृत्यु को गले लगा लिया। मृत्यु के आलिंगन से पूर्व रूपमती ने एक दोहा लिखा –

'रूपवती' दुखिया भई बिना बहादुर बाज
सो अब जियरा तजति है, यहाँ नहीं कछु काज।[3]

श्री गंगा प्रसाद विशारद जी के अनुसार उपरोक्त दोहे के अतिरिक्त रूपवती बेगम का और कोई काव्य देखने को नहीं मिला है। परन्तु यह सत्य नहीं है। रूपमती बेगम एक ऐतिहासिक पात्र हैं। रूपमती बेगम का उल्लेख समकालीन साहित्यिक साक्ष्यों में उपलब्ध है। मुगल दरबारी इतिहास अबुल फजल कृत अकबरनामा, आईने अकबरी तथा अन्य परवर्ती साहित्य मुन्ताख्व-उत-तवारीख आदि में भी हुआ है। वर्तमान में मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र के मांडू के किले में रूपमती बेगम का महल भी स्थित है। इस किले को अफगान सरदार बाज

बहादुर ने बनवाया था। कहने का तात्पर्य यह कि रूपमती बेगम साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों दृष्टियों से एक ऐतिहासिक चरित्र हैं। साक्ष्यों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि रूपवती बेगम जन्म से हिन्दू स्त्री थीं लेकिन अफगान सरदार बाज बहादुर से प्रेम के बाद वह मुसलमान बनी परन्तु अपने हिन्दू संस्कार नहीं भूली। रूपवती बेगम नृत्य संगीत एवं काव्य में निपुण थी। यद्यपि रूपमती बेगम का हिन्दी में लिखा हुआ मात्र तीन रचनाएँ ही मिल पाता है। 1599 ई. में अहमद-अल-उमरी ने रूपवती बेगम के 26 पदों का फारसी अनुवाद संगृहीत किया था। ध्यान देने योग्य है अहमद-अल-उमरी का यह संग्रह सन् 1599 ई. का है और रूपमती बेगम का देहांत सन् 1561 ई में हुआ था। दोनों के बीच अठाईस वर्ष का अंतर है। अठाईस वर्ष का मात्र यह अंतर अहमद अल उमरी के संग्रह को प्रमाणिक बनाता है। रूपमती बेगम के ये तराने मालवा के लोक जीवन का हिस्सा रहे हैं। रूपमती बेगम के ये तराने किसी तरह से अहमद-अल-उमरी तुर्कमान के वंशजों के पास सुरक्षित रहा। यह पांडुलिपि बाद में सी.ई लुआर्ड तक पहुँची। सन् 1926 में एल.एम क्रम्प ने एक पुस्तक लिखी। पुस्तक का नाम है - 'द लेडी ऑफ द लोटस: रूपमती, क्वीन ऑफ मांडू: ए स्ट्रेंज टेल ऑफ फेथफुलनेस'। यह पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन सन् 1926 ई. में प्रकाशित हुई। अहमद अल उमरी के वंशजों से प्राप्त पांडुलिपि और मेजर लुगार्ड से प्राप्त तथ्यों का उपयोग आधार सामग्री के रूप में करती है। इस प्रकिया में रूपमती बेगम के कुल 26 पद उपलब्ध होते हैं। रूपवती बेगम की रचनाओं में कृष्ण भक्ति का वह रूप नहीं दिखता है जो ताज बेगम या शेख रंगरेजन की रचनाओं में उपस्थित है। रूपमती बेगम की कवितायें भक्तिकाल में विशुद्ध प्रेमजनित भावना से अपने अंत:पटल का चित्रण करती हुई राधा-कृष्ण के स्वर्णिम प्रेम की भांति स्वछंद है।

जहाँआरा बेगम भी फारसी में कवितायें करती थीं। दो पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक है ऐनी क्रेइगर क्रनिकी की द कैप्टिव प्रिंसेस - डॉटर ऑफ औरंगजेब। पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन से, 2005 ई में प्रकाशित हुई है। दूसरी पुस्तक है एलिसन बुश की पोएट्री ऑफ किंग्स। यह ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन से 2011 ई. में प्रकाशित हुई है। ये दोनों पुस्तकें संकेत देती हैं कि मुगल हरम के महिलाओं के बीच मीरा के पदों की उपस्थिति रही है। मैनेजर पाण्डेय की एक सम्पादित पुस्तक है मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता। यह राजकमल प्रकाशन दिल्ली से 2016 ई. में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक की भूमिका में मैनेजर पाण्डेय शैलेश जैदी की पुस्तक का सन्दर्भ देते हुए बताते हैं कि मुगल शहजादी और महिलाएं हिन्दी में कृष्ण भक्ति की कवितायें भी करती थीं।

फ्रांसिसी लेखिका ऐनी क्रेगर क्रनिकी ने मुगल बादशाह औरंगजेब की पुत्री जैबुन्निशा पर एक पुस्तक लिखी। पुस्तक का नाम है - द कैप्टिव प्रिंसेस। यह पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन से सन् 2005 ई. में प्रकाशित हुई है। इसमें ऐनी क्रेगर कहती हैं कि 'कट्टर धर्मांध मुगल बादशाह औरंगजेब जिसने मुगल दरबार से बाकायदा अर्थी निकलवाकर संगीत की विदाई करवा दी थी के रहते हुए भी मुगल हरम में मीरा के पद गाये जाते थे। हरम की महिलाओं ने मीरा के पदों को हरेक बन्धनों के बावजूद बचा कर रखा था।'[4] यह मुसलमान महिलाओं के कृष्ण प्रेम को दर्शाता है। कृष्ण भक्ति का ही यह प्रभाव था जिसने मुगल बादशाह औरंगजेब की शहजादी जैबुन्निशा को यह कहने को प्रेरित किया कि

''बुतपरस्ता नेम बा इस्लाम मारा कार नेस्त
गैर तारे जुल्फ मारा रिस्त-ए-जुनार नेस्त''[5]

अर्थात् 'अब मैं बुतपरस्त या मूर्तिपूजक हो गई हूँ। इस्लाम से अब मेरा कोई संबंध नहीं रह गया है। कृष्ण के घुंघराले बालों में उलझ कर मैं अल्लाह नाम का माला फेरना भी भूल गई हूँ।' सर्वज्ञात है कि औरंगजेब 'बुतशिकन' था। औरंगजेब ने मथुरा के कृष्ण जन्मभूमि स्थान केशवदेव मंदिर पर आक्रमण किया। श्रीकृष्ण जन्मस्थान मंदिर ध्वस्त किया। ऐतिहासिक प्रमाणिक साक्ष्य हैं कि औरंगजेब ने मथुरा के कृष्ण जन्मभूमि पर मस्जिद बनवाया। इसी बुतशिकन औरंगजेब की पुत्री कह रही है कि मैं मूर्तिपूजक हो गई हूँ, मुशरिक हो गई हूँ। जैबुन्निशा स्वयं को कहती है कि मैं बुतपरस्त हो गई हूँ। यह मुसलमानी सत्ता पर सनातन संस्कृति के विजय का साक्ष्य है।

'मुश्तरी बाई' लखनऊ की रहनेवाली थी। मुश्तरी बाई एक मुसलमान स्त्री थीं। वे तवायफ थी। 'नग्मये दिलकश' में इनकी बहुत-सी कवितायें संगृहीत हैं। गंगा प्रसाद विशारद ने अपनी पुस्तक हिन्दी के मुसलमान कवि में नगमा-ए-दिलकश संग्रह का उल्लेख किया है। विशारद जी के अनुसार मुश्तरी बाई का समय ज्ञात नहीं है। लेकिन डॉ सावित्री सिन्हा ने इनका रचनाकाल संवत् 1950 वि. के लगभग माना है। मुश्तरी बाई हिंदी और उर्दू की कवितायें लिखती थीं। मुश्तरी बाई ने होली, देश प्रेम, पति-भक्ति, स्त्रीआदर्श तथा कर्तव्य आदि

विषयों पर रचना की हैं –

''पिया छाय रहे मधुवन में
क्यों न आग लगे मेरे तन में
देवरा हमारे जुबना तकत हैं
कैसे फिरूँ आँगन में
'मुश्तरी' पिया से बस न चलत है
हुक उठत मोरे मन में।'' [6]

'सुंदरकली' का समय, स्थान सब अज्ञात है। इनके बारे में विशेष जानकारी नहीं है लेकिन इनका बनाया एक बारहमासा देखने को आया है।

''होरी खेले सब कोई अपने पी के संग
मेरो जी तरसै सखी सो किस पर डालौ रंगा।'' [7]

गंगा प्रसाद विशारद के अनुसार मुस्तरी और सुंदर कली ऐसी मुसलमान कवयित्रियाँ हैं जिनकी रचनाएँ तो मिली हैं किन्तु इनका समय अज्ञात है। सावित्री सिन्हा ने इन्हें रीतिकालीन मुसलमान कवयित्री माना है।

हिन्दी लेखक लाला भगवानदीन ने अपने सम्पादित ग्रन्थ 'आलमकेलि' में 'शेख रंगरेजिन' नामक एक मुसलमान महिला का उल्लेख किया है। ये रंगरेजन का काम करती थी। शेख रंगरेजन आलम के राग में थी। आलम के बारे में मतांतरण की काव्यश्रुति भी है। शेख की कवितायें समस्यापूर्ति में दक्ष हैं। शेख प्रेम की कवितायें लिखती हैं। ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल जी शेख और आलम का काल 1620 संवत् माना है। शेख ने कृष्ण भगवान, दुर्गा, शिव, गंगा, भगवती आदि के प्रति अपना भक्ति उद्‌गार प्रकट किया है। शेख का एक दीनता विषयक कवित्त है –

'मिटी गयो मौन पौन साधन की सुधि गई,
भूली जोग जुगती बिसव्यो तप वन को
'सेख' प्यारे मन को उजारो भयो प्रेम नेम
तिमिर अज्ञान गुन नास्यो बालपन को।' [8]

शेख धोबन थी। शेख वाकपटु थी। शेख समस्यापूर्ति में सिद्धत थी। ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल जी ने शेख की एक समस्यापूर्ति का उल्लेख किया है। ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल के अनुसार शेख की सबसे प्रसिद्ध समस्यापूर्ति आलम के दोहे का उत्तर था। आलम की समस्या है – कनक छरी–सी कामिनी काहे को कटि क्षीण, शेख की पूर्ति है – कटि को कांचन काटि विधि, कुचन मध्य धर दीन। यह उदाहरण शेख की वाकपटुता की अवधारणा को पुष्ट करने के लिए दिया गया है। शेख की वाकपटुता के ऐसे कई उदाहरण हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो ये समस्त मध्यकालीन मुसलमान कवयित्रियाँ कृष्ण भक्ति की ओर झुकाव लिए हुए हैं। इनमें से सुंदरकली, मुश्तरी, ताज और शेख को बहुत से साहित्य चिंतक रीतिकालीन मानते हैं तो कुछ इन्हें भक्तिकालीन भी मानते हैं। रूपवती बेगम को लेकर अधिकांश चिंतकों का मत है कि ये अकबरकालीन ही थीं यानी भक्तिकाल की थीं। इन कवयित्रियों में जन्मकाल, जन्मस्थान आदि को लेकर विवाद भले हो पर इनमें एक समानता है कि ये सभी मुसलमान हैं और इन्होंने कृष्ण–भक्ति में लीन रचनाएँ की हैं। हालांकि इन सभी के काव्य में कृष्ण–भक्ति के विविध रूप देखने को मिलते हैं किंतु ताज को छोड़कर अन्य कोई भी सीधे कृष्ण–भक्ति से संबद्ध नहीं रहीं। मध्यकाल के दायरे में इनके इन्हीं साम्य–वैषम्य को परखते हुए भारतीय सांस्कृतिक बोध के संदर्भ में इनका अध्ययन करना हमारा अभीष्ट है। जहाँ तक ताज का सवाल है तो ताज की जीवनी पर भले विवाद हो सकता है पर ताज की कृष्ण–भक्ति पूर्णतया निर्विवाद है। ताज बेगम के स्त्री या पुरुष होने पर चर्चा हो सकती है किंतु हिन्दू धर्म के प्रति उनका अनुराग संदेह से परे है। ताज के मुगल खानदान से ताल्लुकात पर प्रश्नचिन्ह हो सकता है पर हिन्दू संस्कृति के प्रति उनका लगाव स्वयंसिद्ध है। तो प्रश्न उठना लाजमी है कि कृष्ण–भक्ति, हिन्दू–धर्म और हिन्दू–संस्कृति से अगाध लगाव–जुड़ाव रखने वाली ताज, तुरकानी से हिन्दुवानी हो जाने की बात कहने वाली धर्मनिरपेक्ष कवयित्री ताज अब तक साहित्य अन्वेषकों की दृष्टि में वह सम्मान क्यों नहीं पा सकीं जिसकी वो अधिकारिणी थी? क्या वजह है कि ताज अब तक अकादमिक जगत की पाठ्यचर्चाओं से नदारद रहीं? क्या कारण है कि हिंदी जगत के शोधार्थियों ने भी ताज बेगम पर अनुसंधान को प्रश्रय नहीं दिया? कहने का आशय यह कि ताज बेगम समेत अन्य कृष्ण भक्त मुसलमान कवयित्रियों का व्यक्तित्व और कृतित्व कुछ उदाहरणों को छोड़कर हिंदी जगत में अमूमन उपेक्षित ही रहा है। फिर भी समाज ने इन्हें कभी नहीं भुलाया। पुष्टिमार्गीय मंदिरों में आज भी ताज के पद गाये जाते हैं, संत समाज में आज भी इनकी चर्चा प्रमुखता से की जाती है तथा वृंदावन, मथुरा, मांडू, लखनऊ, आगरा, करौली, भावनगर आदि के लोकमानस में आज भी इनके काव्य विद्यमान हैं। अत: ताज बेगम समेत समस्त कृष्ण–भक्त मुसलमान कवयित्रियों का व्यक्तित्व व कृतित्व एक शोधपरक विश्लेषण की मांग करता है। इसी

परिप्रेक्ष्य में कृष्ण-भक्त मुसलमान कवयित्रियों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समुदाय विशेष के बीच मत-मतांतर और उन्माद का वातावरण बनता जा रहा है। साम्प्रदायिकता ने भारत का बहुत बड़ा नुकसान किया है। जबकि हमें यह समझने की जरूरत है कि पांथिक मान्यताएं भिन्न होने के बावजूद भी समस्त भारतीयों का भावबोध एक ही है। अत: इन मध्यकालीन कृष्णभक्त मुसलमान मुसलमान कवयित्रियों का सम्यक पाठ सामाजिक-सांस्कृतिक समरसता को बढ़ावा देने वाला तथा भारतीयता को मजबूती प्रदान करने वाला साबित होगा। वर्तमान दौर में इसका महत्व असंदिग्द्ध और प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है। संप्रदाय विशेष के क्रियात्मक अलगाव को सांस्कृतिक समन्वय से पाटने वाली इन मुसलमान कवयित्रियों का अध्ययन एक उत्तम भारत की आधारशिला साबित होगी।

पीएचडी, हिन्दी साहित्य
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. वचनेश त्रिपाठी, भगवत भक्त मुस्लिम कवि और संत फकीर, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1916, पेज-15
2. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, 1956, पृष्ठ 256
3. गंगा प्रसाद विशारद, हिन्दी के मुसलमान कवि, दुर्गा प्रसाद खत्री लहरी प्रेस, काशी, 1926 ई., पृष्ठ 124
4. शैलेश जैदी, हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवि, यूनिवर्सिटी पब्लिशिंग हाउस, अलीगढ़, 1977 ई, पृष्ठ 180
5. जैबुन्निशा कृत फारसी पुस्तक दीवान-ए-मख्फी से उधृत
6. गंगा प्रसाद विशारद, हिन्दी के मुसलमान कवि, दुर्गा प्रसाद खत्री लहरी प्रेस, काशी, 1926 ई., पृष्ठ 306
7. वही, पृष्ठ 312
8. ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल, स्त्री कवि कौमुदी, गाँधी हिन्दी पुस्तक भंडार, प्रयाग, 1931 ई., पृष्ठ 40

DELMUL/2016/69323

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

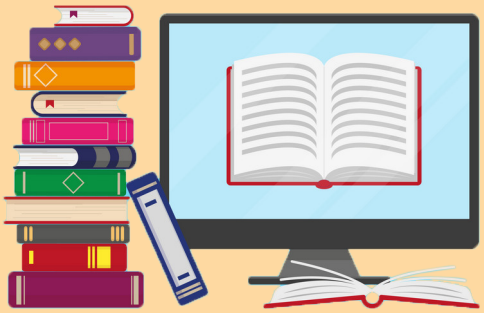

About Us

Arts & Commerce
Indology & Manuscripts
Law & Constitutions Medical
& Engineering Philosophy &
Spirituality Science & Social Sciences
Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar
Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards
Distribution Social Contribution
Typing Support Designing
Support Technical
Support Head
Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014 एक नज़र, सब पर

Branches

We recently
started our publication
branches
in five major cities of different
states of India i.e. Nazafgarh (Delhi),
Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) &
Udham Singh Nagar (Uttarakhand),
however, Head office
is situated
at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100,
Email : vaaksudhapublication@gmail.com, website : info@vaaksudhapublication.in